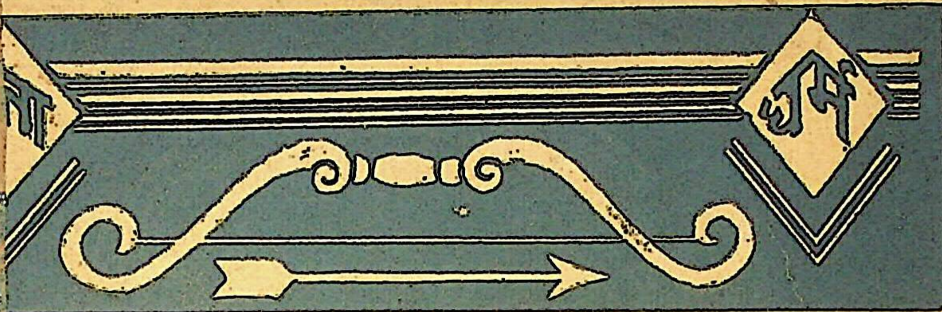


महाभारताङ्क

[विद्याविनोदिनी भाषाटीका सहित]

आदिपर्व





वर्ष १६ | जनवरी, फरवरी, १९५१. | अंक १-२





टीकाकार—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही
गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर
स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज

महाभारत

(विद्याविनोदिनी भाषा टीकासहित)

आदिपर्व

प्रथम भाग



मूल्य ६।)

सन् १९५१

आभार प्रदर्शन

श्री १०८ पूज्यचरण स्वामीजी महाराज के परमभक्त, ज्ञानवयोवृद्ध, बडोदानिवासी श्रीमान् मणिभाई जसभाई देसाई से गीताधर्मपाठक परिचित ही हैं। राज्यसेवा से मुक्त होने के बाद आपने अपने शरीर को धर्म और साहित्य की सेवा में अर्पित कर दिया है। स्वामीजी महाराज के समस्त प्रवचन—गीतागौरव, अध्यात्मरामायण, १२ उपनिषदों तथा सैकडों लेखों—का हिंदी से गुजराती में अनुवाद आपने गीताधर्म की सेवा के रूप में किया है। प्रभुकृपा और गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त होने से आपकी सपरिवार जीवन-यात्रा निष्काम कर्मयोगी के रूप में सानन्द चल रही है। अब जराजीर्ण अवस्था में पहुँचकर भी पूर्ववत् महाभारत का गुजराती अनुवाद करने का व्रत आपने स्वीकार किया है और प्रभुकृपा से अगले विशेषांक का अनुवाद समय से पूर्व ही पूरा करके काशी भेज दिया। प्रभु से प्रार्थना है कि इस महान् ग्रन्थ का भी अनुवाद आप से ही कराकर वे आपको यशस्वी बनावें।

एवं—काशीपुराधीश्वर भगवान् विश्वनाथ के पडोसी, धर्मशील न्याय-प्रेमी, सद्भक्त बाबू केशवप्रसाद एडवोकेट, फर्स्टक्लास आनरेरीमजिष्ट्रेट महोदय ने इस महाभारताङ्क की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर विशेषांक प्रकाशन में अमूल्य सहयोग दिया है। इसके लिये हम आपके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना करते हैं कि वे आपको आरोग्य, दीर्घायुष्य और शान्तिमय अभ्युदय प्रदान करें।

—प्रकाशक

मुद्रक, प्रकाशक—
स्वामी हरिहरानन्द मण्डलेश्वर
गीताधर्मप्रेस, मिश्रपोखरा, काशी.

प्राक्कथन

महाभारत इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीति, समाजनीति आदि अनेक विद्याओं का भाण्डार है। मानवमात्र का पूर्ण विश्वास है कि संसार में ऐसी कोई विद्या नहीं, जो महाभारत में न हो। महाभारत के वक्ता सौति ने पहले ही कहा है कि—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत में जो कुछ है, वही अन्यत्र पाया जायगा और जो महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं पाया जा सकता। वस्तुतः महाभारत प्राचीन भारत का 'विद्याकल्पद्रुम' है।

इस महाग्रन्थ-रत्न में जितने विषय हैं उन का विधि-पूर्वक स्वाध्याय करने पर कोई भी असाधारण विद्वान् बन सकता है। चारो वर्गों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का पूरा विवरण तथा युद्ध, सेनासंचालन, व्यूहरचना, शासन, सन्धि, समाजरक्षण का पूरा चित्रण एवं मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, भ्रातृ-भक्ति, सतीत्व, न्यायपरता, सत्यपरायणता, शूरता, वीरता आदि के उपयुक्त विवरण इसी में पाये जाते हैं। गन्धार, सिन्धु, हस्तिनापुर, पञ्चाल, वाराणसी, मगध, अङ्ग, मत्स्य, चेदि, द्वारका, विदर्भ, प्राग्ज्योतिषपुर, कलिङ्ग आदि का मार्मिक इतिहास भी विशद रूप में एक स्थान पर इसी में पाया जाता है।

यह बात प्रसिद्ध है कि पृथिवी की किसी भी जाति की किसी भी भाषा में इतना विशाल ग्रन्थ नहीं है। यह भी कहा जाता है कि इस में एक लाख दस हज़ार श्लोक हैं। चार चरणों का एक-एक श्लोक होता है और दो-दो चरण एक-एक पङ्क्ति में आते हैं। इस प्रकार दो लाख बीस हजार पङ्क्तियों में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। होमर के "इलियड" में १६०८० पङ्क्तियाँ हैं और वर्जिल के "इलियड" में दस हजार से भी कम पङ्क्तियाँ हैं। इस तरह संसार का ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं है, जिस से इस की तुलना की जा सके। फलतः महाभारत आर्यजाति का इन्साइक्लोपीडिया (विश्वकोष) है।

"चरण-व्यूह" (५. १) में कहा गया है कि—

"लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च।"

अर्थात् 'चारो वेदों के मन्त्र एक लाख और महाभारत के श्लोक भी एक लाख हैं।' सौति के मत से भी एक लाख श्लोक हैं—

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा॥

—आदिपर्व

इन दिनों जो महाभारत के ग्रन्थ छपे हैं, उन में प्रायः ९५८२६ श्लोक ही पाये जाते हैं। कहीं यह भी लिखा है कि महाभारत के अन्तर्गत जय नाम की संहिता में २४००० श्लोक हैं। मैकडानल का मत है कि महाभारत में ८८०० ही श्लोक हैं। इस के प्रमाण में—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा नवा॥

इस श्लोक को उद्धृत करते हैं। अवश्य ही इस श्लोक में यह संख्या दी हुई है; परन्तु यह केवल 'कूट' (बुझौअल) के श्लोक हैं, तात्पर्य यह है कि महाभारत के सभी पर्वों में साढ़े आठ हजार आठ सौ श्लोक कूट के हैं। इस लिए मैकडानल का कहना निराधार है।

यह भी हो सकता है कि एक लाख वा एक लाख दस हजार श्लोकों में महाभारत रहा हो और कुछ काल पश्चात् बहुत से श्लोक विनष्ट हो गये हों। आख्यानों और उपाख्यानों का विस्तार सौति ने बहुत किया है। इस के पहले जनमेजय के सर्प-यज्ञ में वैशम्पायन ने जो महाभारत पढ़ा था, उस में २४००० ही श्लोक थे, संभव है वही जय संहिता रही हो।

देश और विदेश में महाभारत के अनेक संस्करण हो चुके हैं, जिनमें यथेष्ट पाठान्तर हैं। कलकत्ता, बम्बई और पी० सी० राय के संस्करणों को एकत्र कर अनेक परिशिष्टों और टिप्पणियों के साथ संपादित करके जो सोरेन्सन ने महाभारत की श्लोकानुक्रमणिका निकाली है वह गवेषणा के काम के लिए अत्यन्त उपयोगी है, वह तेरह भागों में निकली है।

एम० एन० दत्त अथवा पी० सी० राय के (दस भागों में) महाभारत के अंग्रेजी अनुवाद हैं। दोनों में ही अनेक ज्ञातव्य विषय हैं। दोनों में पाठान्तर भी यथेष्ट हैं। जैकेवी ने जर्मन भाषा में महाभारत की श्लोकसूची और परिशिष्ट छापे हैं। आर० सी० दत्त ने जो महाभारत का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया है, उसकी भूमिका मैक्समूलर ने लिखी है। किन्तु अनुवाद की दृष्टि से सभी कुछ न कुछ अपना पक्षपात रखते हैं। फ्रेंच में स्ट्रासेन और अंग्रेजी में जानसन तथा म्योर ने भी महाभारत की समालोचना लिखी है। एम० वी० थडानी एम० ए० ने जो अंग्रेजी में महाभारत की आलोचना निकाली है, उस में दार्शनिक विषय ही अधिक हैं। महाभारत के अनेक पर्व भी अलग अलग छापे गये हैं, सब में टीका टिप्पणियाँ भी हैं। परन्तु महाभारत की सब से प्रसिद्ध और सब से प्रामाणिक टीका नीलकण्ठाचार्य की है।

इन सब संस्करणों और समीक्षाओं को देखने से विदित होता है कि महाभारत के कई रूप हैं। इसका आरम्भ कुछ लोग मनु के उपाख्यान से, कुछ महाराज उपरिचर के उपाख्यान से और कुछ आस्तीक-उपाख्यान से मानते हैं—

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

—म० भा० आदि० २-५२

बहुतों का मत है कि पहले पाराशर्य व्यास (कृष्ण द्वैपायन) ने इस ग्रन्थ की रचना की और नाम रखा "जय"। ग्रन्थारम्भ में ही लिखा है कि "ततो जयमुदीरयेत्।" स्वर्गारोहण पर्व में तो स्पष्ट ही लिखा है कि—"जयो नामेतिहासोऽयम्" अर्थात् इसका नाम 'जय' है और यह इतिहास का ग्रन्थ है। कहा गया है कि तीन वर्ष अहोरात्र परिश्रम करके व्यासजी ने इस ग्रन्थ को पूर्ण किया था।

इस के बाद व्यासजी ने अपने पुत्र शुकदेव और शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि और पैल को 'जय' पढ़ाया। इन सब ने अलग अलग भारत का प्रचार किया। वैशम्पायन ने जो अपने अधीत अंश का प्रचार किया, उस का नाम भारत पड़ा। यह भारत सम्पूर्ण उपलब्ध है। हाँ, इस के अश्वमेधपर्व का कर्ता जैमिनि को लिखा गया है, वैशम्पायन को नहीं। आश्वलायन ने इन पाँचों को

'भारताचार्य' लिखा है। इस से विदित होता है कि वैशम्पायन के समय 'जय' का नाम भारत था। वैशम्पायन के समय भारत में २४००० श्लोक थे। वैशम्पायन ने जनमेजय के 'सर्प-सत्र' में भारत का पाठ किया था।

भारत का तीसरा संस्करण सौति (सूत वा सूत-पुत्र) का माना जाता है। स्वयं सौति ने कहा है—

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥

अर्थात् वैशम्पायन ने इस मानव-लोक में सर्वप्रथम भारत का पाठ किया था। मैंने एक लाख श्लोकों में महाभारत का पाठ किया। परन्तु जैसा कि कहा गया है, इस समय महाभारत में प्रायः ९५८२६ श्लोक पाये जाते हैं। संभव है शेष लुप्त हो गये हों। सौति ने बहुत से आख्यान, अन्वाख्यान, उपाख्यान और व्याख्यान बढ़ा दिये। सौति ने प्रायः प्रत्येक अध्याय में कुछ वृद्धि कर दी। प्रधानतया भरतवंश का वर्णन रहने के कारण इस ग्रन्थ का नाम भारत पड़ा था; परन्तु सौति ने ग्रन्थ का अतीव विस्तार कर दिया; इस लिये इस का नाम महाभारत पड़ गया। आश्वलायन ने भारत और महाभारत, दोनों का उल्लेख किया है। सौति ने स्वयं लिखा है कि विशालता और भारीपन वा भरतवंश का विवरण रहने के कारण इस का नाम महाभारत पड़ा—

"महत्त्वाद्भारतत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥"

सौति ने प्रत्येक पर्व का पूरा विस्तार किया है। व्यास और वैशम्पायन के 'जय' और 'भारत' में सौ पर्व थे; परन्तु बहुत छोटे-छोटे। सौति ने सब को मिलाकर और परिवर्द्धन करके १८ पर्व बनाये हैं। यही कारण है कि सभापर्व के भीतर एक और सभापर्व और सौप्तिक पर्व के अन्दर एक और सौप्तिक पर्व पाया जाता है। आदि पर्व के द्वितीय अध्याय में इन सौ पर्वों के नाम आये हैं। सो, ये सौ पर्व व्यास की ही कृति हैं।

लोमहर्षण के पुत्र सौति ने नैमिषारण्य में १८ पर्वों में महाभारत पढ़ा था। सौति ने सौ पर्वों को १८ पर्वों के अन्तर्गत करके पढ़ा था। सौति का एक नाम उग्रश्रवा भी पाया जाता है। इन्हें 'पौराणिक' भी कहा गया है।

द्वादश वर्ष-व्यापी यज्ञ करनेवाले महर्षि शौनक के पास सौति गये थे। शौनक के पूछने पर सौति ने कहा था कि 'मैं जनमेजय के यज्ञ से आ रहा हूँ, जहाँ व्यासजी के बनाये और वैशम्पायन के द्वारा परिवर्द्धित किये भारत को मैंने सुना है। कुलपति शौनक ने जब पूछा कि 'तुम्हारे पिता तो समस्त पुराण पढ़े हुए थे। क्या तुम ने भी उनको पढ़ा है? यदि पढ़ा है तो भृगु-वंश का विवरण बताओ।' इस के अनन्तर सौति ने वर्णन करना आरम्भ किया।

इस तरह महाभारत के तीन रूपों के तीन महापुरुष कर्ता माने जाते हैं।

यह भी कहा जाता है कि यवनों (ग्रीकों), बौद्धों और जैनों (नग्न क्षपणकों) के सम्बन्ध के कितने ही श्लोक महाभारत में मिला दिये गये हैं।

लोकमान्य तिलक और शंकर बालकृष्ण दीक्षित आदि ने ज्योतिःशास्त्र के अनेक महाभारतीय प्रमाणों से महाभारत के युद्ध और 'भगवद्गीता' की रचना का काल ईसा से पूर्व ३१०० वर्ष माना है। 'गदापर्व' के 'सरस्वती-उपाख्यान' से विदित होता है कि सरस्वती के तटों पर कई तीर्थ थे और उन के ऊपर कितनी ही जातियाँ रहती थीं। भूगर्भशास्त्रियों के मत से सरस्वती को लुप्त हुए कम से कम २५००० वर्ष हुए। फलतः महाभारत के कुछ अंश पचीस हजार वर्ष से निर्मित हुए हैं। परन्तु सभी स्थल ऐसे नहीं हैं।

महाभारत के युद्ध के सम्बन्ध में ये तीन श्लोक तीन स्थानों में पाये जाते हैं—

"अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।"

—आदिपर्व

"प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च।"

—गदापर्व

"एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्त्तते।"

—वनपर्व

इन तीनों श्लोकों से विदित होता है कि द्वापर के अन्त में कलियुग में महाभारत युद्ध हुआ था। ज्योतिष के मत से कलियुग को लगे ५०५२ वर्ष हुए। प्रायः यही काल भारत की रचना का माना गया है। इस युद्ध के ३६ वर्ष पश्चात् युधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण किया था।

इस कुलसंहारकारी युद्ध में दोनों ओर की अठारह अक्षौहिणी सेनाओं में से कौरवों की तरफ के तीन और पाण्डवों की ओर के केवल सात मनुष्य बच पाये थे। कौरवों की ओर जो तीन पुरुष जीवित बचे, उन में से कोई भी न्याय और धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याधिकारी नहीं हो सकता था; इस लिए पाण्डवों को ही राज्य मिला। युद्धान्त में युधिष्ठिर के अनुरोध पर कुछ समय तक धृतराष्ट्र राजधानी में रहे थे। अनन्तर अपनी पत्नी गान्धारी और कुन्ती के साथ तपस्या करने के लिए वन में चले गये। अन्त को वहीं दावानल में भस्मीभूत हो गये।

कुरुवंश की इस आख्यायिका में महाभारत का चतुर्थांश परिपूर्ण हुआ है। अवशिष्टांश में देव, देवियां आदि की नानाविध पौराणिक कथाएँ, राजवंशावली, इतिहास, धर्मोपदेश, आख्यानोपाख्यान वर्णित हैं। ब्रह्महत्या के पाप से छूटने के लिए महाराज जनमेजय ने महाभारत का श्रवण किया था।

इस के बीच-बीच में अनेक स्थलों पर दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति-सभ्यता, इतिहास, कला, समाजव्यवस्था, राष्ट्रधर्म, सत्य, सदाचार, त्याग, तपस्या, परोपकार, देशसेवा, वीरता आदि भी वर्णित हैं।

राजसूय यज्ञ के समय नारदजी ने युधिष्ठिर से पूछा था—"आप का खजाना भरा-पूरा है कि नहीं? आप का मन धर्म में आनन्द लेता है कि नहीं? आप अपने और अपने शत्रु के बल का ध्यान रखते हैं कि नहीं? आप कृषि की वृद्धि, व्यापार की वृद्धि, किले बनाना, पुल बनाना, हाथियों का पकड़ना, रत्नों और धातुओं की खानों से कर लेना और निर्जन स्थानों को बसाना—इन आठ कामों में उत्साह रखते हैं कि नहीं? शत्रु, मित्र और उदासीन के साथ बर्त्ताव करना जानते हैं कि नहीं? नीतिवेत्ता मन्त्रियों के द्वारा देश को सुरक्षित रखते हैं कि नहीं? सहस्रों मूर्खों की अपेक्षा एक पण्डित को ग्रहण करते हैं कि नहीं? कठोर दण्ड देकर प्रजा को भीरु तो नहीं बनाते? सेना को नियमित वेतन देते हैं कि नहीं? आप भय-भीत और शरण में आनेवाले शत्रु के साथ पुत्र के समान बर्त्ताव करते हैं कि नहीं? आप का व्यय आप की आय से अधिक तो नहीं? आप के देश में सरोवर तो अनेक हैं? राज्य में कृषि-कार्य केवल वर्षा के आश्रित तो नहीं?" ये समस्त नियम किसी अत्यन्त उन्नत समाज की व्यवस्था में ही पाये जाते हैं। फलतः महाभारतकालीन समाज अत्यन्त सभ्य और सुसंस्कृत था।

वस्तुतः महाभारत रत्नों की खान है। महाभारत का ही एक अंश

भगवद्गीता है, जिस के उपदेशों पर संसार विमुग्ध है और जिस का ४०० लिपियों में मुद्रण हो चुका है। महाभारत में ऐसे कितने ही उपदेश भरे पड़े हैं। महाभारत की ही वस्तु शकुन्तला नाटक की कथा है, जिस पर विदेशी विद्वान् विस्मित हैं। महाभारत में ऐसे कितने ही उपाख्यान अन्तर्निहित हैं। महाभारत के इन्हीं गुणों के कारण संसार की प्रायः सभी प्रतिष्ठित भाषाओं में इस का अनुवाद हो चुका है और इन दिनों रूस में इस का अनुवाद हो रहा है। हमारे यहाँ शास्त्रों में महाभारत के अनेक आदर्श प्रमाण दिये हुए हैं।

भारत, अफ्रीका, यूरोप आदि में जैसे महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज गीता का प्रचार कर चुके हैं, वैसे ही अब महाभारत का भी करना चाहते हैं। इसी लिये आप नीलकण्ठी टीका के आधार पर महाभारत का सरल सुन्दर हिंदी तथा गुजराती अनुवाद करके उसका घर-घर में प्रचार करने का उद्योग कर रहे हैं। स्वामीजी महाराज के इस पावन उद्देश्य से मानवजाति का महाकल्याण होगा। मङ्गलात्मा परमात्मा स्वामीजी का मार्ग मङ्गलमय करें।

पुनश्च, ऊपर अब तक महाभारत की जिन जिन टीकाओं का विवरण दिया गया है, उन सब की अपेक्षा मैं इस स्वामीजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोदिनी टीका को श्रेष्ठ समझता हूँ। कारण कि अन्य देशी विदेशी टीकाओं में अपनी अपनी सभ्यता और मतों का पक्षपात किया गया है। किंतु जिस प्रकार पं० नीलकण्ठाचार्य ने पक्षपातरहित वास्तविक टीका की है, तदनुसार स्वामीजी ने भी उसी को अपना प्रधान अवलम्बनीय माना है। मैं पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस रचना को प्रधान मानकर "भारतं पञ्चमो वेदः" प्रमाण पर अपनी आस्था प्रकट करते हुए इस ग्रन्थरत्न को अपनावें।

केशवप्रसाद
बी. एस. सी, एल. एल. बी,
स्पेशल मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी,
उपाध्यक्ष काशी नगरपालिका।

---***---

विषयानुक्रमणी

आदिपर्व

अंशावतरण पर्व

संभव पर्व



संस्थापक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य लोकसंग्रही गीताव्यास, श्री १०८ जगद्गुरु
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज.



गीता धर्म

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

वर्ष १६ } जनवरी, फरवरी, १९५१ काशी. { अंक १-२

पाण्डवों की नाममहिमा

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥

महाराज युधिष्ठिर का नाम लेने से धर्म की वृद्धि होती है, भीमसेन का नाम लेने से पाप नष्ट होता है, अर्जुन का नाम लेने से शत्रु विनष्ट होते हैं और नकुल सहदेव का नाम लेने से रोग उत्पन्न नहीं होते हैं।

(पाण्डवगीता)

भारतसावित्री

मातापितृ—सहस्राणि पुत्रदार—शतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥
हर्षस्थान—सहस्राणि भयस्थान—शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

जीवात्मा संसार के बीच अपने अनेक जन्मों में हजारों माता पिता, सैकडों पुत्र और पत्नियों का अनुभव कर चुका है और आगे भी करेगा। संसार में हजारों हर्ष के अवसर आते हैं और सैकडों भय के अवसर आते हैं, मूढ पुरुष ही उन के वशीभूत होते हैं, विद्वान् उन से प्रभावित नहीं होते। मैं हाथ उठाकर और पुकार पुकारकर कहता हूँ, पर मेरी यह बात कोई नहीं सुनता कि धर्म के पालन से ही अर्थ और काम मिलते हैं. तो उस धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता? काम, भय या लोभ के वश होकर तथा प्राणसंकट पडने पर भी धर्म को कभी नहीं छोडना चाहिये, क्यों कि धर्म नित्य है; सुख दुःख अनित्य हैं, जीव नित्य है; उसका हेतु (अविद्या) अनित्य है।

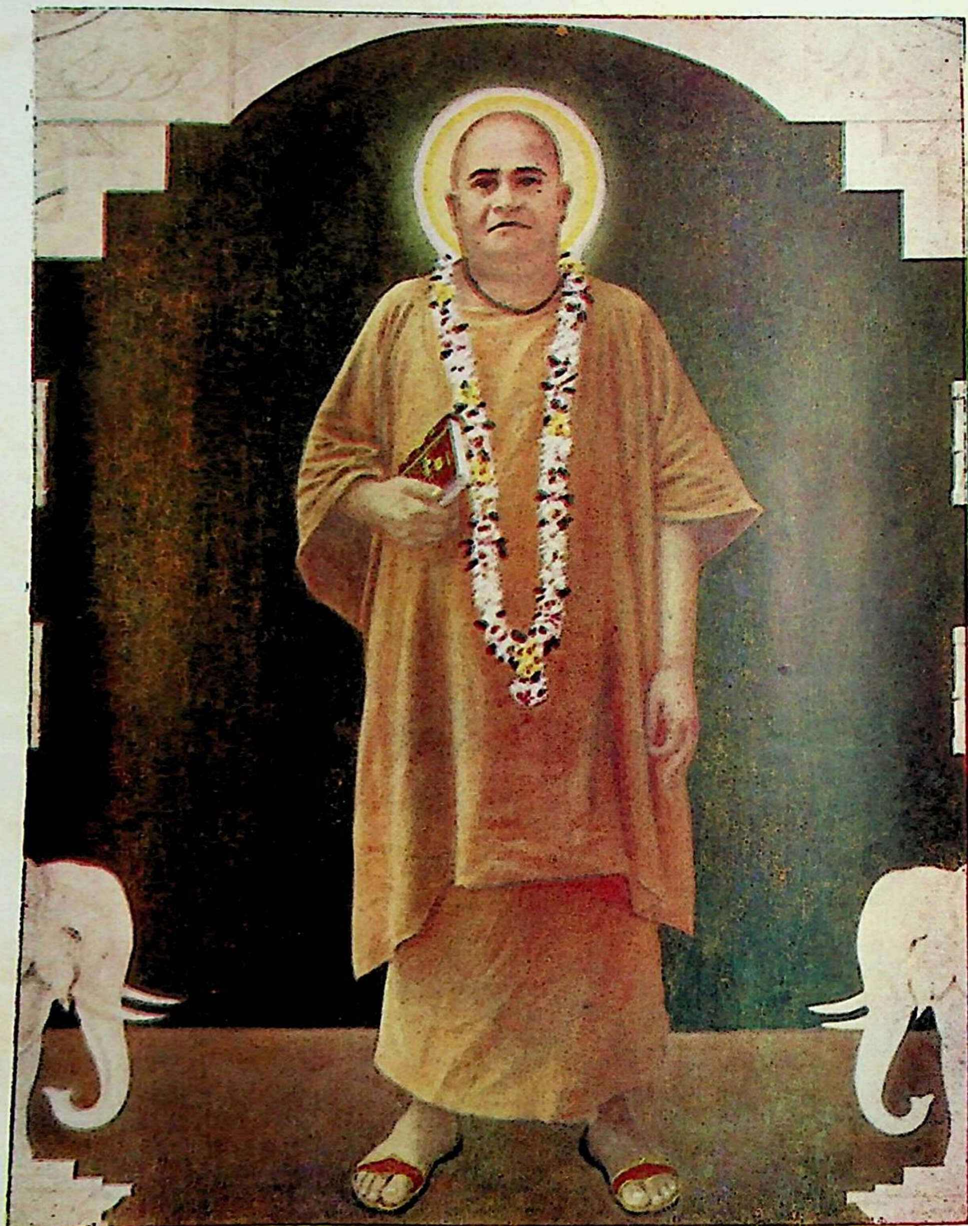
प्रातःकाल जो मनुष्य उठकर इस भारतसावित्री का पाठ करता है, वह पूरे महाभारत पठन का फल पाकर परमात्मा को प्राप्त होता है।

प्रधानसंपादक—स्वामी हरिहरानन्द मण्डलेश्वर

सहसंपादक—पं० चिरंजीवलाल शास्त्री, तीर्थ

,, श्री योगीन्द्र स्वामी, शास्त्री।

विद्या विनोदिनी भाषाटीकाकार विद्याविनोदिनी ભાષાટીકાકાર

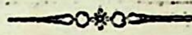


श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८
जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज
શ્રીમત્પરમહંસ પરિવ્રાજકાચાર્ય બ્રહ્મનિષ્ઠ લોકસંગ્રહી ગીતાવ્યાસ શ્રી ૧૦૮
જગદ્ગુરુ મહામણ્ડલેશ્વર સ્વામી શ્રી વિદ્યાનન્દજી મહારાજ.

❀ श्रीः ❀

श्रीमन्—

महाभारतम्



विद्याविनोदिनी भाषाटीकासमेतम्

आदि पर्व



प्रथम अध्याय

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

'ॐ नमः पूर्वजेभ्यो महद्भ्यः पथिकृद्भ्यः ।' 'नमः परम ऋषिभ्यः ॥'—(श्रुतिः)

मैं स्वामी विद्यानन्द धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों का मार्ग दिखानेवाले अपने पूर्वज महान् ऋषि महर्षियों को नमस्कार करके संसार में जय दिलानेवाले इस महाभारत ग्रन्थ की 'विद्याविनोदिनी' नामक भाषा टीका प्रारम्भ करता हूँ ।

भगवान् की ज्ञानशक्ति के अवतार पराशरपुत्र महर्षि श्री वेदव्यासजी ने मन्दमति जीवों के कल्याणार्थ चौदह विद्याओं में निहित गूढ़तम रहस्य को अति-सरल रूप में एक ही स्थल पर संकलित करने का विचार किया । इसके लिये वे लोककल्याणकारिणी परदुःखहारिणी अपनी साधु प्रकृति से प्रेरित होकर पञ्चम वेद के सदृश इस महाग्रन्थ का प्रारम्भ करने को उद्यत हुए और अपनी शिष्यपरम्परा की शिक्षा के लिये उन्होंने मङ्गलमय भगवान् श्री नारायण की वन्दना इस प्रकार की :—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमः पितामहाय । ॐ नमः प्रजापतिभ्यः । ॐ नमः कृष्णद्वैपायनाय । ॐ नमः सर्वविघ्नविनायकेभ्यः ॥

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये ।
शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १ ॥
सुखासीनानभ्यगच्छन्महर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

जीवकल्पित संसार की सत्ता के कारणस्वरूप भगवान् नारायण को, नरों में उत्तम नर (मायाविशिष्ट नरों में श्रेष्ठ शुद्धस्वरूप अर्थात् पुरुषोत्तम) को एवं परमतत्त्व-साक्षात्कारिणी भगवती सरस्वती को प्रणाम करके 'जय' नामक इस महाभारत इतिहास का कथन आरम्भ करे ।

महर्षि व्यासदेव इस विशाल ग्रन्थ के पूर्ण होने में अनेक विघ्नों की सम्भावना समझकर उनकी निवृत्ति के लिये अपने इष्टदेव भगवान् को द्वादशाक्षर मन्त्र से नमस्कार करते हैं—"हे वासुदेव भगवन् ! आपको नमस्कार है ।" जिसकी भक्ति अपने इष्टदेव में तथा गुरु में समान रूप से होती है, उसी को शास्त्र का अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है । इस नियम के अनुसार व्यासजी फिर कहते हैं—"ब्रह्माण्ड मात्र के गुरु ब्रह्मदेव और परमगुरु वसिष्ठ, मरीचि आदि प्रजापतियों का नमस्कार है ।" अनन्तर व्यासजी अपनेको ब्रह्मज्ञानी समझकर आत्मा परमात्मा का अभेद दिखाने के लिये अपने जीवात्मा को भी नमस्कार करते हैं :—"कृष्ण द्वैपायन नामक मेरे जीवात्मा को भी नमस्कार है ।" (यद्यपि महाभारत के कुछ संस्करणों में यह पाठ नहीं रखा गया, किंतु प्रसिद्ध व्याख्याकार नीलकण्ठ पण्डित ने इस पाठ को स्वीकृत कर इसकी व्याख्या की है । क्योंकि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष अपने जीवात्मा को नमस्कार करना अनुचित नहीं मानते, अतः महर्षि व्यासजी का स्वस्वरूप जीवात्मा को नमस्कार करना उचित ही है ।) इसके बाद "सब विघ्नों के विनाशक देवों को नमस्कार है" इस वाक्य से पूज्यों के नमस्कार-प्रकरण को समाप्त कर कथा प्रारम्भ करते हैं—

एक समय पुराणों के प्रकांड वक्ता लोमहर्षण सूतजी के पुत्र उग्रश्रवा नैमिषारण्य में कुलपति (आजकल इस अर्थवाले महानुभाव 'मण्डलेश्वर' शब्द से कहे जाते हैं),

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनाम् ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥
अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत् स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिपूजितः ॥ ४ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लौमहर्षणिः ॥ ५ ॥
सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित् प्रस्तावयन् कथाः ॥ ६ ॥
कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ॥ ७ ॥
एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग्यथावल्लौमहर्षणिः ।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ॥ ८ ॥

महर्षि शौनक के बारह वर्षीय यज्ञ में आनन्दपूर्वक बैठे हुए नैष्ठिक ब्रह्मचारी महर्षियों की सभा के बीच अत्यन्त विनम्र भाव से उपस्थित हुए ॥ १–२ ॥

नैमिषारण्यवासी समस्त मुनिवृन्द ने स्वेच्छा से समागत उग्रश्रवा से अद्भुत कथाएँ सुनने की उत्कण्ठा करके उनके चारों तरफ एकत्रित हो, उनका प्रेमपूर्वक सत्कार किया ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा ने भी हाथ जोड़कर सभी तपोवृद्ध ऋषियों का अभिवादन किया एवं उनके तप की वृद्धि तथा कुशल समाचार पूछा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सभी महर्षि अपने अपने आसनों पर विराजमान हो गये, पश्चात् सूतनन्दन भी मुनियों द्वारा बतलाये हुए आसन पर विनम्र भाव से बैठ गये ॥ ५ ॥

'अब इनकी थकावट दूर हो गई है और परम आनन्दपूर्वक बैठे हुए हैं' ऐसा देखकर किसी ऋषि ने कथाओं का प्रसङ्ग उठाते हुए उग्रश्रवा से पूछा ॥ ६ ॥

हे कमलनयन सौति ! आप कहाँ से आ रहे हैं और इतना समय आपने कहाँ पर व्यतीत किया है ? यह जानने की हमारी इच्छा है, कृपया यह आप कथन करिये ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रश्न करने पर शब्द प्रयोग में परमकुशल सूतनन्दन उग्रश्रवा

तस्मिन् सदसि विस्तीर्णे मुनीनां भावितात्मनाम् ।

सौतिरुवाच

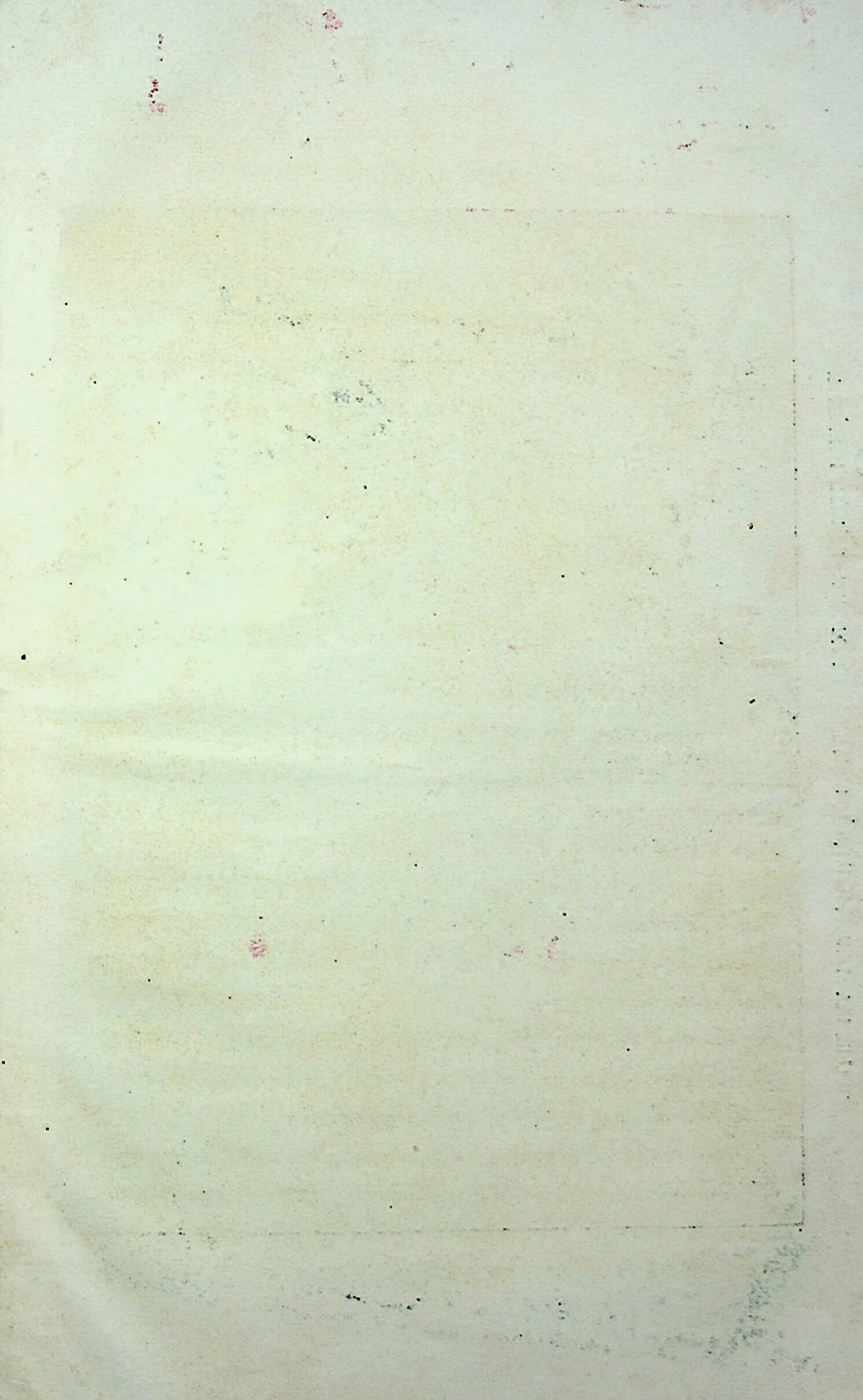
जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ॥ ९ ॥
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् पारीक्षितस्य च ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ॥१०॥
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै ।
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ॥११॥
बहूनि सम्परिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ।
समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥१२॥
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत् पुरा ।
कुरूणां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥१३॥
दिदृक्षुरागतस्तस्मात् समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्व एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ॥१४॥

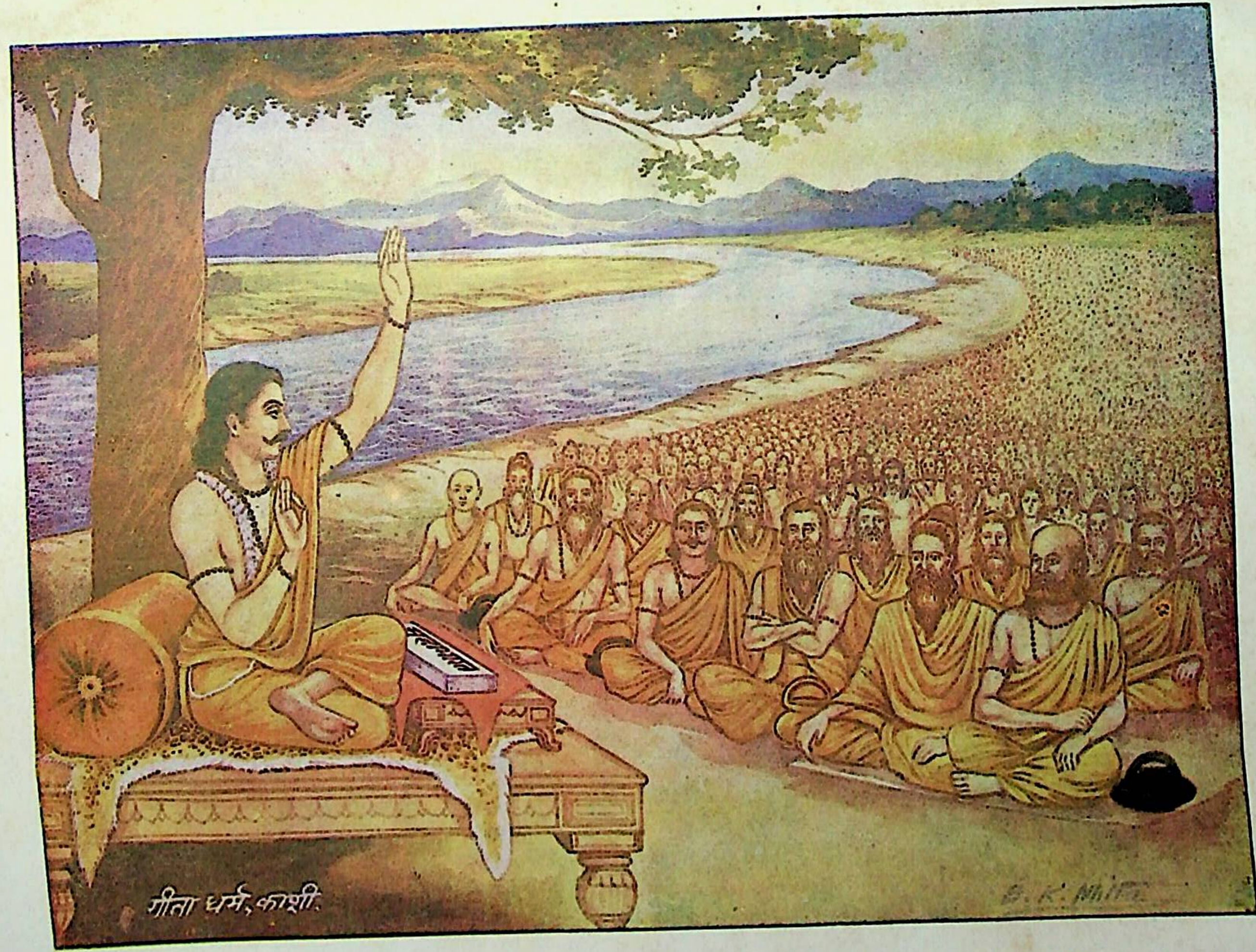
ऋषियों की उस विशाल सभा में विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियों एवं राजाओं के चरित्रों से व्याप्त सुललित कथा कहने को उद्यत हो गये ॥ ८ ॥

सूतनन्दन बोले—हे महर्षियो ! महाराज परीक्षित् के पुत्र, चक्रवर्ती सम्राट् राजर्षि जनमेजय के सर्पयज्ञ में श्री वैशम्पायन के द्वारा विधिपूर्वक महर्षि कृष्ण-द्वैपायनरचित्त महाभारत की परमपुण्यदायिनी, नाना प्रकार के अर्थवाली कथाओं को सुनकर—॥ ९–११ ॥

मैं अनेक बड़े बड़े तीर्थों एवं देवमन्दिरों में भ्रमण करता हुआ ब्राह्मणों से सेवित उस समन्तपञ्चक नामक पवित्र तीर्थ में गया, जहाँ पूर्व काल में कौरवों, पाण्डवों तथा अन्य सभी राजाओं का भयंकर संग्राम हुआ था ॥ १२–१३ ॥

वहाँ से आप सब के दर्शनों की लालसा से मैं यहाँ आया हूँ। मैं आप सभी को दीर्घायु और ब्रह्मरूप मानता हूँ। महाभाग्यशाली, सूर्य एवं अग्नि के सदृश परमतेजस्वी, स्नान आदि करने से परम पवित्र, जप एवं हवनक्रियाओं से निवृत्त, अपने अपने आसनों पर विराजमान हे ब्राह्मणो ! मैं आपको क्या सुनाऊँ ? पुण्य-





उग्रश्रवासूतद्वारा महाभारत-कथा प्रारम्भ । ઉગ્રશ્રવાસૂતદ્વારા મહાભારત-કથા આરમ્ભ.

अस्मिन् यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ।
कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्या हुताग्नयः ।
भवन्त आसने स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥१५॥
पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः ।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणाञ्च महात्मनाम् ॥१६॥

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥१७॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥१८॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥१९॥
जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशम्पायन उक्तवान् ।
यथावत्स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥२०॥
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम् ॥२१॥

कारिणी पुराणसंहिताएँ, किंवा धर्म और अर्थ से युक्त कथाएँ, अथवा श्रेष्ठ राजाओं एवं ऋषियों के इतिहास ?॥ १४–१६ ॥

ऋषि बोले—परमऋषि श्री वेदव्यास ने जिस पुराण को कहा है, देवताओं एवं महर्षियों ने जिसको सुनकर अपने अपने लोकों में प्रशंसा की है, आख्यानों से सर्वश्रेष्ठ, अद्भुत अद्भुत पदोंवाले पर्वों से युक्त, गहन अर्थ से पूरित, न्याययुक्त और वेद के अर्थों से शोभायमान ऐसा महाभारत इतिहास है ॥ १७-१८ ॥

उसकी पुण्यदायिनी, ग्रन्थ के अर्थ के अनुसार पदादि व्युत्पत्तिवाली एवं नाना प्रकार के शास्त्रों के विषय प्रतिपादन से गौरवमयी जिस संहिता को महर्षि कृष्णद्वैपायन की आज्ञा से प्रसन्न होकर श्री वैशम्पायनजी ने महाराज जनमेजय के सर्पयज्ञ में विस्तारपूर्वक सुनाया था, उस पुण्यशालिनी, पाप एवं भयनाशिनी तथा चारों वेदों

सौतिरुवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥२२॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥२३॥
माङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥२४॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ॥२५॥
आचख्युः कवयः केचित् संप्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्य इतिहासमिमं भुवि ॥२६॥

के विषयों से परिपूर्ण, श्री वेदव्यासजी द्वारा विरचित संहिता को हम लोग सुनना चाहते हैं ॥ १९-२१ ॥

सूतनन्दन बोले—जो आदि पुरुष महेश्वर है, एवं बड़े बड़े होता जिसकी पूजा और सामगानकर्ता स्तुति करते हैं, जो चरमसत्य है, एक है एवं क्षरणरहित है अतः ब्रह्म है, जो व्यक्त (सूत्रात्मा), अव्यक्त (ईश) एवं सनातन है ॥ २२ ॥

जो कार्य एवं कारणरूप है तथा विश्वरूप है और सूत्रात्मा तथा परमात्मा से भी परे है, जो ब्रह्मादि स्थावरान्त समस्त सृष्टि का रचयिता है एवं पुराणमूर्ति है अतः अविनाशी है,—॥ २३ ॥

जो मङ्गलमय है, स्वयं मङ्गलस्वरूप है, अतः विष्णु है, आदर के योग्य है, पापरहित है एवं पवित्र है, जो इन्द्रियों का स्वामी है एवं स्थावर जङ्गम समस्त विश्व को ज्ञान देनेवाला है, ऐसे भगवान् श्री हरि को नमस्कार करके—॥ २४ ॥

सम्पूर्ण लोकों द्वारा पूजित, अद्भुत कर्मवाले महात्मा महर्षि वेदव्यासजी के रचे हुए परमपुण्यदायक महाभारत इतिहास को मैं आपको सुनाता हूँ ॥ २५ ॥

इस इतिहास को पूर्वकाल के कितने ही कवियों ने कहा है, एवं वर्तमानकाल में अनेक कवि सुना रहे हैं तथा भविष्य में भी कितने ही कवि इसका वर्णन संसार में करेंगे ॥ २६ ॥

इदन्तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः ॥२७॥
अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥२८॥
निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसा वृते ।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम् ॥२९॥
युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते ।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥
अद्भुतं चाप्यचिन्त्यञ्च सर्वत्र समतां गतम् ।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत् सदसदात्मकम् ॥३१॥
यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥३२॥

यह परमज्ञानस्वरूप महाभारत त्रिलोकी में परम आदर को प्राप्त है एवं ब्राह्मणादि द्विजाति संक्षेप एवं विस्तार से अध्ययन कर इसको अपने हृदय में धारण करते हैं ॥ २७ ॥

यह सुन्दर शब्दों से शोभायमान है तथा देवता और मनुष्यों के वर्णन से अलंकृत है, विविध प्रकार के छन्दों एवं वृत्तों से युक्त है एवं विद्वानों को अत्यन्त प्रिय है ॥ २८ ॥

जिस काल में इस जगत् में न तो रूपादि आकार थे और न प्रकाश था, अर्थात् सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त था, उस समय प्रजाओं का अविनाशी बीजरूप एक बहुत बड़ा अण्ड प्रकट हुआ था ॥ २९ ॥

ब्रह्मकल्प के आदि में जिस को चतुर्विध प्रजा का महत् एवं दिव्य कारण कहते हैं, जिस में सत्यरूप, तेजःस्वरूप एव सनातन ब्रह्म सूक्ष्म रूप से निवास करता है, ऐसा श्रुतियाँ वर्णन करती हैं—॥ ३० ॥

जिसमें वह ब्रह्म अद्भुत, अचिन्त्य एवं सर्वत्र समानरूपता को प्राप्त तथा अव्यक्त, सूक्ष्म, कारणरूप एवं अनिर्वचनीय है ॥ ३१ ॥

इस अण्ड से सर्वप्रथम शरीरी पितामह, जगत् के स्वामी, प्रजापति देव-

प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त वै।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥३३॥
पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्वे ऋषयो विदुः।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥३४॥
यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥३५॥
राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥३६॥
संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात्।
यच्चान्यदपि तत्सर्वं संभूतं लोकसाक्षिकम् ॥३७॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥३८॥

गुरु ब्रह्माजी एवं विष्णु, शिव; ये परमश्रेष्ठ देवता, मनु, दस प्रचेता तथा दक्ष और दक्ष के सात पुत्र उत्पन्न हुए। तदनन्तर इक्कीस प्रजापति उत्पन्न हुए॥ ३२–३३॥

जिसको समस्त मुनिवृन्द जानता है, ऐसे अप्रमेयात्मा विष्णुरूप पुरुष के अंश विश्वेदेव, आदित्य, वसुगण और दोनों अश्विनीकुमार हुए॥ ३४॥

रुद्र के अंश से यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक एवं पितर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उस ब्रह्माण्ड से परमज्ञानी, उदार चरित्रवाले सर्वोत्तम ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए॥ ३५॥

फिर समस्त शौर्यादि गुणों से युक्त बहुत से राजर्षि उत्पन्न हुए तथा जल, आकाश, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ,—॥ ३६॥

संवत्सर, ऋतुएँ, मास, पक्ष, क्रमपूर्वक दिन रात्रि, इसके सिवा जो कुछ भी दिखलाई देता है और सुना जाता है—वह सब कुछ उसी ब्रह्माण्ड से उत्पन्न हुआ है॥ ३७॥

जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु के फल उस ऋतु के प्रारम्भ में उत्पन होते हैं और अवसान में समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार दृश्यमान यह समस्त चर अचर जगत्

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥३९॥
एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम् ।
अनादिनिधनं लोके चक्रं सम्परिवर्तते ॥४०॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥४१॥
दिवः पुत्रो बृहद् भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः ।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥४२॥
पुत्रा विवस्वतः सर्वे मनुस्तेषां तथावरः ।
देवभ्राट् तनयस्तस्य सुभ्राडिति ततः स्मृतः ॥४३॥
सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ॥४४॥

कल्पान्त में अपने कारण में विलीन हो जाता है और युगारम्भ में पुनः प्रादुर्भूत होता है ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार समस्त विश्व का संहार करनेवाला, अर्थात् अनन्त कल्पों के उदय और लयवाला यह कालचक्र जगत् में निरन्तर घूमता रहता है, इसका अवसान केवल परमात्मा के ज्ञान में होता है ॥ ४० ॥

संक्षेप में देवताओं की सृष्टि तेतीस हजार, तेतीस सौ, तेतीस है। (मुख्य देवता तेंतीस ही हैं, शेष सब उनकी विभूति हैं) ॥ ४१ ॥

दिव् (मायाशक्ति में प्रकाशमान सूत्रात्मा) के बृहत्, भानु, चक्षु, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह और रवि ये सब पुत्र (एकादश इन्द्रियों के देवता) उत्पन्न हुए ॥ ४२ ॥

उस प्रकाशमान तेजःस्वरूप की संतानों में मनु (महत्तत्त्व) सर्वश्रेष्ठ था, उससे देवभ्राट् (अहंतत्त्व) उत्पन्न हुआ, एवं उससे सुभ्राट् (संकल्प विकल्पात्मक सर्वसमष्टि मन) उत्पन्न हुआ ॥ ४३ ॥

सुभ्राट् के अन्यन्त विस्तारवाले, सुप्रसिद्ध दशज्योति (अग्नि), शतज्योति (चन्द्रमा) एवं सहस्रज्योति (सूर्य) नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४४ ॥

दश पुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥४५॥
भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥४६॥
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणाञ्च सर्वशः ।
संभूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ॥४७॥
भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधञ्च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥४८॥
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानञ्च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥४९॥

अत्यन्त विस्तारवाले दशज्योति के दस हजार पुत्र हुए और शतज्योति के एक लाख पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४५ ॥

तथा सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए। (अर्थात् इन अग्नि, चन्द्र सूर्य से ग्रह, नक्षत्र, दिन रात्रि, घड़ी पल और किरण आदि रूप में प्राणियों के जीवांशों का विस्तार हुआ।) इन सबोंसे (मन, भूत, इन्द्रियादि की समष्टि से ब्राह्मण क्षत्रियादि समस्त प्रजा अर्थात्) ये कुरुवंश, भरतवंश,—॥ ४६ ॥

ययातिवंश, इक्ष्वाकुवंश आदि के राजा और ऋषियों के अगणित वंश उत्पन्न हुए, एवं अन्य प्राणियों की भी अत्यन्त विस्तारवाली वंशपरम्परा उत्पन्न हुई ॥ ४७ ॥ ❀

सम्पूर्ण प्राणियों के निवासस्थान—दुर्ग, नगर, ग्राम आदि तथा पवित्र स्थल तीर्थ क्षेत्रादि, धर्म, अर्थ, काम इन तीनों के रहस्य, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड के सहित स्मार्तधर्म और लोकप्रसिद्ध अर्थ और काम,—॥ ४८ ॥

धर्म-अर्थ-कामप्रतिपादक मीमांसा आदि नाना प्रकार के शास्त्र तथा जीविकोपार्जन के निमित्तभूत आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि की रचना; अर्थात् यह सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। ऐसा श्री भगवान् वेदव्यास ने अपने योगबल से अवलोकन किया ॥ ४९ ॥

❀ वंशपरंपरा बतानेवाले इन श्लोकों के अर्थ में टीकाकारों का मतभेद है। यहाँ 'नीलकण्ठी' के एक आशय के अनुसार संक्षेप में भावार्थ लिखा गया है।

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥५०॥
विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥५१॥
मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे ।
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥५२॥
विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः ।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारयितुं परे ॥५३॥
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥५४॥

उन्होंने इतिहासों तथा व्याख्यायुक्त नाना प्रकार की श्रुतियों के भी इन सम्पूर्ण विषयों का क्रमपूर्वक इस महाभारत ग्रन्थ में वर्णन किया है और यह सब ही इस ग्रन्थ का विषय है ॥ ५० ॥

इस महान् ज्ञान को महर्षि वेदव्यास ने संक्षेप एवं विस्तार, दोनों प्रकार से कहा है, क्योंकि संसार में विद्वान् पुरुष ग्रन्थ को संक्षेप एवं विस्तार दोनों प्रकार से पढ़ना पसंद करते हैं ॥ ५१ ॥

कितने ही ब्राह्मण इस महाभारत को 'नारायणं नमस्कृत्य' यहाँ से प्रारम्भ करके पढ़ते हैं, कितने ही इसका 'आस्तीकचरित' से प्रारम्भ मानते हैं और कितने ही ब्राह्मण 'उपरिचर (वसु)' की कथा से प्रारम्भ मानकर पढ़ते हैं ॥ ५२ ॥

ज्ञानी लोग इस महाभारत के अनन्त ज्ञान को दो प्रकार से प्रकाशित करते हैं—कितने ही लोग व्याख्या करने में कुशल होने के कारण व्याख्या के द्वारा प्रकाशित करते हैं तो कितने ही ग्रन्थों को धारण करने की शक्ति रखने के कारण प्रवचन द्वारा उस ज्ञान को प्रकाशित करते हैं ॥ ५३ ॥

सत्यवतीनन्दन श्री वेदव्यासजी ने अपनी तपस्या एवं ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सनातन वेद को विस्तृत करके, परम पुण्यदायक इस महाभारत इतिहास की रचना की है ॥ ५४ ॥

पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ॥५५॥
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत्।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ॥५६॥
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम्।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ॥५७॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ॥५८॥
हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ॥५९॥
अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
निषसादासनाभ्याशे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ॥६०॥

इस महाभारत की लोककल्याणकारिणी रचना के उपरान्त, प्रशंसनीय व्रतधारी, पराशरपुत्र, ब्रह्मर्षि भगवान् वेदव्यास चिन्ता करने लगे कि मैं इस ग्रन्थ को किस प्रकार अपने शिष्यों को पढ़ाऊँ? महर्षि कृष्णद्वैपायन की इस मानसिक चिन्ता को जानकर महर्षि के अन्तःकरण को आनन्दित करने के लिये तथा सांसारिक जीवों की हितकामना के लिये समस्त चराचर विश्व के स्वामी भगवान् ब्रह्माजी स्वयं व्यासजी के आश्रम में पधारे ॥ ५५-५६-५७ ॥

आश्रम में समागत ब्रह्माजी को देखकर आश्चर्यचकित होते हुए वेदव्यासजी ने समस्त मुनिवृन्द के सहित खड़े हो हाथ जोड़कर श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया एवं सुन्दर आसन उनके लिये बिछा दिया ॥ ५८ ॥

उस भव्य आसन पर ब्रह्माजी के विराजमान होने पर वेदव्यासजी उनकी प्रदक्षिणा करके समीप में आकर खड़े हो गये ॥ ५९ ॥

सर्वदा स्वल्पहास्ययुक्त मुखवाले वेदव्यासजी ब्रह्माजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके प्रसन्न हो समीप में बिछे हुए आसन पर आसीन हो गये ॥ ६० ॥

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥६१॥
ब्रह्मन्वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
साङ्गोपनिषदाञ्चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥६२॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितञ्च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥६३॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणाञ्च लक्षणम् ॥६४॥
चातुर्वर्ण्यविधानञ्च पुराणानाञ्च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥६५॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणञ्च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥६६॥

परमतेजस्वी वेदव्यासजी ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि हे भगवन् ! मैंने देवलोक तथा मृत्युलोक से परमपूजित इस महाभारत काव्य की रचना की है ॥ ६१ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैंने इस ग्रन्थ में वेदों के गूढ़तम रहस्य, अर्थात् अङ्गों सहित ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्डरूपी वेदों के विस्तारपूर्वक सारभूत विषय का तथा अन्यत्र मेरे द्वारा कहे गये अतिगहन तत्त्व का,—॥ ६२ ॥

इतिहास एवं पुराणों के विस्तारपूर्वक विषय का और भूतकाल, भविष्यकाल तथा वर्तमानकाल इन तीनों प्रकार के कालों की संज्ञाओं का भी वर्णन किया है ॥ ६३ ॥

इनके अतिरिक्त जरा, मरण, भय, व्याधि, सत्ता एवं असत्ता—इन सभी का पूर्ण निश्चय तथा नाना प्रकार के धर्मों तथा आश्रमों के लक्षण भी संकलित किये हैं ॥ ६४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों वर्णों के धर्मों का, समस्त पुराणों के साररूप विषय का, तपस्या, ब्रह्मचर्य, पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तारे तथा सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन सभी के प्रमाणों का और ऋग्वेद, यजुर्वेद,

न्यायशिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥६७॥
तीर्थानाञ्चैव पुण्यानां देशानाञ्चैव कीर्तनम्।
नदीनां पर्वतानाञ्च वनानां सागरस्य च ॥६८॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम्।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥६९॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम्।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥७०॥

ब्रह्मोवाच

तपोविशिष्टादपि वै विशिष्टात् मुनिसञ्चयात्।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ॥७१॥

सामवेद तथा अध्यात्मशास्त्र—इन सभी के विषयों का मैंने इस ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन किया है ॥ ६५–६६ ॥

न्यायविद्या, आयुर्वेद, दान, अन्तर्यामी का माहात्म्य तथा देवता और मनुष्यों के जन्म, तीर्थस्थलों एवं पुण्यक्षेत्रों के वर्णन, नदियों, पर्वतों, वनों तथा समुद्रों के नामों सहित पूर्ण वर्णन इस ग्रन्थ में किये गये हैं ॥ ६७–६८ ॥

दिव्य नगरों तथा दुर्गों के रचनाचातुर्य का, सेना के व्यूहों की विविध शैलियों का तथा योद्धाओं की आश्चर्यकारिणी युद्धप्रवीणता का, पृथक् पृथक् भाषाओं एवं जातियों की स्तुति निन्दा आदि अनेक विषयों का और आदर्श राज्यतन्त्र के निर्माणार्थ अलौकिक नीतिशास्त्र का, इसके अतिरिक्त जितनी भी सर्वोपयोगी वस्तु हो सकती हैं, उन सब का भी मैंने इस ग्रन्थ में पूर्ण वर्णन किया है। परन्तु मुझे आज तक इस महाकाव्य को लिपिबद्ध करनेवाला कोई भी सुयोग्य लेखक इस अखिल भूमण्डल पर दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है ॥ ६९–७० ॥

लोकगुरु ब्रह्माजी बोले—हे पराशरात्मज ! आप श्रेष्ठ तपश्चर्या तथा उच्च कुलीनता से युक्त और गूढ़तम ज्ञान के रहस्यज्ञाता हैं। इस कारण समस्त मुनिवृन्द के बीच आपको मैं सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ ॥ ७१ ॥

जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम् ।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति ॥७२॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥७३॥
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।

सौतिरुवाच

एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ॥७४॥
ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्तचिन्तितपूरकः ॥७५॥
तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः ।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदानघ ॥७६॥
लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥७७॥

मैं जन्म से ही वेदवादिनी आपकी सत्य वाणी को भली प्रकार से जानता हूँ। आपने, अपने इस ग्रन्थ का 'काव्य' नाम उच्चारण किया है, अतः यह समस्त विश्व में 'काव्य' नाम से ही प्रसिद्ध होगा ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ एवं संन्यास ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम की विशेषताओं के कारण उससे आगे नहीं बढ़ सकते, उसी प्रकार इस महाकाव्य की सर्वाङ्गीण विशेषताओं के सन्मुख किसी भी कवि का कोई काव्य महत्ता में इससे अधिक न बढ़ सकेगा ॥ ७३ ॥

अतः हे मुनिवर ! आप अपने इस महाकाव्य के लेखन के लिये मङ्गलमूर्ति श्री गणपतिजी का स्मरण कीजिये।

श्री उग्रश्रवा बोले—हे मुनिवृन्द ! ब्रह्माजी इस प्रकार वेदव्यासजी को आज्ञा प्रदान कर ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ७४ ॥

ब्रह्माजी के जाने के उपरान्त सत्यवतीसुत वेदव्यासजी ने एकाग्र चित्त से श्री गणपतिजी का स्मरण किया। भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले तथा समागत विघ्नों का [विनाश करनेवाले, मङ्गलमूर्ति श्री गणपतिजी व्यासजी के

श्रुत्वैतत् प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम् ।
लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम् ॥७८॥
व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुद्ध्वा मा लिख क्वचित् ।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः ॥७९॥
ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम् ॥८०॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥८१॥
तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने ।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ॥८२॥

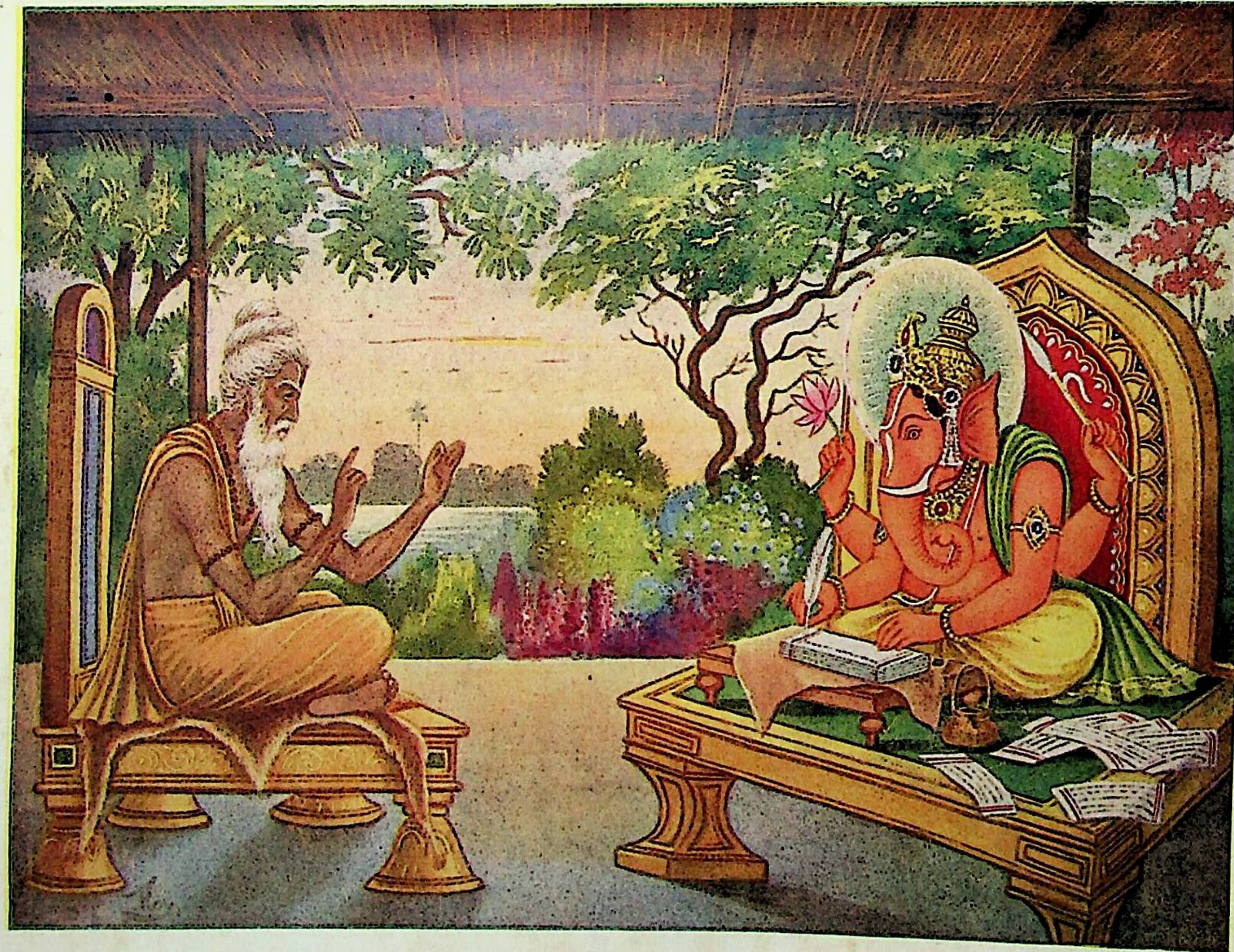
स्मरण मात्र से वहाँ स्वयं ही पधारे। व्यासजी ने श्रद्धाभक्तिपूर्वक गणेशजी का पूजन किया एवं सुन्दर भव्य आसन पर विराजमान करके अति विनम्र भाव से प्रार्थना की—हे निष्पाप गणपतिजी ! अपने मन में रचित जिस महाभारत काव्य को मैं आपको सुनाता जाऊँ, उस काव्य के आप इस समय लेखक बनने की कृपा करें ॥ ७५–७७ ॥

व्यासजी की हार्दिक अभिलाषा को सुनकर श्री गणपतिजी बोले—यदि ग्रन्थरचना काल में मेरी लेखनी को एक क्षण का भी विश्राम न मिले तो मैं इस महाकाव्य का लेखक बनने को तैयार हूँ ॥ ७८ ॥

पराशरनन्दन व्यासजी बोले कि आप भी बिना अर्थ का ज्ञान हुए कदापि न लिखें। श्री गणपतिजी व्यासजी की इस बात को स्वीकार कर महाभारत के लेखक बन गये ॥ ७९ ॥

तदनन्तर वेदव्यासजी कुतूहल से ग्रन्थ में अतिगहन दुर्ज्ञेय स्थलों की रचना करने लगे। जिसमें प्रतिज्ञा करते हुए व्यासजी ने यह कहा था कि इस महाभारत के आठ हजार आठ सौ श्लोक तो इतने अधिक गूढ़ अर्थवाले हैं कि उनका अर्थ या तो मैं जानता हूँ या शुकदेव जानते हैं; संजय जानते हैं या नहीं, यह संदेहास्पद है ॥ ८०–८१ ॥

हे मुने ! उन कूट श्लोकों का अर्थ इतना गूढ़ है कि पढ़ने पर कुछ और मालूम पड़ता है और वास्तव में कुछ और ही है। यह श्लोकों की रचना आज भी इतनी



महाभारत के रचयिता और लेखक–(व्यासजी तथा गणेशजी) મહાભારતના રચયિતા અને લેખક–(વ્યાસજી તથા ગણેશજી)

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि ॥८३॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥८४॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥८५॥
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता ।
नृबुद्धिकैरवाणाञ्च कृतमेतत् प्रकाशनम् ॥८६॥
इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ॥८७॥

क्लिष्ट है कि इसका अर्थ बड़े बड़े विद्वान् शब्दप्रमाण का आश्रय लेने पर भी सुस्पष्ट-रूप से नहीं कर सकते हैं ॥ ८२ ॥

यद्यपि श्री गणपतिजी सर्वज्ञ थे, फिर भी उन श्लोकों को लिखते समय उनको भी क्षणभर के लिये अर्थ स्पष्टीकरण के लिये रुकना पड़ता था। उतने ही काल में व्यासजी अन्य बहुत से नवीन श्लोकों की रचना कर लेते थे ॥ ८३ ॥

अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे अर्थात् अज्ञान में चारों तरफ भटकते हुए जीवों को दृष्टि (ज्ञान) प्रदान करने के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का जिसमें सङ्क्षेप तथा विस्तार से वर्णन किया गया है, ऐसी ज्ञानरूपी अञ्जनशलाका एवं महाभारतरूपी सूर्य से जीवों का समूल अन्धकार (अज्ञान) नष्ट हो गया है ॥ ८४-८५ ॥

जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्र अपनी आह्लादकारिणी शीतल किरणों से कुमुदिनियों को विकसित कर देता है, उसी प्रकार महाभारतरूपी पूर्ण चन्द्रमा श्रुतिरूपी अपनी प्रकाशमान किरणों से प्राणियों की बुद्धिरूपी कुमुदिनियों को पूर्ण विकसित करता है ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार दीपक घर में व्याप्त अन्धकार को नष्ट कर उसे प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाले इस महाभारतरूपी दीपक ने प्राणियों के अन्तःकरणरूपी समस्त घर को ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित कर दिया है ॥ ८७ ॥

संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान् ।
संभवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटङ्कवान् ॥८८॥
अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योगसारवान् ।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ॥८९॥
कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः ।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शान्तिपर्वमहाफलः ॥९०॥
अश्वमेधामृतरसस्त्वाश्रमस्थानसंश्रयः ।
मौसलश्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥९१॥
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥९२॥

इस महाभारतरूपी विशाल वृक्ष का 'संग्रह अध्याय' बीजस्वरूप है, 'पौलोम' और 'आस्तीक पर्व' इसकी जड़ है, 'सम्भव पर्व' इसके तने का विस्तार है, 'सभापर्व' तथा 'वनपर्व' पक्षियों के रहने योग्य कोटर स्थान है ॥ ८८ ॥

'अरणीपर्व' इस वृक्ष का ग्रन्थिस्थल है 'विराटपर्व' और 'उद्योगपर्व' इसकी मज्जा (हीर) है। 'भीष्मपर्व' इसकी सबसे बड़ी शाखा है, 'द्रोणपर्व' इसके पत्ते हैं ॥ ८९ ॥

'कर्णपर्व' इसके श्वेत पुष्प हैं, 'शल्यपर्व' मनमोहक सुगन्ध है। 'स्त्रीपर्व' और 'एषीकपर्व' इसकी छाया है, 'शान्तिपर्व' इसका महत्वपूर्ण फल है ॥ ९० ॥

'अश्वमेधपर्व' इसका अमृततुल्य रस है, 'आश्रमवासिकपर्व' नीचे बैठने की जगह है। 'मौसलपर्व' इसकी उन्नत भाग में फैली हुई बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं और यह सुशील विद्यासम्पन्न द्विजरूपी पक्षियों से सेवित है ॥ ९१ ॥

जिस प्रकार मेघ संसार के सम्पूर्ण प्राणियों का परम उपकारक है, उसी प्रकार यह महाभारतरूपी अति विशाल वृक्ष विश्व के समस्त उत्कृष्ट कवियों का शाश्वत उपकारक होगा ॥ ९२ ॥

सौतिरुवाच

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत् पुष्पफलोदयम् ।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥९३॥
मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गाङ्गेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ।
त्रीनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान् ॥९४॥
उत्पाद्य धृतराष्ट्रञ्च पाण्डुं विदुरमेव च ।
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥९५॥
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।
अब्रवीद्भारतं लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः ॥९६॥
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥९७॥

सौति बोले—हे मुनिवृन्द ! उस भारतरूपी वृक्ष के सदा स्थायी, पवित्र रसपूर्ण, स्वादिष्ठ होने पर भी विनाशरहित, धर्मरूपी पुष्प और मोक्षरूपी फल का मैं वर्णन करता हूँ, जो देवताओं के लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ९३ ॥

एक समय माता सत्यवती तथा भीष्मजी की आज्ञा पालन के निमित्त, न कि कामवासना से, परम धार्मिक श्री व्यासजी ने राजयक्ष्मा से मृत भाई विचित्रवीर्य के वंशरक्षणार्थ उसकी अम्बिका आदि तीन पत्नियों से अग्नि के सदृश परम तेजस्वी, कुरुवंश के एक मात्र प्रतीक धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर नामक तीन पुत्रों को उत्पन्न किया और फिर तपस्या के लिये वन में अपने आश्रम पर चले गये ॥ ९४–९५ ॥

वे तीनों पुत्र वृद्ध हुए और परलोकवासी हो गये, तब त्रिकालदर्शी भगवान् वेदव्यासजी ने मृत्युलोक में महाभारत का कथन किया था ॥ ९६ ॥

जनमेजय तथा सहस्रों ऋषियों के जिज्ञासा करने पर वेदव्यासजी ने समीप में बैठे हुए शिष्य वैशम्पायन को 'तुम इन्हें महाभारत श्रवण कराओ' ऐसी आज्ञा प्रदान की ॥ ९७ ॥

स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम्।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥९८॥
विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम्।
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥९९॥
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानाञ्च सत्यताम्।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ॥१००॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥१०१॥
ततोऽध्यर्द्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम् ॥१०२॥
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयत् शुकम्।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ॥१०३॥

सभी सभासदों के साथ बैठे हुए वैशम्पायन ने यज्ञ के विभिन्न कर्मों में बार बार उन लोगों द्वारा प्रेरित किये जाने पर उन सभी को महाभारत सुनाया ॥ ९८ ॥

इस महाकाव्य में भगवान् व्यासजी ने कुरुवंश का विस्तार, गान्धारी की धर्मशीलता, विदुर की प्रगल्भ विद्वत्ता तथा कुन्ती के धैर्य का अच्छी प्रकार से वर्णन किया है ॥ ९९ ॥

इसमें वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्ण की महिमा का, पाण्डवों की सत्यपालकता का तथा धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि के दुराचारों का अद्वितीय वर्णन किया है ॥१००॥

कथाभाग को छोड़कर जिन चौबीस हजार श्लोकोंवाली भारत-संहिता की वेदव्यासजी ने रचना की थी, उसी को विद्वान् लोग भारत कहते हैं ॥ १०१ ॥

तदनन्तर फिर भगवान् व्यासजी ने पर्वों सहित वृत्तान्तों की अनुक्रमणिका का डेढ़ सौ श्लोकों में संक्षिप्त अध्याय रचा ॥ १०२ ॥

सर्वप्रथम इस महाभारत काव्य को उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवजी को पढ़ाया, फिर अन्य भी शीलादि गुणसम्पन्न शिष्यों को इसका उपदेश दिया ॥ १०३ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्।
त्रिंशच्छतसहस्रञ्च देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥१०४॥
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश।
एकं शतसहस्रन्तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ॥१०५॥
नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितन्।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ॥१०६॥
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः।
एकं शतसहस्रन्तु मयोक्तं वै निबोधत ॥१०७॥

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः फलपुष्पे समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥१०८॥

तदनन्तर वेदव्यासजी ने साठ लाख श्लोकोंवाली दूसरी 'भारत संहिता' की रचना की। उसके तीस लाख श्लोक देवलोक में स्थित हैं और पंद्रह लाख श्लोक पितृलोक में तथा चोदह लाख श्लोक गन्धर्वलोक में पहुँच चुके हैं। अवशिष्ट केवल एक लाख श्लोक ही इस मृत्युलोक में रह गये हैं॥ १०४–१०५॥

देवर्षि नारदजी ने उस भारत को देवताओं को सुनाया, महर्षि देवल ने पितरों को, शुकदेवजी ने गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों को सुनाया था। इस मनुष्य-लोक में व्यासजी के शिष्य, समस्त वेदज्ञों में सर्वश्रेष्ठ, धर्मात्मा वैशम्पायन ने सुनाया था, यह एक लाख श्लोकोंवाला महाभारत आप मुझसे श्रवण कीजिये॥ १०६–१०७॥

महारथी कर्ण जिसका तना है, शकुनि जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ है, दुःशासन जिसके रस-फल-पुष्प है और अल्पमति राजा धृतराष्ट्र जिसका मूल है, ऐसा एक दुर्योधनरूपी क्रोधमय विशाल वृक्ष है॥ १०८॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥१०९॥
पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुद्धया विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन्मुनिभिः सह ॥११०॥
मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥१११॥
मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥११२॥
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥११३॥

अर्जुन जिसका तना है, भीम जिसकी बहुत बड़ी शाखा है, नकुल सहदेव जिसके रूपरसादिपूर्ण फल पुष्प हैं तथा जिसका मूल भगवान् कृष्ण, ब्रह्म और ब्राह्मण हैं, ऐसा दूसरा युधिष्ठिररूपी धर्ममय विशाल वृक्ष है ॥ १०९ ॥

एक बार राजा पाण्डु बुद्धि तथा पराक्रम से बहुत से देशों को जीतकर शिकार खेलते हुए एक वन में पहुँचे और वहाँ मुनियों के साथ निवास किया ॥ ११० ॥

वहाँ मृगरूपिणी पत्नी के साथ विहार करते हुए मृगरूपधारी एक ऋषि को पाण्डु ने मार दिया। इस कारण शाप द्वारा इनपर यह भयानक आपत्ति आ पड़ी कि यदि ये स्त्रीप्रसङ्ग करेंगे तो इनकी मृत्यु हो जायगी। इस शाप के कारण पाण्डवों के जन्म और कुलाचार के लिये महान् संकट उपस्थित हो गया ॥१११॥

तदनन्तर पाण्डु की पत्नी कुन्ती और माद्री ने कुलधर्म की रक्षा के लिये महर्षि दुर्वासा से दी हुई विद्या का अनुष्ठान किया। जिसके द्वारा धर्म, वायु और इन्द्र से कुन्ती के युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए तथा अश्विनीकुमारों से माद्री के नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए ॥ ११२ ॥

पाण्डु की मृत्यु होने पर दोनों माताओं के संरक्षण में अनेक पवित्र वनों और परम तपस्वी महर्षियों के आश्रमों में पाँचों भाई बड़े होने लगे ॥ ११३ ॥

ऋषिभिर्यत्तदा नीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम्।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥११४॥
पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥११५॥
तांस्तैर्निवेदितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥११६॥
आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथन्तस्येति चापरे ॥११७॥
स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम सन्ततिम्।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥११८॥

उन की अवस्था बढ़ने पर ऋषि लोग स्वयं ही जटाधारी, ब्रह्मचारी बालकों को धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्रों के समीप ले गये ॥ ११४ ॥

कौरवों के समस्त ऋषियों ने कहा कि ये आप लोगों के पुत्र, भाई, शिष्य और मित्र हैं, ये महाराज पाण्डु के पुत्र हैं। इतना कहकर ऋषि लोग वहाँ से अन्तर्धान हो गये ॥ ११५ ॥

उस समय ऋषियों के द्वारा लाये हुए, महाराज पाण्डु के इन पाँचों पुत्रों को देखकर समस्त कौरव और समस्त संभ्रान्त नागरिक प्रसन्नता से हर्षध्वनि करने लगे ॥ ११६ ॥

उनमें से कुछ ने कहा कि ये तो पाण्डु के पुत्र नहीं मालूम देते हैं, दूसरों ने कहा कि नहीं, ये महाराज पाण्डु के ही पुत्र मालूम होते हैं। अन्य कहने लगे कि महाराज पाण्डु की मृत्यु हुए बहुत काल बीत गया, ये छोटे छोटे बालक पाण्डु के पुत्र कैसे हो सकते हैं ? ॥ ११७ ॥

कुछ भी हो, हम आप लोगों के शुभ आगमन पर आपका स्वागत करते हैं, क्योंकि हम लोग आज बड़े सौभाग्य से महाराज पाण्डु की सन्तति का दर्शन कर रहे हैं। 'हम भी अब पूर्ण रूप से आप के बीच आ गये हैं यह बड़ा आनन्द हुआ' ऐसा कहते हुए पाण्डुपुत्रों के वचनों को भी पुरवासियों ने सुना ॥ ११८ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥११९॥
पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥१२०॥
तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसम्भवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवस्पृक् कीर्तिवर्द्धनः ॥१२१॥
तेऽधीत्य निखिलान्वेदांश्छास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥१२२॥
युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥१२३॥
गुरुशुश्रूषया चैव यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥१२४॥

पाण्डवों के कथन के बाद ही समस्त दिशाओं को गुञ्जाता हुआ अदृष्ट देवताओं (आकाशवाणी) का 'ये पाण्डव ही हैं' ऐसा स्पष्ट शब्द हुआ ॥११९॥

जिस समय पाण्डवों ने राजधानी में प्रवेश किया, उस समय आकाश से सुन्दर पुष्पों की वृष्टि, शीतल मन्द सुगन्धित वायु का वहना और शंख, दुन्दुभियों की माङ्गलिक ध्वनि होने लगी। यह देखकर सभी पुरवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ १२० ॥

पाण्डवों पर पुरवासियों के अगाध प्रेम की द्योतक, ऐसी दिगन्तव्यापिनी हर्षध्वनि हुई कि पाण्डवों का सुयश स्वर्ग लोक तक व्याप्त हो गया ॥ १२१ ॥

पाँचों भाई चारों वेदों तथा अन्य नाना प्रकार के ग्रन्थों को विधिपूर्वक पढ़कर पुरवासियों से सम्मानित हो, निर्भयतापूर्वक हस्तिनापुर में निवास करने लगे ॥ १२२ ॥

समस्त प्रजाजन युधिष्ठिर के पवित्र आचरण से, भीम के धैर्य से, अर्जुन के पराक्रम से, नकुल सहदेव की गुरुसेवा और विनम्र स्वभाव तथा सभी के शौर्य गुण से परम आनन्दित और संतुष्ट थे ॥ १२३-१२४ ॥

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्त्तुः स्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१२५॥
ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥१२६॥
स सर्वान् पार्थिवान् जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ॥१२७॥
अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण संप्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥१२८॥
सुनयाद्वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासन्धं चैद्यञ्च बलगर्वितम् ॥१२९॥
दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकाञ्चनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥१३०॥

तदनन्तर महाराज द्रुपद की पुत्री के स्वयंवर में समागत अगणित राजपुत्रों के समक्ष सभी से असाध्य, मत्स्यवेधरूपी दुष्कर कर्म करके स्वयं पतिवरण के लिये समागत द्रौपदी को अर्जुन ने पत्नीरूप में स्वीकार किया ॥ १२५ ॥

उसी दिन से इस लोक में अर्जुन समस्त धनुर्धारियों में अग्रगण्य एवं पूज्य माना जाने लगा और समराङ्गण में भी सूर्य के सदृश असहनीय प्रतापवाला हो गया ॥ १२६ ॥

अर्जुन ने समस्त राजाओं तथा बड़े बड़े गणराज्यों को जीतकर राजा युधिष्ठिर के राजसूय नामक महायज्ञ को सम्पादित किया ॥ १२७ ॥

प्रचुर अन्न तथा प्रभूत धन एवं अन्य सभी उपयोगी सामग्रियों से परिपूर्ण राजसूय महायज्ञ युधिष्ठिर ने प्रारम्भ किया था ॥ १२८ ॥

उसमें भगवान् श्री कृष्ण की सुन्दर नीति द्वारा भीम तथा अर्जुन के पराक्रम से शक्ति के मद में चूर जरासन्ध तथा शिशुपाल को मारकर दुर्योधन को उपहार संग्रह का कार्य दिया गया। उपहार में राजाओं के यहाँ से मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हाथी, घोड़े तथा अनेकों प्रकार का धन,—॥ १२९-१३० ॥

विचित्राणि च वासांसि प्रावारावरणानि च ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ॥१३१॥
समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम् ।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥१३२॥
विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम् ।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥१३३॥
तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव सम्भ्रमात् ।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥१३४॥
स भोगान् विविधान् भुञ्जन् रत्नानि विविधानि च ।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥१३५॥
अन्वजानात्ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ॥१३६॥

नाना प्रकार के वस्त्र, सुन्दर सुन्दर ऊर्ध्ववस्त्र, उत्तम शालों के जोड़े, बहुमूल्य मृगचर्म तथा रंकु मृग के लोमों से बने हुए गलीचे आदि अनेकों पदार्थ आये थे ॥ १३१ ॥

उस समय पाण्डवों की इस प्रकार बढ़ती हुई लक्ष्मी को देखकर पराई उन्नति को न सहनेवाले दुर्योधन के हृदय में प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न हुआ ॥ १३२ ॥

पुण्यशाली पाण्डवों को मय दानव के द्वारा विमान के सदृश अद्भुत रचनावाली, स्वयं ही बनाई हुई सभा को भेटरूप में समर्पित देखकर दुर्योधन अत्यन्त दुःखित हुआ ॥ १३३ ॥

क्रोध के कारण चलते समय सभा में दुर्योधन को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम होने से धोखा हो गया। इस पर श्री कृष्ण के सन्मुख भीमसेन द्वारा दुर्योधन की एक अपढ़ ग्रामीण की तरह खूब हँसी हुई ॥ १३४ ॥

तब दुर्योधन पिता की सभी प्रकार की राज्यसंपत्तियों को भोगता हुआ तथा बहुमूल्य रत्नाभूषणों को धारण करता हुआ भी प्रतिदिन पीला पडकर सूखने लगा ॥ १३५ ॥

पुत्रस्नेह में आसक्त धृतराष्ट्र को जब अपने पुत्र के कष्ट का कारण मालूम हुआ

नातिप्रीतमनाश्चासोद्विवादांश्चान्वमोदत ।
द्यूतादीननयान् घोरान् विविधांश्चाप्युपैक्षत ॥१३७॥
निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम् ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहत् क्षत्रं परस्परम् ॥१३८॥
जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तथा ॥१३९॥
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ॥१४०॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ॥१४१॥

तब उसने दुर्योधन को युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलने की अनुमति दे दी। यह सुनकर भगवान् कृष्ण को अत्यन्त क्रोध हुआ ॥ १३६ ॥

भगवान् का अवतार दुष्टविनाशार्थ होने के कारण इस वंश के विनाश के लिये हृदय से दुःखित होते हुए भी कौरव पाण्डवों के विवादों का भगवान् अनुमोदन करने लगे तथा जुआ आदि पापकृत्यों को देखकर भी उदासीन रहने लगे ॥ १३७ ॥

उस महाविग्रह में विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य का तिरस्कार होने से दुर्योधन द्वारा क्षत्रियों का आपस में विनाश होने लगा ॥ १३८ ॥

पाण्डवों की सन्तापकारिणी विजय को सुनकर तथा दुर्योधन के 'प्राण भले ही चले जायँ, पर आधा राज्य नहीं देंगे' इस हठ को जानकर, धृतराष्ट्र विचार करके संजय से बोला—हे संजय ! तुम विस्तार के साथ मेरी सम्पूर्ण बातें सुनो, मुझे इस विषय में बुराई नहीं देनी चाहिये ॥ १३९-१४० ॥

क्योंकि तुम विचारशील हो, शास्त्रों के मर्मज्ञ, बुद्धिमान् और विद्वानों में संमानित हो। मेरी इच्छा युद्ध करने की नहीं है और न वंश का विनाश हो इसमें मुझे प्रसन्नता ही है ॥ १४१ ॥

न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ॥१४२॥
अहं स्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥१४३॥
राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥१४४॥
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं सुश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ॥१४५॥
गान्धारराजसहितः छद्मद्यूतममन्त्रयत् ।
तत्र यद्यद्यथा ज्ञातं मया सञ्जय तच्छृणु ॥१४६॥

मैं अपने पुत्रों में पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा कोई विशेष प्रेम आदि नहीं रखता हूँ। फिर भी ये मेरे पुत्र दुर्योधनादि क्रोधपरायण होकर मुझ बूढ़े की निन्दा करते हैं ॥ १४२ ॥

मैं अन्धा और दीन हूँ, एवं पुत्रस्नेह से यह सब सह रहा हूँ। अल्पबुद्धि दुर्योधन मोहवश जैसे जैसे मूर्खतापूर्ण कार्य करता जाता है, मुझे भी उसके साथ उसी प्रकार कार्य करना पड़ता है ॥ १४३ ॥

राजसूय यज्ञ में पाण्डवों की लक्ष्मी को देखकर तथा मयनिर्मित सभा को देखने के लिये चढ़ते समय भीमसेन के द्वारा परिहास को प्राप्त कर,—॥ १४४ ॥

अत्यन्त क्रुद्ध हुए दुर्योधन ने पाण्डवों को युद्ध में जीतने में अपने को असमर्थ समझा तथा क्षत्रिय होकर भी राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करने में निरुत्साहित हो गया ॥ १४५ ॥

दुर्योधन ने शकुनि के साथ एकान्त में कपटपूर्वक जुआ खेलने का विचार किया। ऐसा विचार करने के पहले और पीछे जय की आशा को भंग करनेवाली जो घटनाएँ घटीं, उनको जिस प्रकार मैंने जाना है, हे संजय! उनको तुम सुनो ॥ १४६ ॥

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥१४७॥

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं
विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१४८॥

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां
प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१४९॥

यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं
शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तदा तर्पितं खाण्डवे च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५०॥

हे संजय ! वास्तव में मेरे बुद्धिमत्तापूर्ण वचनों को सुनकर तुम जानोगे कि मैं कितना प्रज्ञाचक्षु हूँ ॥ १४७ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुन ने स्वयंवर में समागत सभी राजाओं के देखते देखते उस अद्भुत लक्ष्य को धनुष लेकर पृथिवी पर गिरा दिया और द्रौपदी का हरण कर लिया, तभी से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १४८ ॥

मधुवंशजा सुभद्रा को बलपूर्वक हरण करके अर्जुन ने द्वारका में उसके साथ विवाह कर लिया, फिर भी वृष्णिवंशी वीर बलराम और कृष्ण प्रेमभाव से इन्द्रप्रस्थ में आये। जब से मैंने यह सुना, तब से हे संजय ! मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १४९ ॥

वर्षा करने के लिये प्रवृत्त देवराज इन्द्र को अर्जुन ने अपने दिव्य बाणों की वर्षा से रोक दिया और खाण्डव वन में बलि देकर अग्निदेव को सन्तुष्ट किया। जब से मैंने यह सुना, हे संजय ! मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १५० ॥

यदाश्रौषं जातुषाद् वेश्मनस्तान्
मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुन्त्या समेतान्।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५१॥

यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये
लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन।
शूरान्पञ्चालान्पाण्डवेयांश्च युक्तान्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५२॥

यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं
जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम्।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५३॥

यदाश्रौषं दिग्जये पाण्डुपुत्रै-
र्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५४॥

जब से मैंने सुना कि कुन्ती सहित पाँचों पाण्डव लाख के भवन से जीवित निकल गये और विदुर भी पाण्डवों के हितकारी कार्यों में संलग्न हैं, तभी से हे संजय ! मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १५१ ॥

हे संजय ! जब से मैंने सुना है कि स्वयंवर में लक्ष्य भेदन कर अर्जुन ने द्रौपदी को जीत लिया और पञ्चालदेश के पराक्रमी राजा लोग पाण्डवों से मिल गये हैं, उसी दिन से मुझे विजय की आशा नहीं रही है ॥ १५२ ॥

हे संजय ! जब से मैंने सुना है कि क्षत्रियों में परम श्रेष्ठ मगधराज जरासन्ध को भीमसेन ने केवल दोनों हाथों से ही मार डाला है, तब से मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १५३ ॥

जिस समय मैंने सुना कि पाण्डवों ने दिग्विजय में बलपूर्वक राजाओं को

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५५॥

यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान्नैव चान्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५६॥

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५७॥

यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा
धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५८॥

वश में करके राजसूय नाम का महायज्ञ किया है, तब से हे संजय ! मुझे विजय की आशा नहीं रही है ॥ १५४ ॥

आँसुओं से गद्‌गद्‌कण्ठवाली, रजस्वला, पतिव्रता द्रौपदी एक वस्त्र ही पहिरे हुए अनाथ स्त्री की भाँति जिस समय सभा में खींचकर लायी गई और उसको अपमानित किया गया, हे संजय ! उसी समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १५५ ॥

अल्पबुद्धि, दुष्ट दुःशासन ने एक वस्त्रधारिणी द्रौपदी का जब भरी सभा में वस्त्र खींचना प्रारम्भ किया, तब वस्त्रों का ढेर लगने पर भी अन्त न आया, हे संजय ! मुझे उस समय से विजय की आशा नहीं रही ॥ १५६ ॥

जब मैंने सुना कि जूआ में शकुनि के द्वारा अपने राज्य को हारे हुए युधिष्ठिर अपार बलवाले अपने भाइयों से अनुगत होकर चल दिये, उस समय से हे संजय ! मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १५७ ॥

बड़े भाई में नितान्त प्रेम होने के कारण वन को जाते समय उनके दुःख से दुःखित हुए धर्मात्मा पाण्डवों ने हस्तचालन आदि के द्वारा विविध चेष्टाओं को प्रदर्शित किया, जब से मैंने यह सुना है, हे संजय ! उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १५८ ॥

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रै-
रन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५९॥

यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६०॥

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं
शक्रात्साक्षाद् दिव्यमस्त्रं यथावत् ।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६१॥

यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः ।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६२॥

हे संजय ! जब से मैंने सुना है कि राजा युधिष्ठिर के साथ ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त करनेवाले हजारों स्नातक और भिक्षावृत्तिवाले महात्मा ब्राह्मण लोग वन में गये हैं, उस समय से मैं विजय की आशा नहीं करता ॥ १५९ ॥

हे संजय ! जब से मैंने सुना है कि किरातरूपधारी, देवों के भी देव भगवान् शंकर को युद्ध में अत्यन्त प्रसन्न करके, उनसे पाशुपत नामक महान् अस्त्र को अर्जुन ने प्राप्त कर लिया है, उस समय से मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १६० ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि सत्यवादी प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन ने स्वर्गलोक में स्थित होकर साक्षात् देवराज इन्द्र से दिव्य अस्त्रविद्या का विधिवत् अध्ययन किया है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६१ ॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि वरदान के प्रभाव से अत्यन्त गर्वित और देवताओं से भी अजेय कालकेय और पौलोम नाम के राक्षसों को भी युद्ध में अर्जुन ने जीत लिया है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६२ ॥

यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे किरीटिनं यान्तममित्रकर्षणम् ।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोका तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६३॥
यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्द्धं समागतं भीममन्यांश्च पार्थान् ।
तस्मिन्देशे मानुषाणामगम्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६४॥
यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन ।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६५॥
यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत ।
प्रश्नान् कांश्चित् विब्रुवाणञ्च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय० ॥१६६॥
यदाश्रौषं न विदुर्मामका तान्प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान् ।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया तांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६७॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि शत्रुओं का नाशक अर्जुन असुरों का नाश करने के लिये अमरावती में देवराज इन्द्र के यहाँ गया और वहाँ अनेकों असुरों का वध करके सफल मनोरथ होकर इन्द्रलोक से वापिस भी आ गया, उस समय से मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १६३ ॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि भीमसेन तथा अन्य सभी भाई, जहाँ मनुष्य नहीं पहुँच सकते हैं, ऐसे प्रदेश में कुबेर के साथ गये हैं, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६४ ॥

हे संजय ! जिस समय से मैंने यह सुना कि कर्ण की सम्मति से घोषयात्रा में जाते हुए मेरे पुत्रों को गन्धर्वों ने बन्दी बना लिया और अर्जुन ने उनको जीतकर मेरे पुत्रों को बन्धन से मुक्त करवाया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६५ ॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि यक्ष का रूप धारण किये हुए धर्मराज ने आकर युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न किये और युधिष्ठिर ने सभी का ठीक ठीक उत्तर दिया, हे सूत ! उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६६ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि द्रौपदी के साथ राजा विराट के नगर में वेश बदलकर निवास करते हुए पाण्डवों को दुर्योधन आदि नहीं ढूँढ़ सके, तभी से मुझको विजय की आशा नहीं रही ॥ १६७ ॥

यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान् धनंजयेनैकरथेन भग्नान् ।
विराटराष्ट्रे वसतां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६८॥
यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय ।
तांश्चार्जुनः प्रत्यगृह्णात् सुतार्थे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६९॥
यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य प्रव्राजितस्य स्वजनात्प्रच्युतस्य ।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७०॥
यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम् ।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७१॥
यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य ।
अहं द्रष्टौ ब्रह्मलोके च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७२॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि विराटनगर में निवास करते हुए महाभाग्य पाण्डवों में अकेले अर्जुन ने रथ में बैठकर गौ हरण कर जाते हुए मेरे वीरवर योद्धाओं को पराभूत किया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६८ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि मत्स्य देश के राजा ने उत्तरा नाम की प्रिय पुत्री को अर्जुन को प्रदान किया तथा अर्जुन ने अभिमन्यु के लिये उसे स्वीकार कर लिया है, उसी काल से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १६९ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि जूआ में पराजित, धनहीन तथा वन के लिये निर्वासित किये गये और स्वजनों से अलग हुए युधिष्ठिर ने सात अक्षौहिणी सेना तैयार कर ली है, तभी से मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १७० ॥

जिनके एक चरण में ही सम्पूर्ण पृथिवी समा गई थी ऐसे मधुवंशोत्पन्न कृष्ण भी पाण्डवों के हित साधन में संलग्न हैं, जब से मैंने यह सुना है, हे संजय ! तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७१ ॥

हे संजय ! देवर्षि नारद ने बताया कि कृष्ण और अर्जुन साक्षात् नर नारायण के अवतार हैं और इन दोनों को मैंने ब्रह्मलोक में अच्छी प्रकार से देखा है, जब से मैंने यह सुना है, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७२ ॥

यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं शमार्थिनमुपयातं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थञ्च यातन्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७३॥
यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७४॥
यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७५॥
यदाश्रौषं मन्त्रिणं वासुदेवं तथा भीष्मं शान्तनवञ्च तेषाम् ।
भारद्वाजञ्चाशिषोऽनुब्रुवाणं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७६॥
यदा कर्णो भीष्ममुवाच वाक्यं नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७७॥

हे संजय ! जिस समय मैंने सुना कि भगवान् कृष्ण लोकों के हित के लिये शान्तिपूर्वक सन्धि कराने के लिये कौरवों के समीप आये, पर असफल होकर वापिस चले गये, उसी समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७३ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि कर्ण और दुर्योधन के भगवान् कृष्ण को बन्दी बनाने का विचार करने पर श्री कृष्ण ने अपने विश्वरूप का दर्शन कराया था, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७४ ॥

जब से मैंने यह सुना कि श्री कृष्ण के प्रयाण करते समय रथ के सन्मुख अत्यन्त विकला अकेली कुन्ती आकर खड़ी हो गई और श्री कृष्ण ने उसको पूर्ण सान्त्वना दी है, हे संजय ! उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७५ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि श्री कृष्ण पाण्डवों के मन्त्री हुए हैं और भीष्म एवं द्रोणाचार्य ने उनको आशीर्वाद दिया है, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७६ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने सुना कि महारथी कर्ण ने भीष्म पितामह से कहा कि जब तक आप युद्ध करेंगे तब तक मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा कहकर वह सेना को छोड़कर चला गया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७७ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ तथा धनुर्गाण्डीवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७८॥
यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान्दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७९॥
यदाश्रौषं भीष्मममित्रकर्षणं निघ्नन्तमाजावयुतं रथीनाम् ।
नैषां कश्चिद्वध्यते ख्यातरूपस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८०॥
यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टास्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८१॥
यदाश्रौषं भीष्ममत्यन्तशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८२॥

हे संजय ! जिस समय मैंने सुना कि कृष्ण, अर्जुन और गाण्डीव धनुष, ये तीनों प्रचण्ड पराक्रमशाली एक ही स्थान पर एकत्रित हुए हैं, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १७८ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि मोह के कारण अर्जुन गाण्डीव छोड़कर रथ के समीप खड़ा हो गया और स्वजनों के साथ युद्ध करने से इन्कार करने लगा, तब श्री कृष्ण ने चौदह लोकों का अपने शरीर में उसे दर्शन कराया था, उसी समय से मैं विजय की आशा नहीं करता हूँ ॥ १७९ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने सुना कि भीष्म पितामह रणभूमि में प्रतिदिन दस हजार योद्धाओं को मारते थे, फिर भी पाण्डवों के एक भी प्रसिद्ध महारथी का विनाश नहीं हुआ, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८० ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि परम धार्मिक भीष्म पितामह ने पाण्डवों को अपनी मृत्यु का उपाय बतला दिया और पाण्डवों ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनकी आज्ञा का पालन किया, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८१ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि शिखण्डी की ओट में खड़े होकर अर्जुन ने महारथियों में अग्रगण्य, अजेय भीष्म पितामह को बाणवर्षा से मार दिया है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८२ ॥

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८३॥
यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने पानीयार्थं चोदितेनार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८४॥
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्मान् श्वापदा भीषयन्ति तदा नाशंसे विजयाय सं० ॥१८५॥
यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान् निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवाञ्छ्रेष्ठतरान्निहन्ति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८६॥
यदाश्रौषं चास्मदीयान्महारथान् व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान् निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८७॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि सोमकवंशीय योद्धाओं का विनाश करके शूरवीर वृद्धतपस्वी भीष्म पितामह अर्जुन के अगणित बाणों से बिंधकर शरशय्या पर शयन कर रहे हैं, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८३ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि शरशय्या पर शयन करते हुए भीष्मजी ने जल पीने की इच्छा प्रकट की, उसी समय अर्जुन ने बाण से पृथिवी का भेदन कर उसमें से निकाली हुई जलधारा से पितामह की तृषा को शान्त कर दिया, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८४ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि पाण्डवों की विजय के लिये वायु दक्षिण दिशा की ओर चलने लगा एवं चन्द्रमा तथा सूर्य लाभस्थान में आकर एकत्रित हो गये और हम लोगों को कुत्ता, बंदर आदि चौपाये बार बार भयभीत करने लगे, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८५ ॥

हे संजय ! जब द्रोणाचार्य रणभूमि में विविध प्रकार की अस्त्रचालन-कला का दर्शन कराते हुए भी पाण्डवों के किसी प्रसिद्ध महारथी को नहीं मार सके, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८६ ॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुन के मारने के लिये उद्यत कौरवपक्षीय संशप्तक महारथियों को अकेले अर्जुन ने ही वीरगति को प्राप्त करा दिया, तभी से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८७ ॥

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८८॥
यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्तस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८९॥
यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैन्धवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९०॥
यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९१॥
यदाश्रौषं श्रान्तहये धनञ्जये मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९२॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि अन्य महारथियों से अभेद्य चक्रव्यूह की रचना करके स्वयं गुरुदेव द्रोणाचार्य शस्त्र धारण कर जिसकी रक्षा कर रहे थे, ऐसे व्यूह को अकेला ही बालक अभिमन्यु भेदन कर अन्दर प्रविष्ट हो गया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८८ ॥

हे संजय ! अर्जुन के मारने में असमर्थ हमारे पक्ष के बड़े बड़े महारथी जब अकेले उस अद्वितीय शूर अभिमन्यु को मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १८९ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि अभिमन्यु को मारकर मूढ बुद्धि दुर्योधनादि प्रसन्नता से कोलाहल मचा रहे थे, उस समय अर्जुन ने अत्यन्त कुपित हो सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ को मारने की भीषण प्रतिज्ञा की है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९० ॥

हे संजय ! जब से मैंने सुना कि अर्जुन ने सिन्धुराज जयद्रथ के मारने की अपनी प्रतिज्ञा को शत्रुओं के मध्य सत्य करके दिखला दिया, तब से मुझे अपनी विजय की आशा नहीं रही ॥ १९१ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि अर्जुन के रथ के थके हुए घोड़ों को श्री कृष्ण ने रथ से खोलकर जल पिलाया और पुनः रथ में जोड़ दिया तथा रथ पर बैठकर चल दिये, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९२ ॥

यदाश्रौषं वाहनेष्वश्वमेषु रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन।
सर्वान्योधान्वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९३॥
यदाश्रौषं नागबलैः सुदुःसहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९४॥
यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः।
धनुष्कोट्या तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९५॥
यदाश्रौषं कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९६॥
यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९७॥

हे संजय! जब मैंने सुना कि थके हुए घोड़ों को जल पिलाकर रथ में जोतने तक अर्जुन एकाकी ही रथ के समीप खड़ा होकर सभी योद्धाओं को रोके रहा, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९३ ॥

हे संजय! जिस समय मैंने सुना कि वीरवर सात्यकि हाथियों के बल से भी न टूटनेवाली, गुरु द्रोणाचार्य की युद्ध करती हुई सेना को नष्ट करके जहाँ कृष्ण और अर्जुन थे वहाँ पहुँच गया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९४ ॥

हे संजय! जब मैंने सुना कि कर्ण ने गदाधारी भीमसेन को वश में करके भी केवल कुत्सित वचनों से ही उसका तिरस्कार और धनुष की नक से प्रहार कर बध से उसको मुक्त कर दिया, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९५ ॥

हे संजय! जब मैंने सुना कि अर्जुन के द्वारा किये गये जयद्रथ के बध को द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और शूरवीर शल्य ने सह लिया है, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥१९६॥

हे संजय! जिस समय मैंने यह सुना कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त जिस दिव्य शक्ति को कर्ण ने अर्जुन के वधार्थ सुरक्षित रख छोड़ा था, उसको श्री कृष्ण ने बड़ी चतुराई से घटोत्कच पर छुड़वा दिया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९७ ॥

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९८॥
यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९९॥
यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये ।
समं युद्धे मण्डलशश्चरन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२००॥
यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन् ।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०१॥
यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य ।
निवारितं नान्यतमेन भीमं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०२॥

हे संजय ! जब मैंने सुना कि कर्ण तथा घटोत्कच के घोर युद्ध में जिस शक्ति से अर्जुन मारा जानेवाला था, वह कर्ण ने घटोत्कच पर छोड़ दी, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९८ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि रथ के समीप पुत्रशोक में मग्न द्रोणाचार्य अनशन द्वारा प्राणविसर्जन को निश्चल हुए खड़े थे, उसी समय अधर्मपूर्वक धृष्टद्युम्न ने उनका वध कर दिया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ १९९ ॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि नकुल एक की ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा से सभी योद्धाओं के सन्मुख युद्ध कर रहा था और मण्डलाकार भ्रमण में भी उसके समान ही रहा, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०० ॥

हे संजय ! द्रोणाचार्य के वध के उपरान्त जिस समय अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र का पाण्डवों पर मोचन किया था, फिर भी वह पाण्डवों का विनाश नहीं कर सका, जब से मैंने यह सुना उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०१ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि रणस्थली में दुःशासन का रक्त पान करते हुए भीमसेन को पाण्डवपक्षीय किसी भी वीर ने नहीं रोका, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०२ ॥

यदाश्रौषं कर्णमत्यन्तशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
तस्मिन् भ्रातणां विग्रहे देवगुह्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०३॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम् ।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०४॥
यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं रणे शूरं धर्मराजेन सूत ।
सदा संग्रामे स्पर्द्धते यस्तु कृष्णं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०५॥
यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं मायाबलं सौबलं पाण्डवेन ।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०६॥
यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः ।
दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०७॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि कर्ण और अर्जुन, दोनों सहोदर भाई हैं यह देवताओं को भी अविदित, परस्पर का सम्बन्ध न जानने के कारण महाशूरवीर कर्ण को कुन्तीपुत्र अर्जुन ने मार दिया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०३ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि युधिष्ठिर ने युद्ध में द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शूरवीर दुःशासन और प्रचण्ड पराक्रमी कृतवर्मा, सभी को जीत लिया है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०४ ॥

हे सूत ! जब मैंने यह सुना कि संग्राम में सर्वदा श्री कृष्ण को जीतने की इच्छा करनेवाले अत्यन्त पराक्रमी मद्रराज शल्य को युधिष्ठिर ने रण में मार दिया है, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०५ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि पारस्परिक कलह और जुआ कराने में कुशल, मायावी, शकुनि को सहदेव ने युद्ध में मार दिया है, उस समय से मैं विजय की आशा नहीं करता ॥ २०६ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने सुना कि रथरहित तथा सामर्थ्यहीन अकेला ही दुर्योधन युद्ध में थककर, तालाब के जल को रोककर, उसके भीतर शयन कर रहा है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०७ ॥

यदाश्रौषं पाण्डवांस्तिष्ठमानान् गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम् ।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०८॥
यदाश्रौषं विविधांश्चित्रमार्गान् गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम् ।
मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०९॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान्पञ्चालान्द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यञ्च कर्म तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१०॥
यदाश्रौषं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद्येन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२११॥
यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन स्वस्तीत्युक्त्वाऽस्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१२॥

हे संजय ! जब मैंने यह सुना कि सरोवर के जल में प्रच्छन्न मेरे पुत्र दुर्योधन को वसुदेवनन्दन कृष्ण के साथ पाण्डव लोग क्रोधोत्पादक, असहनीय, कुत्सित वचन सुना रहे हैं, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०८ ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि गदायुद्ध में अनेक प्रकार के दाव-पेचों का प्रदर्शन कर, मण्डलाकार घूमते हुए दुर्योधन को भीमसेन ने श्री कृष्ण की सम्मति से नाभि से नीचे कपटपूर्वक गदा प्रहार करके मार दिया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २०९ ॥

हे संजय ! द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा आदि ने पञ्चाल देश के राजाओं और द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों का वध कर दिया है, ऐसे अत्यन्त भयानक और कलंकित कार्य को जब से मैंने सुना है, तब से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २१० ॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि अश्वत्थामा का पीछा करते हुए भीमसेन को देखकर, अश्वत्थामा ने कुपित होकर 'एषीक' नाम के परमश्रेष्ठ अस्त्र को उत्तरा का गर्भ नष्ट करने की इच्छा से छोड़ा है, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥२११॥

हे संजय ! जिस समय मैंने यह सुना कि अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये 'ब्रह्मास्त्र' को अर्जुन ने स्वस्ति कहकर अपने अस्त्र से शान्त कर दिया तथा

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं परस्परेणाभिशशाप शापैः ॥११३॥
शोच्या गांधारी पुत्रपौत्रैर्विहीना तथा बन्धुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥२१४॥
कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे
त्रयोऽस्माकं पाण्डवानाञ्च सप्त ।
द्व्यूनाविंशतिराहताऽक्षौहिणीनां
तस्मिन् संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ॥२१५॥
तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥२१६॥

अश्वत्थामा के मस्तक से मणि निकाल कर, उसे अपमानपूर्वक शिविर से बाहर निकाल दिया, उस समय से मुझे विजय की आशा नहीं रही ॥ २१२ ॥

जिस समय मैंने यह सुना कि अश्वत्थामा ने अपमान से कुपित हो महाराज विराट की पुत्री उत्तरा के गर्भस्थित बच्चे के विनाशार्थ ब्रह्मास्त्र को छोड़ा तथा श्री कृष्ण और वेदव्यासजी ने अश्वत्थामा को श्राप दिया, उस समय से मैं विजय की आशा नहीं करता ॥ २१३ ॥

हा ! पुत्र, नाती, कुटुम्बी, पिता, चाचा, भाई आदि सभी जन जिसके विनष्ट हो गये हैं, ऐसी गान्धारी की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो रही है, तथा पाण्डवों ने असाधारण कर्म के द्वारा खोये हुए अपने राज्य को शत्रुरहित निष्कंटक रूप से पुनः प्राप्त कर लिया है ॥ २१४ ॥

कुरुक्षेत्र की रणस्थली में अठारह अक्षौहिणी सेना से युक्त कौरव पाण्डव पक्षीय क्षत्रियों के इस घनघोर संग्राम में इस समय मेरे पक्ष के कृपाचार्य अश्वत्थामा और कृतवर्मा तथा पाण्डव पक्ष के श्री कृष्ण, सात्यकि और पाँचो पाण्डव, ये केवल दस व्यक्ति ही अवशिष्ट रहे हैं, ऐसा सुनकर मुझे मर्मान्तक कष्ट हो रहा है ॥ २१५ ॥

हे सूत ! मेरे नेत्रों के सामने घना अन्धकार सा छा गया है, स्वजनों के मोह ने मेरे विवेक को नष्ट कर दिया है, मुझे मूर्च्छा आ रही है और मेरा मन अत्यन्त व्याकुल सा हो रहा है ॥ २१६ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहुदुःखितः ।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥२१७॥

धृतराष्ट्र उवाच

सञ्जयैवं गते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥२१८॥

सौतिरुवाच

तं तथा वादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ।
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥२१९॥

सञ्जय उवाच

श्रुतवानसि वै राजन्महोत्साहान्महाबलान् ।
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ॥२२०॥
महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च ।
जातान्दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ॥२२१॥

सौति बोले—हे महर्षियो ! इस प्रकार संजय से कहकर दारुण विलाप करते हुए कुटुम्बशोकाकुल धृतराष्ट्र मूर्च्छित होकर गिर गये। संजय की सेवा से पुनः सावधान हो, वे फिर कहने लगे ॥ २१७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस युद्ध का यह भीषण परिणाम निकलने से, मैं अपने प्राणों को भी शीघ्र ही त्यागना चाहता हूँ, क्यों कि पुत्र-पौत्रादि जब कोई नहीं बचा, तब मेरे जीने से लाभ क्या ? ॥ २१८ ॥

सौति बोले—इस प्रकार आत्मग्लानि से भरे दीनतापूर्वक वचन कहते और विलाप करते हुए, सर्प के सदृश दीर्घ निःश्वास लेते हुए बार बार मोह को प्राप्त महाराज धृतराष्ट्र से परम ज्ञानी संजय सारगर्भित वचन बोले ॥ २१९ ॥

संजय बोले—हे राजन् ! आपने वेदव्यासजी तथा नारदजी के मुख से सुना है कि, उत्तम उत्तम राजवंशों में उत्पन्न, सर्व सद्गुणों से युक्त, दिव्यास्त्र चलाने में अद्वितीय, इन्द्र के समान तेजस्वी, धर्मपूर्वक पृथिवी को जीतकर

धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वा सदक्षिणैः।
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गतान् ॥२२२॥

शैब्यं महारथं वीरं सृञ्जयं जयताम्वरम्।
सुहोत्रं रन्तिदेवञ्च काक्षीवन्तमथौशिजम् ॥२२३॥

बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम्।
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाद्युतिम् ॥२२४॥

मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च।
रामं दाशरथिञ्चैव शशविन्दुं भगीरथम् ॥२२५॥

कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम्।
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ॥२२६॥

चैत्ययूपाङ्किता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा।
इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ॥२२७॥
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ॥२२८॥

बहु दक्षिणा युक्त विशाल यज्ञों के कर्ता, इस लोक में अद्वितीय पुरुषार्थ से सुयश को अनन्तकाल तक विस्तृत करनेवाले बड़े बड़े उत्साही और बलवान् राजा भी अन्त में काल के गाल में समा गये, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुए हैं ॥ २२०-२२२ ॥

देखो, पूर्वकाल में महारथी शूरवीर शैब्य, विजेताओं में अग्रगण्य सृञ्जय, कीर्तिशालियों में परम श्रेष्ठ सुहोत्र, महाराज रन्तिदेव, कात्तीवन्त, औशिज, बाह्लीक दमन, चैद्य, शर्याति, अजित नल, शत्रुसहारक महर्षि विश्वामित्र, परम तेजस्वी भक्ताग्रगण्य महाराज अम्बरीष,—॥ २२३-२२४ ॥

मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, दशरथनन्दन श्री राम, शशविन्दु, भगीरथ, महाभाग्यशाली कृतवीर्य तथा जनमेजय, शुभकर्म करनेवाले ययाति, जिनका देवताओं ने स्वयं यज्ञ करवाया था तथा जिनके यज्ञस्तम्भों से ही आधी पृथिवी घिर गयी थी—ऐसे परम प्रतापी चौबीस राजाओं की कथा देवर्षि नारदजी ने पुत्रशोक से संतप्त महाराज श्वैत्य के शोकशमनार्थ पूर्वकाल में सुनाई थी ॥ २२५-२२८ ॥

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥२२९॥
पुरुः कुरुर्यदुः शूरो विश्वगश्वो महाद्युतिः ।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥२३०॥
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कंको दुलिदुहो द्रुमः ॥२३१॥
दम्भोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥२३२॥
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥२३३॥
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः ॥२३४॥
बलबन्धुर्निरामर्दः केतुशृङ्गो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ॥२३५॥

पूर्वकाल में इन राजाओं की अपेक्षा कहीं अधिक बलशाली, महारथी, उदारचेता और सर्वगुणों से सम्पन्न और बड़े बड़े राजा लोग उत्पन्न हुए थे ॥ २२९ ॥

जिनमें प्रमुख महाराज पुरु, कुरु, शूरवीर विश्वगश्व, महाद्युति, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, पराक्रमी रघु, ॥ २३० ॥

विजय, वितिहोत्र, अङ्ग, भुव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कंक, दुलिदुह, द्रुम. ॥ २३१ ॥

दम्भोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शम्भु, पुण्यात्मा देवावृध, ॥ २३२ ॥

देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, परमोत्साही तथा अतिविनयशील सुक्रतु, निषध देश के राजा नल, ॥ २३३ ॥

सत्यव्रत, शान्तभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजङ्घ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, ॥ २३४ ॥

बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृङ्ग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, ॥ २३५ ॥

अविच्छिचपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणसम्भाव्यः प्रत्यङ्गः परहा श्रुतिः ॥२३६॥
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्यातास्चैव पद्मशः ॥२३७॥
हित्वा सुविपुलान्भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो ॥२३८॥
येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च ।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ॥२३९॥
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥२४०॥
तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्तास्चैव मन्युना ।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥२४१॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥२४२॥

अविच्छित्, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराण, सम्भाव्य, प्रत्यङ्ग, परहा तथा श्रुति ॥ २३६ ॥

ये राजालोग तथा इनके अतिरिक्त सैकड़ों, हजारों, लाखों, यहाँ तक कि पद्मों तक की संख्या में कुशाग्रबुद्धिवाले महापराक्रमी राजालोग पृथिवी के स्वर्गसम बड़े बड़े ऐश्वर्यों को त्याग कर अन्त में मृत्यु को ही प्राप्त हुए। जिस प्रकार हे महाराज! आपके पुत्र दुर्योधनादि मृत्यु को प्राप्त हुए हैं ॥ २३७-२३८ ॥

जिन राजर्षियों के दिव्यकर्म, दुर्धर्ष पराक्रम, अद्वितीय त्याग, श्रेष्ठ माहात्म्य, आस्तिकता, सत्यवादिता, पवित्रता, दयालुता एवं सरलता का धुरन्धर विद्वानों ने लोक में तथा कविसम्राटों ने पुराणों में वर्णन किया है—ऐसे सर्व ऋद्धि-सिद्धियों से सुसम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट् भी जब मृत्यु को प्राप्त हो गये, तब आपके दुराचारी क्रोधस्वभावी और लोभी दुर्योधनादि पुत्र भी यदि मृत्यु की शरण हों, तो उनके लिये शोक करना आपको शोभा नहीं देता ॥ २३९-२४०-२४१ ॥

हे भरतवंशावतंस! आप धर्म तथा शास्त्र के वेत्ता प्रखरबुद्धि एवं विद्व-

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्ररक्षणे ॥२४३॥
भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ॥२४४॥
विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥२४५॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥२४६॥
कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥२४७॥

सज्जनसम्मान्य हैं, अतः जिनकी बुद्धि शास्त्रपथानुगामिनी होती है, वे शोक को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २४२ ॥

हे राजन्! पाण्डवों के प्रति कठोरता (दमन) और अपने पुत्रों (दुर्योधनादि) के प्रति अनुरक्तता, ये दोनों व्यवहार जो आपने किये हैं, वह तो आपको ही विदित हैं, अतः आपको अपने पुत्रों के संरक्षण के निमित्त अत्यन्त व्याकुल नहीं होना चाहिये ॥ २४३ ॥

जो कुछ होनहार है, वह तो होकर ही रहेगा, अतः उसके सम्बन्ध में शोक करना आपको उचित नहीं है। संसार में ऐसा कौन मनुष्य है, जो अपने बुद्धि-बल से दैव (प्रारब्ध) को फेर सके ? अर्थात् कोई नहीं फेर सकता ॥ २४४ ॥

विधाता के निर्मित मार्ग का कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, जन्म-मरण सुख और दुःख इन सभी का मूल कारण काल ही है ॥ २४५ ॥

निमेष से लेकर वत्सरान्त जो काल है, वही समस्त प्राणियों का सृजन करता और वही इनका संहार भी करता है, इतना ही नहीं तो प्रजाओं का संहार करने वाले काल को भी काल (परमात्मा) ही फिर शान्त करता है ॥ २४६ ॥

काल ही सम्पूर्ण लोक में शुभ तथा अशुभ भावों को उत्पन्न करता है तथा काल ही समस्त प्रजाओं की उत्पत्ति करता है एवं वही फिर संहार भी करता है ॥ २४७ ॥

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥२४८॥
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति सांप्रतम् ।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥२४९॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा ॥२५०॥
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥२५१॥
भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥२५२॥

सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रियों के लीन होने पर भी काल ही केवल जागता रहता है। काल ही सब लोकों में अलङ्घनीय है। महाबली काल ही सम्पूर्ण प्राणियों में अबाधित गति से सञ्चरण करता है और वही सबकी आत्मा है॥ २४८॥

जो अतीत में हो चुका है और जो होनेवाला है तथा जो हो रहा है, अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान काल में जो भी पदार्थ हैं, वे सब काल के द्वारा ही निर्मित हैं, यह जान कर आपको ज्ञाननिष्ठा को नहीं त्यागना चाहिये—क्योंकि शोक को हरनेवाला ज्ञान के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है॥ २४९॥

श्री उग्रश्रवाजी बोले—गवल्गण के पुत्र संजय ने इस प्रकार के ज्ञानमूलक वचनों को कहकर पुत्रशोक से अत्यन्त विह्वल महाराज धृतराष्ट्र को आश्वासन दे स्वस्थचित्त कर दिया॥ २५०॥

इसी वृत्तान्त का आधार लेकर शोकातुर जनों की शोकशान्ति के लिये भगवान् कृष्णद्वैपायन ने पुण्यदायक उपनिषदों के ज्ञान का सुविस्तृत वर्णन किया है, जो कि विद्वानों एवं महाकवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हो, जगत् में प्रसिद्ध हुआ है॥ २५१॥

जिस महाभारत के एक श्लोक का एक पाद भी श्रद्धापूर्वक पढ़ने से परमपुण्य का प्रदाता होता है, फिर जो समस्त महाभारत का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करे, तो उसके समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या ?॥ २५२॥

देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः ॥२५३॥
भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतश्चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥२५४॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥२५५॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद्विश्वं प्रवर्तते ।
सन्ततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ॥२५६॥
अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादिपरं यच्च स एव परिगीयते ॥२५७॥

इस महाभारत में देवता, देवर्षि यथा पुण्यशाली ब्रह्मर्षि एवं शुभ कर्म करनेवाले यक्षों तथा बड़े बड़े सर्पों का वृत्तान्त कहा गया है ॥ २५३ ॥

इस महाकाव्य में सनातन भगवान् वसुदेवनन्दन श्री कृष्ण का चरित्र वर्णन किया गया है, वह ही स्वयं सत्य हैं, ऋत हैं, पवित्र एवं पुण्य-स्वरूप हैं ॥२५४ ॥

वह ही शाश्वत (वस्तुदेश से अपरिच्छिन्न), ब्रह्म, परम (कार्य-कारण से अतीत), ध्रुव (कूटस्थ) ज्योति (चिन्मात्र), सनातन (काल से अपरिच्छिन्न) हैं, ऐसे होने पर भी माया से देह धारण किये हुए भगवान् कृष्ण के दिव्य कर्मों का बड़े बड़े ज्ञानी लोग गान करते हैं ॥ २५५ ॥

ऐसे होने पर भी जिस भगवान् से असत् (अनिर्वचनीय) सदसत् (कार्य कारण—उभयात्मक) रूप विश्व (प्रपञ्च) उत्पन्न होता है, सन्तति (ब्रह्मादि) प्रवृत्ति (यज्ञादि) जन्म, मरण तथा पुनर्जन्म आदि होता है ॥ २५६ ॥

जो शरीर में स्थित पञ्चभूतों का गुणात्मक (जीवरूप) सुना जाता है, वह भी यह ही हैं, तथा जो अव्यक्तादि से परे निर्विशेष वेद में कहा जाता है, वह भी यह ही हैं ॥ २५७ ॥

यत्तद्यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥२५८॥
श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ॥२५९॥
अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥२६०॥
उभे संध्ये जपन् किञ्चित्सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत् स्यादह्ना रात्र्या च सञ्चितम् ॥२६१॥
भारतस्य वपुर्ह्येतत्सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥२६२॥
आरण्यकं च वेदेभ्यश्चौषधीभ्योऽमृतं यथा ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥२६३॥

ऐसे उन भगवान् श्रीकृष्ण को योग तथा ध्यान के बल से युक्त, जीवन्मुक्त योगीश्वर लोग अपने हृदयाकाश में, दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान साक्षात्कार करते हैं ॥ २५८ ॥

सर्वदा नियमवान् तथा सर्वदा धर्मपरायण एवं श्रद्धालु, जो मनुष्य प्रतिदिन इस अध्याय का नियमपूर्वक पाठ करता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २५९ ॥

जो आस्तिक पुरुष महाभारत के इस अनुक्रमणिका अध्याय को प्रारम्भ से समाप्तिपर्यन्त सर्वदा सुनता है, वह कदापि संकट में नहीं पड़ता है ॥ २६० ॥

जो मनुष्य अनुक्रमणिका पर्व के किसी भी श्लोक को श्रद्धापूर्ण एकाग्र मन से प्रातःकाल वा सन्ध्याकाल को पढ़ता है, वह रात्रि वा दिन में सञ्चित हुए पापों से तत्काल ही मुक्त हो जाता है ॥ २६१ ॥

यह प्रथम अध्याय महाभारत का शरीर स्थानीय है, क्योंकि इसी में सत्य (ब्रह्म) अमृत (देवभाव) का वर्णन किया गया है, जिस प्रकार दही में माखन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, ओषधियों में अमृत और जलाशयों में समुद्र श्रेष्ठ है तथा पशुओं में जिस प्रकार गाय सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार इतिहासों

यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥२६४॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥२६५॥
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते ।
भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं दह्यादसंशयम् ॥२६६॥
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि ।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ॥२६७॥
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः ।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं प्राप्नुयान्नरः ॥२६८॥
एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः ।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥२६९॥

में यह महाभारत सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। जो मनुष्य इसका एक चरण भी ब्राह्मणों से श्राद्ध के समय अन्त में सुनवाता है, तो उसके पितरों को अक्षय अन्नपान मिलता है ॥ २६२-२६४ ॥

इतिहास-पुराणों की सहायता से वेदों की वृद्धि करनी चाहिये, क्योंकि वेद 'अल्पज्ञ पुरुष मेरा नाश कर देंगे' ऐसा विचार कर उनसे डरते हैं ॥ २६५ ॥

जो विद्वान् व्यास-रचित इस समस्त वेद को श्रवण करता है, वह परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है, यहाँ तक कि गर्भपात (बालहत्यादि) जैसे घोरपातक भी इस महाभारत के श्रवण से निश्चय ही विनष्ट हो जाते हैं ॥ २६६ ॥

जो मनुष्य पवित्र होकर पर्व-पर्व पर इस प्रथम अध्याय का पाठ करता है, उसको सम्पूर्ण महाभारत के पाठ का अक्षय फल मिलता है, ऐसा मेरा मत है ॥ २६७ ॥

जो मनुष्य इस आर्षग्रन्थ का श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण करता है, वह दीर्घ आयु, कीर्ति एवं स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥ २६८ ॥

पूर्वकाल में एक समय सब देवताओं ने एकत्रित होकर, तराजू में एक

चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारतमुच्यते ॥२७०॥
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ।
महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२७१॥
तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क—
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥२७२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां वैयासिक्यां संहितायां आदिपर्वण्यनुक्रमणिकाध्यायो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥



तरफ चारों वेदों को तथा दूसरी तरफ केवल भारतग्रन्थ को रखकर तोला था, तब रहस्यसहित चारों वेदों की अपेक्षा भी यह भारत ग्रन्थ अधिक रहा था, उसी दिन से इस संसार में यह महाभारत नाम से कहा जाने लगा ॥ २६९–२७० ॥

क्योंकि तोल में, महत्व की दृष्टि से भी और गुरुत्व की दृष्टि से भी जब यह सब से उत्तम रहा, इसी कारण सब ग्रन्थों की अपेक्षा बड़ा होने और अर्थ में भी सब से अधिक गम्भीर होने से यह ग्रन्थ महाभारत कहलाता है; इसमें प्रतिपादित विषय को जिसने ठीक प्रकार से अवगत कर लिया, वह पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २७१ ॥

तप भी निर्मल साधन (पापनाशक) कहा जाता है, वेदाध्ययन भी निर्मल साधन गिना जाता है, वर्णाश्रमानुसार स्वाभाविक वेदोक्तविधि भी पापनाशक कही जाती है, तथा हठात् शिलोञ्छवृत्ति भी नैर्मल्य साधन कही जाती है, परन्तु उपरोक्त यह सभी कार्य यदि शुद्ध भाव से न किये जायँ, तो यही सब पापप्रद हो जाते हैं ॥ २७२ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥



दूसरा अध्याय

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥

सौतिरुवाच

शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः।
समन्तपञ्चकाख्यञ्च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥
त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ ३ ॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान् ॥ ४ ॥
स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः।
पितॄन् सन्तर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥

ऋषिलोग बोले—हे सूतनन्दन! आपने जो समन्तपञ्चक तीर्थ का नाम लिया था, उसके सम्बन्ध में हम सब लोग आपसे यथार्थरूप से श्रवण करना चाहते हैं॥ १॥

सूतनन्दन बोले—हे विप्रवृन्द! मैं आपको उन शुभ कथाओं को सुनाता हूँ, आप सुनिये। हे नरश्रेष्ठ मुनिवृन्द! आप लोग समन्तपञ्चक के विषय में विस्तृत वृत्तान्त सुनने योग्य हैं॥ २॥

त्रेतायुग तथा द्वापरयुग के सन्धिकाल में जमदग्नि के पुत्र, शस्त्रधारियों में सर्वश्रेष्ठ भगवान् परशुरामजी ने, क्षत्रियों द्वारा पिता के वध से असहनीय क्रोध से प्रेरित हो अग्नि के तुल्य अतितेजस्वी अपने पराक्रम से, बार बार भूमण्डल पर स्थित समस्त क्षत्रिय जाति का विनाश करके समन्तपञ्चक-तीर्थ में क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए पाँच विशाल तलाव बनाये थे॥ ३–४॥

हम सभी ने सुना ही है कि क्रोध से अधीर हुए उन परशुरामजी ने रक्त से भरे हुए उन पाँचों तलावों के रुधिर से अपने पितरों का तर्पण किया था॥ ५॥

पितृवध का बदला



महामुनि परशुराम द्वारा राजा सहस्रार्जुन के मस्तक और भुजाओं का छेदन

મહામુનિ પરશુરામ દ્વારા રાજા સહસ્રાર્જુનના મસ્તક અને ભુજાઓનું છેદન.

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन् ।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥ ६ ॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते ॥ ७ ॥

राम उवाच

यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ८ ॥
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ९ ॥
एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन् ।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥१०॥

उस तर्पण से तृप्त होकर ऋचीकादि पितरों ने प्रत्यक्ष दर्शन देते हुए भगवान् परशुराम से कहा—हे राम! हे परशुराम! हे महाभाग! हे भृगुकुलावतंस! तुम्हारी इस पितृभक्ति और अद्वितीय पराक्रम से हम लोग अत्यन्त प्रसन्न हैं। हे महाप्रतापी! तुम्हारा कल्याण हो, जो भी तुम्हें अत्यन्त अभीष्ट हो, वह वर हम लोगों से माँग लो ॥ ६–७ ॥

परशुरामजी बोले—यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे कृतार्थ करने के लिये पधारे हैं, तो क्रोधावेश में आकर हीनबल वाले क्षत्रियों का जो मैंने बार बार विनाश किया है, उस महापातक से मैं मुक्त हो जाऊँ और मेरे द्वारा निर्मित रुधिर के ये पाँचों तलाव समस्त विश्व में तीर्थरूप से पवित्र एवं सुप्रसिद्ध हों—यही मैं आप से वर माँगता हूँ ॥ ८–९ ॥

'ऐसा ही होगा' इस प्रकार वरदान देते हुए पितरों ने परशुरामजी से कहा कि हे राम! तुम भी अब क्षत्रियजाति को क्षमा करो और इस हिंसाकर्म से विरत होओ, तब परशुरामजी भी शान्त हो गये और पितृगण भी पितृलोक को चले गये ॥ १० ॥

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम्।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत्परिकीर्तितम् ॥११॥
येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥१२॥
अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥१३॥
तस्मिन् परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥१४॥
समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ॥१५॥
पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः।
तदेतत् कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु सुव्रताः ॥१६॥

उन रक्तसरोवरों के चारों तरफ जो भूखण्ड फैला हुआ था, वही 'समन्त-पञ्चक' इस नाम से पवित्र तीर्थस्थल प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

जो देश जिस लक्षण से पहिचाना जाय, उस लक्षण के नाम के अनुसार ही उस देश का भी नाम रखना चाहिये—ऐसा विद्वानों का मत है ॥ १२ ॥

जिस समय कलि और द्वापर का सन्धिकाल आया, उस समय इसी समन्त-पञ्चक पुण्यक्षेत्र में कौरव और पाण्डवों का अत्यन्त भयानक महायुद्ध हुआ था ॥१३॥

भूदोष (ऊँचे-नीचे भाग) से रहित अर्थात् समतल भूमिवाले उस पवित्र धर्मक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से अठारह अक्षौहिणी सेना एकत्रित हुई थी ॥१४॥

हे द्विजबन्धुओ ! उस (समन्तपञ्चक) प्रदेश में एकत्रित वे समस्त सेनाएँ वहीं पर परस्पर युद्ध करते हुए विनाश को प्राप्त हो गई थीं। हे ब्राह्मणो ! इसी कारण उस प्रदेश का नाम समन्तपञ्चक पड़ा है ॥ १५ ॥

हे ब्राह्मणोत्तमो ! मैंने पुण्यप्रद एवं रमणीय उस समन्तपञ्चक तीर्थ का समस्त वृत्तान्त आपको सुना दिया, जिसके सम्बन्ध में आपने मुझ से जिज्ञासा की थी और जिसके कारण यह तीर्थ तीनों लोकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हो गया था ॥ १६ ॥

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥१७॥
अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम्।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ॥१८॥

सौतिरुवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥१९॥
पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥२०॥
त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥२१॥

ऋषिलोग बोले—हे सूतनन्दन ! आपने जो कहा कि—'अक्षौहिणी सेनाएँ' सो हम लोग इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १७ ॥

एक अक्षौहिणी का कितना परिमाण होता है ? उसमें कितनी पदाति सेना होती है, कितनी अश्वारोही और कितनी गजारोही तथा कितनी रथारोही ? क्योंकि आपको यह सब विदित है, अतः हम को भी सभी का स्पष्ट स्पष्ट वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥

सूतनन्दन उग्रश्रवाजी बोले—जिसमें एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक और तीन घोड़े होते हैं, उसे युद्धविद्याविशारद विद्वान् लोग एक पत्ति कहते हैं ॥ १९ ॥

सम्मिलित तीन पत्तियों को विद्वान् सेनामुख कहते हैं और तीन सेनामुखों का मिलकर एक गुल्म बनता है ॥ २० ॥

तीन गुल्मों के समूह को गण कहते हैं और तीन गणों की एक वाहिनी होती है तथा तीन वाहिनियों की एक पृतना होती है, ऐसा सैन्यशास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं ॥ २१ ॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥२२॥
अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥२३॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानाञ्च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥२४॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥२५॥
पञ्च षष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च ।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥२६॥
एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः ।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥२७॥
एतया संख्यया ह्यासन् कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डिताष्टादशैव तु ॥२८॥

तीन पृतनाओं की मिलकर एक चमू बनती है और तीन चमुओं की एक अनीकिनी कही जाती है तथा दस अनीकिनियों की एक अक्षौहिणी सेना होती है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ २२ ॥

हे ब्राह्मणोत्तमो ! गणितविद्या के तत्त्ववेत्ताओं ने गणना के द्वारा बतलाया है कि एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० रथ होते हैं और इतने ही हाथी भी होते हैं ॥ २३-२४ ॥

हे निष्पाप द्विजवरो ! तथा १०९३५० पैदल सैनिक होते हैं और ६५६१० घोड़े होते हैं ॥ २५-२६ ॥

गणितविद्या के कुशल विद्वान् उपरोक्त संख्या—परिमाण को एक अक्षौहिणी कहते हैं। हे तपस्वियो ! आपने मुझ से जो अक्षौहिणी के सम्बन्ध में पूछा था, वह मैंने आपको विस्तारपूर्वक सुना दिया है ॥ २७ ॥

हे द्विजवरो ! इसी संख्या के अनुसार कौरवों और पाण्डवों की अठारह अक्षौहिणी सेना उस समन्तपञ्चक तीर्थ में आकर एकत्रित हुई थी और उसी क्षेत्र

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः ।
कौरवान् कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥२९॥
अहानि युयुधे भीष्मो दश वै परमास्त्रवित् ।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥३०॥
अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः ।
शल्योऽर्धदिवसञ्चैव गदायुद्धमतः परम् ।
दुर्योधनस्य भीमस्य दिनार्धमभवत्तयोः ॥३१॥
तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः ।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥३२॥
यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥३३॥

में अद्भुत कर्मवाले काल ने कौरवों को कारण बनाकर सम्पूर्ण सेना का विनाश किया था ॥ २८-२९ ॥

अस्त्रविद्याधुरन्धर पितामह भीष्मजी ने दस दिन पर्यन्त युद्ध किया था और गुरुवर द्रोणाचार्यजी ने पाँच दिनों तक कुरुसेनाओं की रक्षा की थी, अर्थात् पाँच दिन तक युद्ध किया था ॥ ३० ॥

दो दिन तक शत्रुओं के बल को मर्दन करनेवाले महारथी कर्ण ने युद्ध किया था और आधे दिन तक शल्य ने युद्ध किया था तथा इसके अनन्तर गदाधारी भीम और महापराक्रमी दुर्योधन का परस्पर में आधे दिन तक अतिप्रचण्ड गदायुद्ध हुआ था ॥ ३१ ॥

उसी अठारहवें दिन की रात्रि में, जब पाण्डवों की समस्त सेना निश्चिन्त हो निर्भयता-पूर्वक सो रही थी, उस समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य ने मिलकर, उस सोती हुई सेना का विनाश किया था ॥ ३२ ॥

हे शौनकजी ! जिस सर्वग्रन्थोत्तम महाभारत का मैंने आपके यज्ञ में वर्णन किया है, इसी महाकाव्य का भगवान् वेदव्यासजी के प्रधान शिष्य श्री वैशम्पायनजी ने महाराज जनमेजय के सर्पयज्ञ में वर्णन किया था। इस महाभारत में पूर्वकालीन राजर्षियों की विमल कीर्ति तथा प्रचण्ड शौर्य का

कथितं विस्तरार्थश्च यशो वीर्यं महीक्षिताम् ।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ॥३४॥
विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥३५॥
आत्मैव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥३६॥
अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥३७॥
तदेतद्भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥३८॥
इतिहासोत्तमे ह्यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥३९॥

विस्तृत वर्णन, पौष्य, पौलोम और आस्तीक इन प्रारम्भ के तीनों पर्वों में किया गया है ॥ ३३-३४ ॥

जिस प्रकार मोक्षार्थी जन वैराग्य का अवलम्बन करते हैं, क्यों कि परम वैराग्य का ही स्वाभाविक फल मोक्ष होता है, उसी प्रकार विद्वज्जनों ने भी अद्भुत अद्भुत अर्थों, पदों और कथानकों तथा विविध रीति-भाँतियों से परिपूर्ण इस महाभारत को ही मोक्ष-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना है ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार जानने योग्य विषयों में आत्मज्ञान को श्रेष्ठ माना है और प्रिय वस्तुओं में जीवन श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शास्त्रों में ब्रह्मज्ञान करानेवाला यह महाभारत सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार भोजन के सहारे के बिना शरीर नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार संसार की ऐसी कोई कथा नहीं है, जो महाभारत के आश्रय पर न हो ॥ ३७ ॥

अपना अभ्युदय चाहनेवाले सेवक जिस प्रकार उच्च कुल के स्वामी की सेवा करते हैं, उसी प्रकार कविवृन्द भी अपनी कविता की अच्छी रचना के लिये इस महाभारत का सहारा लेते हैं ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार संसारी और शास्त्रीय ज्ञान प्रकाशित करनेवाली वाणी स्वर

तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥४०॥
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ॥४१॥
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिवंशावतारणम् ।
ततः सम्भवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥४२॥
दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ॥४३॥
ततः स्वयंवरो देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ॥४४॥
विदुरागमनं पर्व राज्यलाभस्तथैव च ।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ॥४५॥

और व्यञ्जनों में रहती है, उसी प्रकार इतिहासों में श्रेष्ठ इस महाभारत में सब से उत्तम ब्रह्मविद्या नामक ज्ञान अवस्थित है ॥ ३९ ॥

उत्तम ज्ञान के भण्डार, अद्भुत पदों और पर्वों से व्याप्त, सूक्ष्म अर्थ और न्याय से परिपूर्ण, वेद के गूढ़ार्थों से अलङ्कृत, इस महाभारत इतिहास के पर्वों की क्रमानुसार तालिका श्रवण कीजिये। इसमें प्रथम अनुक्रमणिकापर्व है, द्वितीय संग्रहपर्व है ॥ ४०-४१ ॥

इसके अनन्तर पौष्य, पौलोम और आस्तीकपर्व हैं, तदनन्तर आदिवंशावतारपर्व है और इसके बाद अद्भुत एवं रोमाञ्चजनक सम्भवपर्व है ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् जतुगृहपर्व, हैडिम्बपर्व, बकवधपर्व और चैत्ररथपर्व आते हैं ॥ ४३ ॥

फिर द्रौपदी के विवाह का पूर्वरूप स्वयंवरपर्व है, इसके बाद क्षात्रधर्म से सब को जीतकर जिसमें द्रौपदी के साथ विवाह हुआ, वह वैवाहिकपर्व है ॥ ४४ ॥

तदनन्तर विदुरागमनपर्व और राज्यलाभपर्व आता है, और इसके पश्चात् अर्जुनवनवासपर्व और सुभद्राहरणपर्व आते हैं ॥ ४५ ॥

सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेयं हरणहारिकम् ।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ॥४६॥
सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ।
जरासन्धवध पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ॥४७॥
पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः ॥४८॥
द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध उच्यते ॥४९॥
अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥५०॥
इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ॥५१॥
तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ॥५२॥

इसके अनन्तर हरणाहरणपर्व, खाण्डवदाहपर्व और मयदर्शनपर्व आते हैं ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् सभापर्व कहा गया है, फिर मन्त्रपर्व, जरासन्धवधपर्व और दिग्विजयपर्व आते हैं ॥ ४७ ॥

दिग्विजयपर्व के पश्चात् राजसूयिकपर्व कहा गया है और इसके अनन्तर अर्घाभिहरणपर्व और शिशुपालवधपर्व आते हैं ॥ ४८ ॥

तदनन्तर द्यूतपर्व आता है और इसके बाद अनुद्यूतपर्व और वनपर्व आरम्भ होते हैं, तत्पश्चात् किर्मीरवधपर्व आता है ॥ ४९ ॥

फिर अर्जुनाभिगमनपर्व आता है और इसके पश्चात् जिसमें भगवान् शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन है, ऐसा कैरातपर्व आता है ॥ ५० ॥

तदनन्तर इन्द्रलोकाभिगमनपर्व आता है और इसके पश्चात् धार्मिक एवं करुणारस से परिपूर्ण नलोपाख्यानपर्व आता है ॥ ५१ ॥

फिर प्रज्ञावान् महाराज कुरुराज की तीर्थयात्रावाला तीर्थयात्रापर्व कहा गया है, तदनन्तर जटासुरवधपर्व और यक्षयुद्धपर्व आते हैं ॥ ५२ ॥

निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः ।
मार्कण्डेयसमास्या च पर्वानन्तरमुच्यते ॥५३॥
संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ॥५४॥
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ॥५५॥
पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम् ।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥५६॥
कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम् ।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ॥५७॥
कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ।
अभिमन्योश्च वैराट्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ॥५८॥

फिर निवातकवचों के साथ जिसमें युद्ध हुआ है—वह पर्व आता है, तदनन्तर आजगरपर्व और मार्कण्डेयसमास्या-पर्व कहे गये हैं ॥ ५३ ॥

इसके पश्चात् द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व, घोषयात्रापर्व और मृगस्वप्नोद्भवपर्व आते हैं ॥ ५४ ॥

पश्चात् इसके व्रीहिद्रौणिकपर्व, ऐन्द्रद्युम्न का आख्यान, द्रौपदीहरणपर्व और जयद्रथविमोक्षणपर्व आते हैं ॥ ५५ ॥

इसके अनन्तर पतिव्रता सावित्री का अद्भुत माहात्म्य जिसमें वर्णन किया गया है—वह पर्व और रामोपाख्यानपर्व कहे गये हैं ॥ ५६ ॥

तदनन्तर कुण्डलाहरणपर्व, आरणेयपर्व आते हैं, और इसके बाद विराटपर्व प्रारम्भ होता है, तदनन्तर पाण्डवप्रवेशपर्व और समय (प्रतिज्ञा) पालनपर्व आते हैं ॥ ५७ ॥

फिर कीचकवधपर्व, गोहरणपर्व और वीर विराटतनया उत्तरा के साथ अभिमन्यु के विवाह का पर्व आता है ॥ ५८ ॥

उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ।
ततः सञ्जययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥५९॥
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।
पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ॥६०॥
यानसन्धिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ॥६१॥
सावित्रं वामदेव्यञ्च वैन्योपाख्यानमेव च ।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजकम् ॥६२॥
सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं श्वेतोपाख्यानमेव च ॥६३॥
ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणञ्च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ॥६४॥
रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्द्धनम् ॥६५॥

इसके अनन्तर परम अद्भुत उद्योगपर्व प्रारम्भ होता है, और इसके पश्चात् संजययानपर्व कहा गया है ॥ ५९ ॥

फिर धृतराष्ट्र की चिन्ताओं से परिव्याप्त प्रजागरपर्व कहा गया है, तदनन्तर गूढ़तम अध्यात्मदर्शन का जिसमें विवेचन है, ऐसा सनत्सुजातपर्व आता है ॥ ६० ॥

तदनन्तर यानसन्धिपर्व और भगवद्यानपर्व आता है, उसमें मातली का उपाख्यान, गालव का चरित्र, सावित्र, वामदेव और वैन्य का उपाख्यान, जमदग्नि का उपाख्यान तथा षोडशराजिकपर्व कहा गया है ॥ ६१-६२ ॥

इसके बाद भगवान् श्री कृष्ण का सभाप्रवेशपर्व, विदुला का पुत्रशासन तथा उसका उद्योगपर्व और सैन्यनिर्याणपर्व तथा श्वेतोपाख्यानपर्व आते हैं ॥ ६३ ॥

इसके अनन्तर भगवान् कृष्ण तथा महात्मा कर्ण का विवादपर्व है तथा कुरुपाण्डवसेनाओं का निर्याणपर्व है ॥ ६४ ॥

तदनन्तर रथातिरथसंख्यापर्व तथा अपार क्रोध को उत्पन्न करनेवाला उलूकदूताभिगमन नामक पर्व आते हैं ॥ ६५ ॥

अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ॥६६॥
जम्बूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ॥६७॥
पर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ॥६८॥
अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञापर्व चोच्यते ।
जयद्रथवधः पर्व घटोत्कचवधस्ततः ॥६९॥
ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥७०॥
कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ॥७१॥

तदनन्तर अम्बोपाख्यानपर्व आता है तथा वृद्ध पितामह भीष्म का जिसमें सेनाधिपति के रूप से अभिषेक हुआ है, ऐसा अद्भुत भीष्माभिषेचन पर्व कहा गया है ॥ ६६ ॥

इसके अनन्तर सर्वप्रथम जम्बूखण्डनिर्माणपर्व आता है, फिर भूमिपर्व कहा गया है, जिसमें द्वीपों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

तदनन्तर भगवद्गीतापर्व, भीष्मवधपर्व, गुरु द्रोणाचार्य जिसमें सेनाधिपति पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं—ऐसा द्रोणाभिषेकपर्व और संशप्तकवधपर्व आते हैं ॥ ६८ ॥

तदनन्तर अभिमन्युवधपर्व, प्रतिज्ञापर्व, जयद्रथवधपर्व और घटोत्कचवध पर्व कहे गये हैं ॥ ६९ ॥

तदनन्तर रोमाञ्च खड़े करनेवाला द्रोणवधपर्व है, तत्पश्चात् नारायणास्त्रमोक्ष-पर्व कहा गया है ॥ ७० ॥

तदनन्तर कर्णपर्व, शल्यपर्व और ह्रदप्रवेशपर्व तथा गदायुद्धपर्व कहे गये हैं ॥ ७१ ॥

सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।
अत ऊर्ध्वं सुबीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ॥७२॥
ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ॥७३॥
श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदैहिकम् ।
चार्वाकस्य वधः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ॥७४॥
आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः ।
प्रविभागो गृहाणाञ्च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥७५॥
शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम् ।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥७६॥
शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम् ।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासःसंवादश्चैव मायया ॥७७॥

तदनन्तर सारस्वतपर्व आता है, जिसमें अनेक तीर्थों तथा वंशों का वर्णन किया गया है और इसके बाद अत्यन्त बीभत्स रस से पूर्ण सौप्तिकपर्व कहा गया है ॥ ७२ ॥

तदनन्तर जो अत्यन्त दारुण है, ऐसा ऐषीकपर्व कहा गया है और फिर जलप्रदानिकपर्व और स्त्रीविलापपर्व आते हैं ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् जिसमें मृत कौरवों की उत्तरक्रिया का वर्णन है, ऐसा श्राद्धपर्व आता है और इसके बाद ब्राह्मणवेशधारी राक्षस चार्वाक का जिसमें वध किया गया है, ऐसा चार्वाकराक्षसवध पर्व आता है ॥ ७४ ॥

तदनन्तर परमज्ञानी धर्मराज युधिष्ठिर का जिसमें अभिषेक वर्णित है, ऐसा राज्याभिषेक पर्व आता है और इसके बाद गृहप्रविभागपर्व आता है ॥ ७५ ॥

तदनन्तर शान्तिपर्व आता है, जिसमें राजधर्मानुशासनपर्व है, इसके पश्चात् आपद्धर्मपर्व और मोक्षधर्मपर्व आते हैं ॥ ७६ ॥

तदनन्तर शुकप्रश्नाभिगमन पर्व तथा ब्रह्मप्रश्नानुशासनपर्व आते हैं, इसके अनन्तर दुर्वासाप्रादुर्भावपर्व तथा मायासंवादपर्व आते हैं ॥ ७७ ॥

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम् ।
स्वर्गारोहणिकश्चैव ततो भीष्मस्य धीमतः ॥७८॥
ततोऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम् ।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥७९॥
पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च ।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥८०॥
मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम् ।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥८१॥
हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम् ।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा ॥८२॥
भविष्यं पर्व चाप्युक्तं खिले चैवाद्भुतं महत् ।
एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ॥८३॥

तदनन्तर धर्माधर्म का उपदेश करनेवाला आनुशासनिक पर्व आता है और इसके पश्चात् बुद्धिमान् पितामह भीष्मजी का स्वर्गारोहणिक पर्व आता है ॥ ७८ ॥

इसके अनन्तर समस्त पापों को नष्ट करनेवाला आश्वमेधिक पर्व आता है और फिर अध्यात्मज्ञान से परिपूर्ण अनुगीता पर्व आरम्भ होता है ॥ ७९ ॥

तदनन्तर आश्रमवासिक पर्व, पुत्रदर्शनपर्व और नारदागमनपर्व क्रमशः आते हैं ॥ ८० ॥

तत्पश्चात् जिसमें अत्यन्त भयानक तथा दारुण वर्णन किया गया है, ऐसा मौसलपर्व आता है और इसके बाद महाप्रस्थानपर्व तथा स्वर्गारोहणिकपर्व आते हैं ॥ ८१ ॥

तदनन्तर हरिवंशपर्व है, जो खिलपुराण के नाम से भी प्रसिद्ध है, फिर विष्णुपर्व, विष्णु का बाल्यक्रीडापर्व तथा कंसवधपर्व आते हैं ॥ ८२ ॥

इसके अनन्तर सम्पूर्ण पर्वों से अद्भुत एवं सब से बड़ा भविष्यपर्व आता है, इस प्रकार महात्मा श्री वेदव्यासजी ने १०० पर्वों की रचना की है ॥ ८३ ॥

यथावत् सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥८४॥
समासो भारतस्यायमत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिवंशावतारणम् ॥८५॥
सम्भवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बबकयोर्वधः ।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ॥८६॥
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ।
विदुरागमनञ्चैव राज्यलाभस्तथैव च ॥८७॥
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः ।
हरणाहरणञ्चैव दहनं खाण्डवस्य च ॥८८॥
मयस्य दर्शनञ्चैव आदिपर्वणि कथ्यते ।
पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ॥८९॥
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परकीर्तितः ।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च संभवः ॥९०॥

सूतनन्दन उग्रश्रवा ने इन्हीं पर्वों को अठारह महापर्वों में क्रमानुसार सुसम्बद्ध कर नैमिषारण्य में समुपस्थित ऋषिवृन्द को सुनाया था ॥ ८४ ॥

मैं अब आप लोगों को महाभारत के पर्वों का संग्रह संक्षेप से सुनाता हूँ—पौष्य, पौलोम, आस्तीक, आदिवंशावतरण ॥ ८५ ॥

सम्भव, लाक्षागृहदहन, हिडिम्बवध, बकवध, चैत्ररथ तथा द्रौपदीस्वयंवर-पर्व ॥ ८६ ॥

क्षात्रधर्म से विजयप्राप्ति वाला वैवाहिकपर्व, विदुरागमन तथा राज्य-लाभपर्व ॥ ८७ ॥

अर्जुनवनवासपर्व, सुभद्राहरण, हरणाहरण तथा खांडववनदहनपर्व ॥ ८८ ॥

तथा मयदानवदर्शनपर्व—ये समस्त पर्व आदिपर्व में कहे गये हैं । पौष्यपर्व में उत्तङ्क का माहात्म्य वर्णन किया गया है ॥ ८९ ॥

पौलोमपर्व में भृगुवंश का विस्तार वर्णन किया गया है तथा आस्तीकपर्व

क्षीरोदमथनञ्चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा ।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ॥९१॥
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम् ।
विविधाः सम्भवा राज्ञामुक्ताः सम्भवपर्वणि ॥९२॥
अन्येषाञ्चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च ।
अंशावतरणं चात्र देवानां परकीर्तितम् ॥९३॥
दैत्यानां दानवानां च यक्षाणाञ्च महौजसाम् ।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम् ॥९४॥
अन्येषाञ्चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ॥९५॥
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥९६॥
वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शन्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥९७॥

में सब नागों तथा गुरुडजी की उत्पत्ति, क्षीर समुद्र का मथन, उच्चैःश्रवा नामक घोड़े की उत्पत्ति तथा अन्त में सर्पयज्ञ करते हुए महाराज जनमेजय की कथा वर्णन की गई है और संभवपर्व में भरतवंशीय महान् राजाओं के विविध प्रकार से जन्म वर्णन किये गये हैं ॥ ९०–९२ ॥

अन्य भी शूरवीरों का और महर्षि श्री कृष्णद्वैपायन का वृत्तान्त वर्णन किया गया है। अंशावतरण नामक पर्व में देवता, दानव, दैत्य तथा महापराक्रमी यक्ष, नाग, सर्प, गन्धर्व, पक्षी तथा अन्य विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति का वर्णन तथा महर्षि कण्व के आश्रम में महाराज दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के गर्भ से भरत नामक पुत्र का जन्म कहा गया है, उसी बालक के नाम से सम्पूर्ण विश्व में यह कुल 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हुआ है ॥ ९३–९६ ॥

महाराज शन्तनु के घर में गङ्गाजी से महात्मा वसुओं का पुनः जन्म तथा बाद में उनका स्वर्गगमन भी इस पर्व में वर्णन किया है ॥ ९७ ॥

तेजोंऽशानाञ्च सम्पातो भीष्मस्याप्यत्र सम्भवः।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥९८॥
प्रतिज्ञापालनञ्चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥९९॥
विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये संप्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु संभूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥१००॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानाञ्च सम्भवः ॥१०१॥
वारणावतयात्रायां मन्त्रो दुर्योधनस्य च।
कूटस्य धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ॥१०२॥
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ॥१०३॥
विदुरस्य च वाक्येन सुरुङ्गोपक्रमक्रिया।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ॥१०४॥

उन वसुओं के तेजो-अंश से भीष्म का जन्म, उनका राज्यत्याग, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन तथा प्रतिज्ञा पालन, चित्राङ्गद की रक्षा, चित्राङ्गद की मृत्यु के उपरान्त छोटे भाई की रक्षा और विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक करना तथा महर्षि माण्डव्य के शाप से मनुष्ययोनि में धर्मराज यम की उत्पत्ति,—॥ ९८-१०० ॥

तथा भगवान् वेदव्यास के वरदान से धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा पाँचों पाण्डवों की उत्पत्ति कही गई है ॥ १०१ ॥

लाक्षागृहदाहपर्व में दुर्योधन से अलग रहने के विचार से पाण्डवों का वारणावत गमन, कूटनीतिज्ञ दुर्योधन का पाण्डवों की खोज के लिये गुप्तचरों को भेजना ॥ १०२ ॥

विदुर का धर्मराज युधिष्ठिर को, उनकी हितकामना के लिये म्लेच्छभाषा में उपदेश देना ॥ १०३ ॥

विदुर के कथनानुसार पाण्डवों का सुरङ्ग खुदवाने का कार्यारम्भ, लाक्षागृह में अपने पाँचों पुत्रों के साथ सोती हुई एक भीलनी तथा पुरोचन का उस भवन में

पुरोचनस्य चात्रैव दहनं संप्रकीर्तितम् ।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ॥१०५॥
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात् ।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥१०६॥
महर्षेर्दर्शनञ्चैव व्यासस्यामिततेजसः ।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥१०७॥
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः ।
बकस्य निधने चैव नागराणाञ्च विस्मयः ॥१०८॥
सम्भवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव हि ।
ब्राह्मणात्समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ॥१०९॥
द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरदिदृक्षया ।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ॥११०॥

जलकर भस्म हो जाना, और उस घनघोर जंगल में पाण्डवों को हिडिम्बा का दर्शन ॥ १०४–१०५ ॥

प्रचण्डबलशाली भीमसेन द्वारा वहीं पर हिडिम्ब राक्षस का वध और घटोत्कच की उत्पत्ति का वर्णन करना ॥ १०६ ॥

तथा पाण्डवों को महर्षि वेदव्यासजी का दर्शन होना भी इसी पर्व में वर्णन किया गया है। बकवधपर्व में श्री वेदव्यासजी की आज्ञा से एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण के घर पाण्डवों का अज्ञातवास वर्णन किया गया है तथा बकासुर के वध से नागरिकों के विस्मय का भी वर्णन किया गया है ॥ १०७–१०८ ॥

द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न के जन्म का वर्णन, ब्राह्मण के मुख से द्रौपदी के स्वयंवर का वृत्तान्त सुनकर श्री वेदव्यासजी की आज्ञा से प्रेरित हो द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये स्वयंवर देखने की इच्छा से पाण्डवों का कौतूहल से पञ्चाल देश में जाने का वर्णन किया गया है ॥ १०९–११० ॥

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा ।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ॥१११॥
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम् ।
भ्रातृभिः सहितैः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ॥११२॥
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्त्वा धनञ्जयः ।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ॥११३॥
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान् पृथिवीपतीन् ।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ॥११४॥
दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम् ।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान् रामकृष्णौ महामती ॥११५॥
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालाम्भार्गववेश्मनि ।
पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च ॥११६॥

चैत्ररथवधपर्व में अर्जुन का गंगातट पर अङ्गारपर्ण गन्धर्व को जीतना और फिर उसके साथ मित्रता करना तथा वहीं उससे तापत्य, वासिष्ठ और और्व नामक तीन उत्तम कथाओं का श्रवण करना—यह सब वर्णन किया गया है। द्रौपदीस्वयंवर पर्व में अर्जुन का अपने भाइयों के साथ पञ्चाल देश को गमन ॥ १११-११२ ॥

स्वयंवर में समागत सभी राजाओं के समक्ष मत्स्य भेदन करके अर्जुन का द्रौपदी को प्राप्त करना तथा अतिपराक्रमी भीमसेन और अर्जुन का क्रोधोन्मत्त राजाओं तथा शल्य और कर्ण को भी पराजित करना, यह सब वर्णन किया गया है ॥ ११३-११४ ॥

वैवाहिकपर्व में उन दोनों भाइयों के उस अमानवीय अतुल पराक्रम को देखकर, यह पाण्डव ही हैं ऐसी मन में शंका करके परमज्ञानी भगवान् श्री कृष्ण तथा बलदेवजी का कुम्हार के घर में ठहरे हुए पाण्डवों से मिलने को जाना तथा महाराज द्रुपद का अपनी पुत्री द्रौपदी का पाँचों भाइयों के साथ विवाह के सम्बन्ध में विचार-विमर्श ॥ ११५-११६ ॥

पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥११७॥
क्षत्तुश्च धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ।
विदुरस्य च सम्प्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च ॥११८॥
खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धशासनम् ।
नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया ॥११९॥
सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम् ।
अनन्तरञ्च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम् ॥१२०॥
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम् ।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थे कृतनिश्चयः ॥१२१॥
समयं पालयन्वीरो वनं यत्र जगाम ह ।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः ॥१२२॥

पाँचों इन्द्रियों की अद्भुत कथा भी इसी पर्व में कही गई है तथा देवताओं द्वारा किये गये द्रौपदी के अमानुष विवाह का भी रोचक वर्णन किया गया है ॥११७॥

विदुरागमनपर्व में दुर्योधन का पाण्डवों के समीप विदुरजी को भेजना, विदुरजी का आगमन तथा वहाँ पर भगवान् कृष्ण के दर्शन करना और पाण्डवों को दिल्ली में ठहराना, ये सभी कथाएँ वर्णन की गई हैं, तदनन्तर राज्य-लाभपर्व में पाण्डवों को आधे राज्य का शासन मिलना तथा महर्षि नारदजी की आज्ञा से द्रौपदी के पास जाने का समय नियत करना, इत्यादि कथाएँ वर्णित हैं ॥ ११८-११९ ॥

अर्जुनवनवासपर्व में सुन्द और उपसुन्द की कथा कही गई है, इसके पश्चात् जहाँ एकान्त में राजा युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ बैठे हुए थे, उस स्थान में प्रवेश करके, 'घर में जाकर उसे छुड़ाना चाहिये' ऐसे दृढ़निश्चयवाले अर्जुन का वहाँ से अस्त्र लेना, नियमपालन के भंग से अर्जुन का वन को जाना तथा वनवास के काल में अर्जुन का उलूपी नाम की नागकन्या से मार्ग में समागम होना ॥ १२०-१२२ ॥

पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ।
तत्रैव मोचयामास पञ्च सोऽप्सरसः शुभाः ॥१२३॥
शापाद्ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः ॥१२४॥
द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी ।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥१२५॥
गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने ।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः ॥१२६॥
द्रौपद्यास्तनयानाञ्च सम्भवोऽनुप्रकीर्तितः ।
विहारार्थञ्च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु ॥१२७॥
सम्प्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद्भुजङ्गस्य च मोक्षणम् ॥१२८॥

अर्जुन का पवित्र तीर्थस्थलों में भ्रमण, बभ्रुवाहन का जन्म तथा तपस्वी ब्राह्मण के शाप से मत्स्ययोनि को प्राप्त पाँच सुन्दरी अप्सराओं का अर्जुनकृत मोक्ष और प्रभासक्षेत्र में भगवान् कृष्ण के साथ अर्जुन का मिलन, ये सब कथाएँ इस पर्व में वर्णित हैं ॥ १२३-१२४ ॥

तदनन्तर सुभद्राहरणपर्व में भगवान् श्री कृष्ण की अनुमति से, सुभद्रा के रूप पर आसक्त गाण्डीवधारी अर्जुन का द्वारका से सुभद्रा का हरण, वर्णन किया गया है ॥ १२५ ॥

हरणहारिकपर्व में भगवान कृष्ण की अनुमति से सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह करना और सुभद्रा के गर्भ से अत्यन्त तेजस्वी अभिमन्यु का जन्म होना ॥ १२६ ॥

तथा द्रौपदी के पुत्रों का जन्म भी इसी पर्व में वर्णन किया गया है। तदनन्तर खाण्डववनदाहपर्व में भगवान् श्री कृष्ण तथा अर्जुन को यमुना तट पर भ्रमण करते हुए चक्र और धनुष की उपलब्धि होना, खाण्डववन का दाह, उस दावाग्नि में से मयदानव तथा एक नाग के प्राणों की रक्षा करना ॥ १२७-१२८ ॥

महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसम्भवः ।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम् ॥१२९॥
अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥१३०॥
अष्टौ श्लोक-सहस्राणि अष्टौ श्लोक-शतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ॥१३१॥
द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किङ्कराणाञ्च दर्शनम् ॥१३२॥
लोकपालसभाख्यानं नारदाद्देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासन्धवधस्तथा ॥१३३॥
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोचनम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ॥१३४॥

महर्षि मन्दपाल का शार्ङ्गी नामक पक्षी से जन्म भी इसी पर्व में वर्णित है, इस प्रकार अत्यन्त विस्तारवाला यह आदिपर्व सर्वप्रथम कहा गया है ॥ १२९ ॥

परमतेजस्वी भगवान् वेदव्यासजी ने इस आदिपर्व में दो सौ सत्ताईस अध्यायों की रचना की है ॥ १३० ॥

तथा इन दो सौ सत्ताईस अध्यायों में आठहजार, आठसौ चौरासी श्लोक हैं, इस प्रकार का यह आदिपर्व रचा गया है ॥ १३१ ॥

अनेक कथानकों से परिपूर्ण दूसरा सभापर्व कहा गया है, इसमें पाण्डवों का सभानिर्माण करना, किंकर नामक राक्षसों का दीखना ॥ १३२ ॥

देवलोकों में पर्यटनकारी देवर्षि नारद का लोकपालों की सभा की कथा सुनाना, राजसूययज्ञ का आरम्भ होना और भीम द्वारा जरासन्ध का वध करना ॥ १३३ ॥

गिरिव्रज में कैद किये हुए राजाओं को भगवान् श्री कृष्ण द्वारा बन्धन से मुक्त करना, तथा पाण्डवों का दिग्विजय करना ॥ १३४ ॥

राज्ञामागमनश्चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥१३५॥
यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥१३६॥
यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥१३७॥
यत्र द्यूतार्णवे मग्नां द्रौपदीं नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिताम् ॥१३८॥
तारयामास तांस्तीर्णान् ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥१३९॥
जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत् सर्वं सभापर्वं समाख्यातं महात्मना ॥१४०॥

बहुमूल्य उपहारों (भेटों) के सहित बड़े बड़े नरेशों का उस विराट् राजसूय यज्ञ में आगमन और उस राजसूय यज्ञ में सर्व प्रथम किस की पूजा की जाय, इस भीषण वादविवाद के प्रसङ्ग में शिशुपाल का बध करना ॥ १३५ ॥

उस महायज्ञ में पाण्डवों की अतुल धनराशि एवं ऐश्वर्य को देखकर दुर्योधन को ईर्ष्या एवं क्रोध उत्पन्न होना और उसी यज्ञमण्डप में भीमसेन द्वारा दुखित दुर्योधन का उपहास करना ॥ १३६ ॥

उपहास से सन्तप्त दुर्योधन का युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलने का प्रयत्न करना, और उस जुए में कपटी शकुनि द्वारा युधिष्ठिर को जीतना ॥१३७॥

उस जुआ रूपी समुद्र की उत्ताल तरंगों में डूबती हुई नौका की भाँति परम दुःखिता पुत्रवधू द्रौपदी को परम विद्वान् महाराज धृतराष्ट्र द्वारा उबारना (अभय प्रदान करना) तदनन्तर पाण्डवों को संकटमुक्त देखकर दुर्योधन द्वारा पुनः पाण्डवों का जुआ खेलने के लिये आमन्त्रित करना ॥ १३८-१३९ ॥

और उस जुए में पाण्डवों को पुनः जीतकर, उन्हें वनवास के लिए दुर्योधन द्वारा वन में भेजना—ये सब कथाएँ महात्मा वेदव्यासजी ने सभापर्व में वर्णन करी हैं ॥ १४० ॥

अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्चश्लोकशतानि च ॥१४१॥
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन् द्विजोत्तमाः ।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ॥१४२॥
वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पौरानुगमनञ्चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥१४३॥
अन्नौषधीनाञ्च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थञ्च कृतमाराधनं रवेः ॥१४४॥
धौम्योपदेशात्तिग्मांशुप्रसादादन्नसंभवः ।
हितञ्च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ॥१४५॥
त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनञ्चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१४६॥
कर्णप्रोत्साहनाच्चैव धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान् पांडवान् हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च ॥१४७॥

हे द्विजवरो ! इस सभापर्व में ७८ अध्याय हैं, और इन अध्यायों में कुल मिलाकर दो हजार पाँच सौ ग्यारह श्लोक हैं। अब इसके अनन्तर आरण्यक नामक तीसरे बहुत बड़े पर्व का प्रारम्भ होता है ॥ १४१-१४२ ॥

महात्मा पाण्डवों के वनगमन के उपरान्त नगरवासियों का धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पीछे पीछे बन को जाना ॥ १४३ ॥

वहाँ पर धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा अन्न और ओषधि के निमित्त तथा ब्राह्मणों के भरण-पोषण के निमित्त भगवान् सूर्यदेव की आराधना करना ॥ १४४ ॥

महर्षि धौम्यजी के उपदेशानुसार आराधना करने से प्रसन्न हुए सूर्य भगवान् से अक्षय अन्नपात्र की प्राप्ति होना तथा सर्वदा स्वामी का हित चिंतन तथा कथन करनेवाले विदुरजी का धृतराष्ट्र द्वारा राज्य से निष्कासन ॥ १४५ ॥

धृतराष्ट्र से परित्यक्त विदुरजी का पाण्डवों के समीप में जाना तथा पुनः धृतराष्ट्र की आज्ञा से हस्तिनापुर में आना ॥ १४६ ॥

कर्ण के प्रोत्साहन से दुर्मति दुर्योधन का वन में स्थित पाण्डवों के मारने के लिये गुप्त मन्त्रणा करना ॥ १४७ ॥

तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम्।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ॥१४८॥
मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम्।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ॥१४६॥
किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानाञ्च सर्वशः ॥१५०॥
श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान्।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ॥१५१॥
परिदेवनञ्च पाञ्चाल्या वासुदेवस्य सन्निधौ।
आश्वासनञ्च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ॥१५२॥
तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा।
सुभद्रायाः सपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरीम् ॥१५३॥

दुर्योधन के निकृष्टतम विचार को जानकर भगवान् वेदव्यासजी का तत्काल उसके समीप आना और इस गर्हित पापकर्म से उसे रोकना, इसके अनन्तर सुरभि की कथा ॥ १४८ ॥

मैत्रेयजी का आगमन और महाराज धृतराष्ट्र को उपदेश देना तथा दुर्मति दुर्योधन को शाप देना ॥ १४६ ॥

महाबली भीम द्वारा युद्ध में किर्मीर का वध करना, यादवों तथा पाञ्चालों का पाण्डवों के समीप में आना ॥ १५० ॥

शकुनि ने जुए में कपट से पाण्डवों को पराजित किया है, ऐसा सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण का कुपित होना और अर्जुन का भगवान् के क्रोध को शान्त करना ॥ १५१ ॥

वसुदेवनन्दन श्री कृष्ण के समीप द्रौपदी का विलाप करना और भगवान् कृष्ण का दुःखार्त्ता उस द्रौपदी को आश्वासन देना ॥ १५२ ॥

फिर उसी समय भगवान् कृष्ण का सौभवध की कथा सुनाना तथा सुभद्रा का पुत्रसहित भगवान् कृष्ण के साथ द्वारकापुरी को जाना ॥ १५३ ॥

नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव हि।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ॥१५४॥
धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ॥१५५॥
समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा।
प्रतिस्मृत्याथ विद्याया दानं राज्ञो महर्षिणा ॥१५६॥
गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥१५७॥
महादेवेन युद्धश्च किरातवपुषा सह।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ॥१५८॥
महेन्द्रलोकगमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः।
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ॥१५९॥

द्रौपदी के पुत्रों का धृष्टद्युम्न के साथ पाञ्चाल देश को जाना और इसके पश्चात् पाण्डवों का रम्य द्वैतवन में प्रवेश करना ॥ १५४ ॥

उसी वन में द्रौपदी के साथ धर्मराज युधिष्ठिर का सम्वाद होना और भीम का भी युधिष्ठिर के साथ वार्तालाप होना, वर्णन किया गया है ॥ १५५ ॥

वहीं पर भगवान् वेदव्यासजी का पाण्डवों के समीप में आगमन और धर्मराज युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नाम की विद्या का सिखाना ॥ १५६ ॥

श्री वेदव्यासजी के प्रस्थान के पश्चात् पाण्डवों का काम्यक वन में गमन और इसके अनन्तर अद्वितीय पराक्रमी अर्जुन का अस्त्रप्राप्ति के निमित्त प्रयाण करना ॥ १५७ ॥

किरात का भेष धारण किये हुए श्री महादेवजी के साथ अर्जुन का युद्ध करना, लोकपालों का दर्शन होना और दिव्य अस्त्र की प्राप्ति होना ॥ १५८ ॥

धनुर्धर अर्जुन का अन्य दिव्यास्त्र प्राप्ति की इच्छा से इन्द्रलोक को जाना और इस संवाद को सुनकर धृतराष्ट्र का अत्यन्त चिन्तातुर होना ॥ १५९ ॥

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ॥१६०॥
नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ॥१६१॥
तथाऽक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः ।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात् पाण्डुसुतान् प्रति ॥१६२॥
वनवासगतानाञ्च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥१६३॥
सन्देशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनक्रिया ।
तीर्थानाञ्च फलप्राप्तिः पुण्यत्वञ्चापि कीर्त्तितम् ॥१६४॥
पुलस्त्यतीर्थयात्रा च नारदेन महर्षिणा ।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पांडवानां महात्मनाम् ॥१६५॥

अत्यन्त पवित्रात्मा महर्षि बृहदश्व का दर्शन देना और उनके समक्ष परम दुखित युधिष्ठिर का जुए के कारण उत्पन्न अनर्थ का वर्णन एवं विलाप करना ॥ १६० ॥

युधिष्ठिर के शोक को शान्त करने के लिये महर्षि द्वारा महाराज नल की करुणारस से भरी धार्मिक कथा सुनाना, जिसमें पतिव्रता दमयन्ती का धैर्य और महाराज नल का श्रेष्ठ चरित्र वर्णित है । ॥ १६१ ॥

तथा उन्हीं महर्षि से द्यूत (जुआ) विद्या के रहस्य का ज्ञान प्राप्त होना । महर्षि लोमशजी का वहाँ पर स्वर्ग से पाण्डवों के समीप आगमन ॥ १६२ ॥

वन में निवास करनेवाले महात्मा पाण्डवों को महर्षि लोमश द्वारा स्वर्ग में अस्त्रविद्या सीखने के लिए गये हुए अर्जुन का सब वृत्तान्त सुनाना ॥ १६३ ॥

अर्जुन का वृत्तान्त सुनने के पश्चात् पाण्डवों का तीर्थयात्रा प्रारम्भ करना। तदनन्तर तीर्थयात्रा से पुण्यफल की प्राप्ति और तीर्थों के पुण्य माहात्म्य का वर्णन किया गया है ॥ १६४ ॥

देवर्षि नारद द्वारा पुलस्त्यतीर्थ की यात्रा के लिये पाण्डवों को आज्ञा देना और महात्मा पाण्डवों का पुलस्त्यतीर्थ की यात्रा करना ॥ १६५ ॥

कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तिता ॥१६६॥
आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम् ।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ॥१६७॥
ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥१६८॥
कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानाञ्च वर्ण्यते ।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ॥१६९॥
सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ।
शार्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान् सोमपीतिनौ ॥१७०॥
ताभ्याञ्च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः ।
मान्धातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम् ॥१७१॥

यहीं पर देवराज इन्द्र ने महारथी कर्ण से कुण्डलों को लिया था तथा महाराज गय के यज्ञ की बड़ी भारी विभूति भी यहीं पर वर्णन की गई है ॥ १६६ ॥

इसके अनन्तर महर्षि अगस्त्यजी की कथा आती है, जिस में महर्षि ने वातापि नाम के राक्षस का भक्षण किया है और पुत्रप्राप्ति की इच्छा से अगस्त्यजी ने लोपामुद्रा के पास गमन किया है ॥ १६७ ॥

इसके पश्चात् बालब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्गजी का चरित्र आता है और इसके बाद महर्षि जमदग्नि के पुत्र परमतेजस्वी श्री परशुरामजी का चरित्र आता है ॥ १६८ ॥

जिसमें परशुरामजी द्वारा कार्तवीर्य तथा हैहयवंश के राजाओं के वध का वर्णन किया गया है. तदनन्तर प्रभासतीर्थ में पाण्डवों का यादवों के साथ सम्मिलन वर्णन किया गया है ॥ १६९ ॥

तदनन्तर सुकन्या की कथा आती है, जिसमें भृगु के पुत्र च्यवन महर्षि ने महाराज शर्याति के यज्ञ में अश्विनीकुमारों को सोमपान कराया था और इससे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने महर्षि को युवावस्था प्रदान की थी और इसी में महाराज मान्धाता की कथा भी वर्णन की गई है ॥ १७०-१७१ ॥

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः।
पुत्रार्थमयजद्राजा लेभे पुत्रशतञ्च सः ॥१७२॥
ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम्।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मश्चाप्यजिज्ञासञ्छिबिं नृपम् ॥१७३॥
अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र वन्दिना।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ॥१७४॥
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च।
पराजितो यत्र वन्दी विवादेन महात्मना ॥१७५॥
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ॥१७६॥
नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने।
व्रजन् पथि महाबाहुर्दृष्टवान् पवनात्मजम् ॥१७७॥

इसी में जन्तूपाख्यान भी कहा गया है, जिसमें राजा सोमक ने पुत्रप्राप्ति की इच्छा से यज्ञ में अपने एक पुत्र का बलिदान देकर सौ पुत्रों को प्राप्त किया था ॥ १७२ ॥

तदनन्तर श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर) वाली कथा आती है, जिसमें इन्द्र, अग्नि और धर्म ने राजा शिवि की परीक्षा की थी ॥ १७३ ॥

तदनन्तर अष्टावक्रजी की कथा आती है, जिसमें नैयायिक विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ वरुण के पुत्र वन्दी के साथ ब्रह्मर्षि अष्टावक्रजी का महाराज जनक के यज्ञ में शास्त्रार्थ हुआ था और उसमें वन्दी पराजित हुआ था ॥ १७४-१७५ ॥

इस प्रकार विजयी होकर महर्षि अष्टावक्रजी का समुद्र में निमग्न अपने पिता से मिलना, तदनन्तर यवक्रीत और महात्मा रैभ्य की कथा आती है, इसके पश्चात् पाण्डवों की गन्धमादन की यात्रा और नारायणाश्रम में निवास का वर्णन आता है ॥ १७६ ॥

द्रौपदी के कहने से कमल लाने के लिये अत्यन्त बलशाली भीमसेन का

कदलीखण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम् ।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ॥१७८॥
यत्रास्य युद्धमभवत् सुमहद्राक्षसैः सह ।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥१७९॥
जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात् ।
वृषपर्वणो राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ॥१८०॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च ।
प्रोत्साहनञ्च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः ॥१८१॥
कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः ।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ॥१८२॥
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥१८३॥

गन्धमादनपर्वत को प्रस्थान करना तथा मार्ग में जाते हुए भीमसेन का पवनसुत श्री हनूमान्‌जी का दर्शन होना कहा गया है ॥ १७७ ॥

जहाँ अतुलपराक्रमी श्री हनूमान्‌जी केलों के सुन्दर वन में विराजमान थे, उसी स्थान पर सुगन्धयुक्त कमलों से परिपूर्ण उस सरोवर में कमल चयन के लिये भीमसेन का उतरना, इस कारण उस सरोवर के अनेक कमलों का नष्ट होना तथा जलतरङ्गों का कलुषित होना, इस कार्य से विक्षुब्ध हो मणिमान् जिनमें प्रमुख था, ऐसे यक्षों तथा महाभयंकर राक्षसों के साथ भीमसेन का युद्ध करना,—॥ १७८-१७९ ॥

बलशाली भीम द्वारा जरासुर नामके विशालकाय राक्षस का वध करना, तदनन्तर राजर्षि वृषपर्वा का आगमन वर्णित है ॥ १८० ॥

तदनन्तर पाण्डवों का आर्ष्टिषेण नामक आश्रम को प्रस्थान करना और वहीं निवास करना तथा वहीं पर द्रौपदी का भीमसेन को प्रोत्साहित करना, फिर भीम का कैलासपर्वत पर चढ़ना, जहाँ पर अत्यन्तबलशाली मणिमान् आदि प्रमुख यक्षों के साथ भीमसेन का घनघोर युद्ध करना, ॥ १८१-१८२ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुन द्वारा अपने ज्येष्ठभ्राता के लिये दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के अनन्तर हिरण्यपुरनिवासी निवातकवचों के साथ युद्ध करना, ॥ १८३ ॥

निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः ।
पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ॥१८४॥
वधश्चैषां समाख्यातो राज्ञस्तेनैव धीमता ।
अस्त्रसन्दर्शनारम्भो धर्मराजस्य सन्निधौ ॥१८५॥
पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा ।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूनां गन्धमादनात् ॥१८६॥
भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा ।
भुजगेन्द्रेण बलिना तस्मिन् सुगहने वने ॥१८७॥
अमोक्षयद्यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः ।
काम्यकागमनश्चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ॥१८८॥
तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान् पुरुषर्षभान् ।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ॥१८९॥

निवातकवच नामक भयंकर दानवों के साथ तथा देवताओं के शत्रु पौलोम और कालकेयों के साथ वीर अर्जुन का महाभयानक युद्ध करना और उस युद्ध में उन सभी का विनाश करना, यह सभी वृत्तान्त बुद्धिमान् अर्जुन द्वारा युधिष्ठिरजी को सुनाना तथा धर्मराज युधिष्ठिर के समीप में आकर अर्जुन का दिव्य अस्त्रों को दिखाना,—॥ १८४-१८५ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारद द्वारा अर्जुन को ऐसा करने से रोकना और पाण्डवों का गन्धमादन पर्वत से नीचे उतरना,—॥ १८६ ॥

लौटते समय उस गहन वन में पर्वत के समान विशालकाय अत्यन्त बलशाली सर्पराज द्वारा भीमसेन को निगल जाना,—॥ १८७ ॥

सर्पराज द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देकर धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा भीमसेन को मुक्त कराना, तदनन्तर महात्मा पाण्डवों का काम्यकवन में आगमन वर्णन किया गया है ॥ १८८ ॥

इसी वन में स्थित, पुरुषों में श्रेष्ठ पाण्डवों से पुनः मिलने की इच्छा से भगवान् श्री कृष्ण का आगमन भी वर्णित है ॥ १८९ ॥

मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः ।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ॥१९०॥
संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः ।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ॥१९१॥
मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते ।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ॥१९२॥
पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम् ।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ॥१९३॥
पुनर्द्वैतवनश्चैव पाण्डवाः समुपागताः ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ॥१९४॥
ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोऽसौ किरीटिना ।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनम् ॥१९५॥

इसके पश्चात् मार्कण्डेय महर्षि से मिलने की कथा आती है, जिसमें उन ऋषिप्रवर के द्वारा अनेक कथाएँ वर्णित हैं, उनमें वेन के पुत्र महाराज पृथु की कथा प्रमुख रूप से वर्णित है, तथा परमसन्त महर्षि तार्क्ष्य का सरस्वती के साथ संवाद वर्णन किया है और मत्स्य आख्यान का भी उसी में वर्णन किया गया है ॥ १९०–१९१ ॥

महर्षि मार्कण्डेय के साथ बैठते हुए और भी अनेक पौराणिक कथाएँ हुईं, उनमें इन्द्रद्युम्न का उपाख्यान, धुन्धुमार की कथा, पतिव्रता का आख्यान तथा अङ्गिरस का उपाख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, तदनन्तर द्रौपदी और सत्यभामा में हुए संवाद का वर्णन किया गया है ॥ १९२–१९३ ॥

फिर पाण्डवों के पुनः द्वैतवन में लौटने का वर्णन किया गया है जिसमें घोषयात्रा करते हुए दुर्योधन को गन्धर्वों ने पकड़कर बाँध लिया और गन्धर्वों से अपहृत उस मन्दात्मा दुर्योधन को अर्जुन ने बन्धन मुक्त कराया। यहीं पर धर्मराज युधिष्ठिर को स्वप्न में मृग (हिरन) दिखाई दिया, यह सब वर्णन किया गया है ॥ १९४–१९५ ॥

काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥१९६॥
दुर्वाससोऽप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम्।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥१९७॥
यत्रैनमन्वयाद्भीमो वायुवेगसमो जवे।
चक्रे चैनं पञ्चशिखं यत्र भीमो महाबलः ॥१९८॥
रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम्।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ॥१९९॥
सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम्।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ॥२००॥
यत्रास्य शक्तिं तुष्टोऽसावदादेकवधाय च।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात् सुतम् ॥२०१॥

वनों में श्रेष्ठ काम्यक वन में पुनः पाण्डवों का आगमन और व्रीहिद्रौणिक की कथा भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन की गई है ॥ १९६ ॥

महर्षि दुर्वासा की भी कथा इसी में वर्णित है तथा जयद्रथ द्वारा आश्रम से द्रौपदी का अपहरण करना और वायु के समान वेगशाली भीमसेन का, उसका (जयद्रथ का) पीछा करना तथा उसे पकड़कर उसके सिर में पाँच स्थानों में कुछ कुछ बाल छोड़कर समस्त सिर को मूड़ देना, अर्थात् अपमानित कर छोड़ देना, यह सब वृत्तान्त वर्णन किया गया है ॥ १९७–१९८ ॥

तदनन्तर विस्तारपूर्वक रामायण की कथा वर्णन की गई है, जिसमें भगवान् रामचन्द्रजी ने बलपूर्वक युद्ध में रावण का वध किया था ॥ १९९ ॥

सावित्री की कथा भी इसी में वर्णन की गई है, तदनन्तर इन्द्र ने कर्ण से दोनों कुण्डलों को लेकर प्रसन्न हो, केवल एक का ही वध करनेवाली एक शक्ति उसको देकर उसके छोड़ने की रीति बतलाई, यह कथा वर्णन की गई है और इसके पश्चात् आरणेय उपाख्यान आता है, जिसमें धर्मराज यम ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है ॥ २००–२०१ ॥

जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ॥२०२॥
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥२०३॥
एकादशसहस्राणि श्लोकानां षट् शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥२०४॥
अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ॥२०५॥
दृष्ट्वा सन्निदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ॥२०६॥
पाञ्चालीं प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥२०७॥
पाण्डवान्वेषणार्थञ्च राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
चाराः प्रस्थापिताश्चात्र निपुणाः सर्वतो दिशम् ॥२०८॥

तदनन्तर वरदान प्राप्त कर पाण्डवों के पश्चिम दिशा में जाने की कथा आती है—इस प्रकार की कथाओं से परिपूर्ण यह तीसरा वनपर्व श्री वेदव्यासजी महाराज ने वर्णन किया है ॥ २०२ ॥

इस पर्व में दो सौ उनहत्तर (२६९) अध्यायों की रचना की गई है ॥ २०३ ॥

तथा ग्यारह हजार छै सौ चौंसठ (११६६४) श्लोक इस पर्व में कहे गये हैं ॥ २०४ ॥

इसके अनन्तर विस्तारवाले विराटपर्व का श्रवण करो, इस पर्व में पाण्डवों का विराटनगर को जाना तथा वहाँ के श्मशान में एक बहुत बड़े शमी के वृक्ष को देखकर पाण्डवों का अपने शस्त्र उस पर रखना, फिर वहाँ से चलकर विराटनगर में कपटवेश से रहना—यह सब वर्णन किया गया है ॥ २०५–२०६ ॥

तदनन्तर कामासक्त होकर द्रौपदी को प्राप्त करने की प्रार्थना करनेवाले दुरात्मा कीचक का भीमसेन द्वारा वध वर्णन किया गया है ॥ २०७ ॥

इसके पश्चात् राजा दुर्योधन का अपने सर्वोत्कृष्ट गुप्तचरों को पाण्डवों के ढूँढ़ने के लिये सर्वत्र नियुक्त करना,—॥ २०८ ॥

न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम्।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ॥२०९॥
यत्रास्य युद्धं सुमहत्तैरासील्लोमहर्षणम्।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ॥२१०॥
गोधनश्च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः।
अनन्तरश्च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ॥२११॥
समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि।
प्रत्याहृतं गोधनश्च विक्रमेण किरीटिना ॥२१२॥
विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥२१३॥
चतुर्थमेतद्विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम्।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ॥२१४॥

परन्तु गुप्तचरों को महात्मा पाण्डवों का लेशमात्र भी पता न लगना, फिर त्रिगर्त क्षत्रियों का महाराज विराट की गौओं को हरण करना और इस कारण राजा विराट का त्रिगर्तों के साथ रोमाञ्चकारी भयंकर युद्ध करना और उस युद्ध में शत्रुओं द्वारा राजा विराट को वन्दी बनाकर साथ ले जाना तथा भीमसेन का शत्रुओं से विराट को मुक्त कराना—॥ २०९–२१० ॥

तथा पाण्डवों द्वारा शत्रुओं से अपहृत समस्त गोधन को भी छुड़ाना वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर फिर कौरवों द्वारा विराट की गौओं का अपहरण करना—॥ २११ ॥

तथा पराक्रमशाली अर्जुन द्वारा समस्त कौरवसेना को पराजित करना तथा अपने दुर्धर्ष पराक्रम से पुनः गोधन को वापिस ले आना—यह सब वृत्तान्त वर्णन किया गया है॥ २१२ ॥

अर्जुन के इस अपूर्व पराक्रम से प्रसन्न हो, राजा विराट का अपनी पुत्री उत्तरा को सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु को निमित्त करके अर्जुन को अर्पण करना वर्णित है॥ २१३ ॥

इस प्रकार विस्तारवाला यह चौथा विराटपर्व रचा गया है, इसमें महर्षि

सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकानामपि मे शृणु।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ॥२१५॥
उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन्महर्षिणा।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ॥२१६॥
उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥२१७॥
साहाय्यमस्मिन् समरे भवान्नौ कर्तुमर्हति।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥२१८॥
अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किं वा ददाम्यहम् ॥२१९॥
वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनञ्जयः ॥२२०॥

व्यासजी ने सड़सठ (६७) अध्यायों की रचना की है तथा दो हजार पचास (२०५०) श्लोक रचे हैं ॥ २१४-२१५ ॥

इस प्रकार इस चतुर्थपर्व की रचना करने के उपरान्त वेदवेत्ता श्री वेद-व्यासजी ने उद्योगपर्व नामक पञ्चम पर्व की रचना की है, अब इसकी कथा सुनिये ॥ २१६ ॥

विजयाकाङ्क्षी पाण्डव जिस समय उपप्लव्य नामक स्थान में रहते थे, उस समय दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण से मिलने गये ॥ २१७ ॥

और दोनों ने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि "आप हमें इस युद्ध में सहायता प्रदान करें।" दोनों के वचन सुनकर परमज्ञानी भगवान् श्री कृष्ण बोले कि "हे महापुरुषो ! एक तरफ तो विना युद्ध करते हुए केवल मन्त्री के रूप में मैं स्वयं रह सकता हूँ और दूसरी तरफ मैं युद्ध के लिये अपनी एक अक्षौहिणी सेना दे सकता हूँ।" अब आप दोनों ही बतलाइये कि किसको क्या दूँ ? ॥ २१८-२१९ ॥

इस पर मूढ़मति दुष्टात्मा दुर्योधन ने एक अक्षौहिणी सेना मांगी और महारथी अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्नतापूर्वक अपना मन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया ॥ २२० ॥

मद्रराजञ्च राजानमायान्तं पाण्डवान् प्रति।
उपहारै रञ्जयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः॥२२१॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पांडवान्॥२२२॥
शान्तिपूर्वं चाकथयद्यत्रेन्द्रविजयं नृपः।
पुरोहितप्रेषणञ्च पाण्डवैः कौरवान् प्रति॥२२३॥
वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः।
तथेन्द्रविजयञ्चापि यानञ्चैव पुरोधसः॥२२४॥
सञ्जयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान् प्रति।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्॥२२५॥
श्रुत्वा च पाण्डवान्यत्र वासुदेवपुरोगमान्।
प्रजागरः संप्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया॥२२६॥
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्॥२२७॥

मद्रदेश के राजा शल्य को पाण्डवों के समीप जाता देखकर, मार्ग में ही दुर्योधन ने बहुमूल्य भेंट से उसे सम्मानित कर प्रसन्न कर लिया और प्रसन्न होकर जब शल्य ने उससे वर माँगने को कहा, तो दुर्योधन ने युद्ध में अपनी सहायता करने का उससे वर मांगा; शल्य उसे सहायता का वचन देकर फिर पाण्डवों से मिलने के लिये चल दिया॥ २२१–२२२॥

तदनन्तर राजा शल्य ने पाण्डवों के समीप पहुँच कर, उनको शान्ति-पूर्वक इन्द्र की विजय कह सुनायी और पाण्डवों ने अपने पुरोहितजी को कौरवों के समीप भेजा॥ २२३॥

पाण्डवों के भेजे हुए पुरोहित के मुख से इन्द्र की विजय का तात्पर्य और पुरोहित के भेजने की उचितता को ठीक प्रकार से समझकर परस्पर प्रेम के इच्छुक प्रतापशाली महाराज धृतराष्ट्र ने सञ्जय को अपना दूत बनाकर पाण्डवों के समीप भेजा॥ २२४–२२५॥

वसुदेवनन्दन कृष्ण हैं प्रमुख सहायक जिनके, ऐसे पाण्डवों को युद्ध-

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम्।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥२२८॥
प्रभाते राजसमितौ सञ्जयो यत्र वा विभो।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥२२९॥
यत्र कृष्णो दयापन्नः सन्धिमिच्छन्महामतिः।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥२३०॥
प्रत्याख्यानञ्च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥२३१॥
दम्भोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम्।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ॥२३२॥

सन्नद्ध सुनने से चिन्तित धृतराष्ट्र को देखकर, उस समय विदुरजी ने मनीषी धृतराष्ट्रजी को हितकारक अद्भुत-अद्भुत वचन सुनाये ॥ २२६–२२७ ॥

तथा सनत्सुजात ने भी शोकासक्त महाराज धृतराष्ट्र को, उनके मनस्ताप को शान्त करने के लिये सर्वोत्तम अध्यात्मज्ञान को सुनाया, पर धृतराष्ट्र का मनस्ताप शान्त न हुआ ॥ २२८ ॥

इसके अनन्तर सञ्जय द्वारा प्रातःकाल धृतराष्ट्र की राजसभा में भगवान् कृष्ण और अर्जुन की एकता की घोषणा की कथा आती है ॥ २२९ ॥

तदनन्तर परमबुद्धिमान् भगवान् श्री कृष्ण का दया से प्रेरित हो, स्वयं परस्पर में शान्तिपूर्ण सन्धि कराने की इच्छा से हस्तिनापुर में आगमन की कथा आती है ॥ २३० ॥

इसके पश्चात् कौरव तथा पाण्डव, दोनों पक्षों के हित के लिये समझौता कराने की भगवान् श्री कृष्ण की प्रार्थना और दुर्योधन का स्पष्ट निषेध करना वर्णन किया गया है ॥ २३१ ॥

इसके अनन्तर दम्भोद्भव की कथा तथा महर्षि मातलि का अपनी पुत्री के लिये वर ढूँढ़ने की कथा आती है ॥ २३२ ॥

महर्षेश्चापि चरित्रं कथितं गालवस्य वै।
विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ॥२३३॥
कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम्।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ॥२३४॥
रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः।
उपायपूर्वं शौटीर्यात् प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥२३५॥
आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिन्दमः।
पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान् हरिः ॥२३६॥
ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम्।
सांग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः ॥२३७॥
ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः।
नगराद्धास्तिनपुराद्बलसंख्यानमेव च ॥२३८॥

तथा महर्षि गालव का चरित्र वर्णन किया गया है और विदुला का अपने पुत्र को हित की शिक्षा का उपाख्यान आता है॥ २३३॥

कौरवों की सभा में दुर्योधन, कर्ण आदि के भगवान् को कैद करने के कुत्सित विचार को जानकर, भगवान् कृष्ण का सब को अपनी योगेश्वरता का दर्शन कराना॥ २३४॥

तदनन्तर भगवान् श्री कृष्ण का कर्ण को अपने रथ में बैठाकर अनेक प्रकार से सन्धि के लिये विचार-विमर्श करना, पर कर्ण का गर्वपूर्वक भगवान् की प्रत्येक बात को अस्वीकार करना॥ २३५॥

इसके पश्चात् दुष्टविनाशक भगवान् हरि का हस्तिनापुर से उपप्लव्य नगर को वापिस आना और पाण्डवों को कौरवों से हुई समस्त वार्ता को जैसी की तैसी सुना देना॥ २३६॥

इसके अनन्तर भगवान् कृष्ण के वचनों को सुनकर, परस्पर पाण्डवों का भगवान कृष्ण के साथ युद्ध से सम्बन्धित वार्ता करना और शत्रुविनाशक पाण्डवों का समस्त युद्ध की सामग्री का संग्रह पूर्ण करना॥ २३७॥

तदनन्तर हस्तिनापुर नगर से युद्ध के लिये पैदल, अश्वारोही, गजारोही,

यत्र राज्ञो ह्युलूकस्य प्रेषणं पांडवान् प्रति ।
श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान् प्रभुः ॥२३९॥
रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ।
एतत् सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते ॥२४०॥
उद्योगपर्व निर्दिष्टं सन्धिविग्रहमिश्रितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४१॥
श्लोकानां षट् सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ॥२४२॥
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ।
अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ॥२४३॥

रथारोही विशाल सेना के निकलने की कथा आती है तथा इसके पश्चात् सेना की संख्या का विचार आता है ॥ २३८ ॥

इसके अनन्तर अतिसन्निकटकाल में ही प्रारम्भ होनेवाले इस महायुद्ध से पूर्व दुर्योधन का राजा उलूक को पाण्डवों के समीप अपना दूत बनाकर भेजना ॥ २३९ ॥

इसके पश्चात रथों और अतिरथों की संख्या जिसमें बतलाई गई है, वह आख्यान आता है और इसके अनन्तर अम्बोपाख्यान आता है, इस प्रकार अतिविस्तृत वृत्तान्तवाला यह पाँचवां उद्योगपर्व इस महाभारत में रचा गया है ॥ २४० ॥

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने इस उद्योगपर्व में सन्धि के लिये भगवान् कृष्ण का गमन और विग्रह के लिये राजा उलूक का गमन, इन दोनों का बड़ा रोचक दिग्दर्शन कराया है तथा इस पर्व में एक सौ छियासी (१८६) अध्याय रचे हैं ॥ २४१ ॥

तथा उदारमति महर्षि श्री वेदव्यासजी ने इस पर्व में छः हजार छः सौ अठ्ठानवे श्लोकों की रचना की है। अब हे तपस्वियो ! इसके पश्चात् आप लोग विचित्र अर्थवाला भीष्मपर्व श्रवण कीजिये ॥ २४२-२४३ ॥

जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं सञ्जयेन ह।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत्परम् ॥२४४॥
यत्र युद्धमभूद्घोरं दशाहानि सुदारुणम्।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ॥२४५॥
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः ॥२४६॥
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्णं उदारधीः।
प्रतोदपाणिराधावद्भीष्मं हन्तुं व्यपेतभीः ॥२४७॥
वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः।
गांडीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२४८॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः।
विनिघ्नन्निशितैर्बाणै रथाद्भीष्ममपातयत् ॥२४९॥
शरतल्पगतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह।
षष्ठमेतत्समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ॥२५०॥

जिसमें सञ्जय ने जम्बूखण्ड के निर्माण की कथा कही है और जिसमें पाण्डवों की सेना के परम विषाद का वर्णन किया गया है ॥ २४४ ॥

तदनन्तर दस दिन पर्यन्त कौरव-पाण्डवों के रोमाञ्चकारी भयानक युद्ध का वर्णन और अर्जुन का अत्यन्त दुखित होना, योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण का "भीष्म को जीतना असम्भव है" इस अज्ञान का गीतारूपी परमोच्च आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा अर्जुन के मन से दूर करना तथा युधिष्ठिर के धर्मपक्ष के हितचिन्तन में लगे भगवान् श्री कृष्ण का तत्काल रथ से कूदकर, निर्भयता पूर्वक स्वयं भीष्म को मारने के लिये चाबुक लिये भीष्म की तरफ दौड़ना और उसी समय अर्जुन के हृदय को वेधनेवाले अत्यन्त मार्मिक शब्दों का कहना, उससे मर्माहत हो शस्त्र-धारियों में सर्वश्रेष्ठ गाण्डीवधारी महाधनुर्धर अर्जुन का शिखण्डी को अपने सन्मुख कर भीष्मपितामह पर बाणों की घनघोर वर्षा के द्वारा उनको रथ से पृथ्वी पर गिराना तथा भीष्मपितामह का शरशय्या पर शयन करना, इस प्रकार विस्तारवाला यह भीष्मपर्व महाभारत में रचा गया है ॥ २४५-२५० ॥

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ॥२५१॥

श्लोकाश्च चतुराशीतिरस्मिन् पर्वणि कीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥२५२॥

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सैनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥२५३॥

दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।
यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ॥२५४॥

भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि ।
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ॥२५५॥

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महारथाः ।
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ॥२५६॥

वेदवेत्ता भगवान् वेदव्यासजी ने इस भीष्मपर्व में एक सौ सत्तर (१७०) अध्याय रचे हैं तथा पाँच हजार आठ सौ चौरासी (५८८४) श्लोकों की रचना की है ॥ २५१–२५२ ॥

अब इसके अनन्तर विस्तृत वृत्तान्त युक्त, विचित्र कथाओं से पूर्ण द्रोणपर्व कहते हैं, जिसमें प्रतापशाली गुरु द्रोणाचार्य को सेनापति के पद पर अभिषिक्त किया गया है ॥ २५३ ॥

तत्पश्चात् दिव्यास्त्रों के मोचन में परम कुशल गुरु द्रोणाचार्य की दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये परमज्ञानी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को वन्दी बनाने की प्रतिज्ञा तथा संशप्तकों द्वारा अर्जुन से युद्ध करते करते अर्जुन को रणभूमि से सुदूर ले जाने की कथा आती है ॥ २५४ ॥

तदनन्तर इन्द्र के समान पराक्रमी राजा भगदत्त को, उनके सुप्रतीक नाम के हाथी के सहित युद्ध में अर्जुन द्वारा मार डालने की कथा आती है ॥ २५५ ॥

तदनन्तर जयद्रथ जिनमें प्रमुख है, ऐसे सात महारथियों द्वारा, जो अभी

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ॥२५७॥
यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः।
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिरनृपाज्ञया।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥२५८॥
संशप्तकावशेषश्च कृतं निःशेषमाहवे।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसन्धश्च वीर्यवान् ॥२५९॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥२६०॥
अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥२६१॥

युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे उस अकेले शूरवीर बालक अभिमन्यु के वध की कथा आती है ॥ २५६ ॥

अभिमन्यु के मरने का समाचार सुनते ही अत्यन्त कुपित अर्जुन द्वारा युद्ध में सात अक्षौहिणी सेना का विनाश तथा जयद्रथ का वध वर्णन किया गया है ॥ २५७ ॥

तदनन्तर कौरव सेना के मध्य में युद्ध करते हुए पार्थ को ढूँढने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा महाबलशाली भीमसेन तथा महारथी सात्यकि को भेजना तथा उन दोनों का देवताओं से भी प्रवेश में अशक्य, उस कौरव सेना में प्रवेश करना, वर्णन किया गया है ॥ २५८ ॥

तदनन्तर युद्ध में अर्जुन ने अवशिष्ट समस्त संशप्तकों का समूल विनाश किया तथा अलम्बुष, श्रुतायु, पराक्रमी जलसन्ध, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा, राजा विराट तथा महारथी द्रुपद और घटोत्कचादि अगणित वीर योद्धाओं का मरण इस द्रोणपर्व में वर्णन किया गया है ॥ २५९–२६० ॥

इसके पश्चात् रणांगण में सेनापति द्रोणाचार्यजी के भूमिपतित होते ही, उनके पुत्र अश्वत्थामा द्वारा अत्यन्त कुपित होकर नारायणास्त्र नामक महाभयंकर अस्त्र को प्रकट करके शत्रुओं पर छोड़ने का वर्णन किया गया है ॥ २६१ ॥

आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः ॥२६२॥
सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥२६३॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ॥२६४॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
पाराशर्येण मुनिना सञ्चिन्त्य द्रोणपर्वणि ॥२६५॥
अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ।
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ॥२६६॥
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ।
प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः ।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥२६७॥

इसके अनन्तर भगवान् रुद्र की अग्नि सम्बन्धी उत्तम कीर्ति का माहात्म्य तथा श्री वेदव्यासजी का आगमन और भगवान् श्री कृष्ण तथा अर्जुन का माहात्म्य वर्णन किया गया है ॥ २६२ ॥

महाभारत के इस सप्तम द्रोणपर्व में जिन प्रतापशाली महान् राजाओं का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रायः सभी राजा लोगों का निधन इसी में हुआ है, ऐसा यह विस्तारवाला द्रोणपर्व महर्षि वेदव्यासजी ने रचा है। इसमें एक सौ सत्तर (१७०) अध्यायों की रचना की गई है ॥ २६३–२६४ ॥

तथा पराशरात्मज भगवान् वेदव्यासजी ने अच्छी प्रकार चिन्तन करके इस द्रोणपर्व में आठ हज़ार नौ सौ नौ (८९०९) श्लोकों की रचना की है ॥ २६५ ॥

इसके अनन्तर अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्तवाले कर्णपर्व को कहते हैं, जिसमें मद्रदेश के राजा शल्य को सारथि बनाने की कथा आती है ॥ २६६ ॥

तदनन्तर त्रिपुरासुर के निपातन की पौराणिकी कथा आती है तथा युद्ध के लिये प्रयाण करते हुए राजा शल्य तथा महारथी कर्ण के पारस्परिक कठोर संवाद एवं आक्षेपपूर्ण हंस और कौए का उपाख्यान आता है ॥ २६७ ॥

वधः पाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना ।
देवसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ॥२६८॥
द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥२६९॥
अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ॥२७०॥
प्रतिज्ञापूर्वकश्चापि वक्षो दुःशासनस्य च ।
भित्त्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान्यत्र संयुगे ॥२७१॥
द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद्भारतचिन्तकैः ॥२७२॥
एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥२७३॥
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ।
अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ॥२७४॥

इसके पश्चात् महात्मा अश्वत्थामा द्वारा पाण्ड्य का वध, देवसेन का वध तथा दण्ड का वध वर्णन किया गया है ॥ २६८ ॥

तदनन्तर युद्धस्थल में समस्त धनुर्धारियों के देखते देखते कर्ण के साथ द्वन्द्वयुद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर के प्राणसंकट के भय की कथा आती है ॥ २६९ ॥

इसके पश्चात् युधिष्ठिर तथा अर्जुन के परस्पर संवाद में क्रोधोत्पन्न होने की कथा तथा भगवान् श्री कृष्ण की अर्जुन को शान्त करने की कथा आती है ॥ २७० ॥

इसके अनन्तर अपनी पूर्व में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार युद्ध में दुःशासन की छाती फाड़कर भीम द्वारा उसके रक्तपान की कथा आती है ॥ २७१ ॥

तदनन्तर वीरवर अर्जुन द्वारा महारथी कर्ण के वध की कथा आती है, इस प्रकार से यह अष्टम पर्व महाभारत के चिन्तकों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ॥ २७२ ॥

इस कर्णपर्व में उनहत्तर (६९) अध्याय रचे गये हैं तथा चार हजार नौ सौ चौसठ (४९६४) श्लोकों की रचना की गई है। इसके अनन्तर नौवाँ विचित्र अर्थवाला शल्यपर्व कहा गया है ॥ २७३–२७४ ॥

हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ।
वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ॥२७५॥
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ।
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः ॥२७६॥
शकुनेश्च वधोऽत्रैव सहदेवेन संयुगे ।
सैन्ये च हतभूयिष्ठे किञ्चिच्छिष्टे सुयोधनः ॥२७७॥
ह्रदं प्रविश्य यत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ।
प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः ॥२७८॥
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ।
ह्रदात् समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोऽस्यमर्षणः ॥२७९॥

सेना के सर्वोच्च सेनानियों और महारथियों के विनाश के पश्चात् मद्रदेश के राजा शल्य, सेना के सेनापति नियुक्त हुए, यह कथा तथा रथियों के युद्ध की भी विभागशः वर्णन की गई कथा इसमें आती है ॥ २७५ ॥

इस प्रकार कौरवसेना के प्रमुख प्रमुख महारथियों का विनाश इस शल्य-पर्व में वर्णन किया गया है तथा धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा शल्य का वध वर्णन किया गया है ॥ २७६ ॥

तदनन्तर युद्ध करते हुए सहदेव के द्वारा शकुनि का वध हुआ तथा जब सेना का अधिकांश भाग विनष्ट हो गया और नाममात्र को कुछ ही सेना अवशिष्ट रह गई, उस समय दुर्योधन भयभीत हो, अपने प्राणों की रक्षा के लिये एक सरोवर में घुसकर उसके जल को स्थिर करके उसमें छिपकर बैठ गया। उस समय बहेलियों के द्वारा भीमसेन को दुर्योधन के छिपने का समाचार मिलने की कथा वर्णन की गई है ॥ २७७–२७८ ॥

इसके अनन्तर सरोवर पर खड़े हुए बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के आक्षेप-पूर्ण, तिरस्कारयुक्त, अत्यन्त कठोर वचनों से मर्माहत हो, अत्यन्त क्रोधित होकर दुर्योधन का सरोवर के जल से बाहर निकलने का वर्णन आता है ॥ २७९ ॥

भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान् सह ।
समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम् ॥२८०॥
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ।
गदायुद्धञ्च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ॥२८१॥
दुर्योधनस्य राज्ञोऽथ यत्र भीमेन संयुगे ।
ऊरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया ॥२८२॥
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ।
एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्तिताः ॥२८३॥
संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकसंख्यात्र कथ्यते ।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा ॥२८४॥
मुनिना संप्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम् ॥२८५॥

सरोवर से निकलते ही दुर्योधन का भीमसेन के साथ भयंकर गदायुद्ध करना तथा उसी समय में बलदाऊजी का वहाँ पर आगमन वर्णन किया गया है ॥ २८० ॥

वहाँ पर बलरामजी ने सरस्वती तथा अन्य तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन किया है तथा इसके पश्चात् फिर उन दोनों के रोमाञ्चकारी घनघोर गदायुद्ध का वर्णन आता है ॥ २८१ ॥

इसके अनन्तर महाबली भीम द्वारा अत्यन्त वेग से बलपूर्वक गदा को घुमाकर दुर्योधन की जंघाओं पर प्रहार करना और उस प्रचण्ड प्रहार से उसकी जंघाओं का भग्न हो जाना वर्णन किया गया है ॥ २८२ ॥

इस प्रकार की अद्भुत कथाओं से परिपूर्ण इस नौवें पर्व का यहाँ वर्णन किया गया है, इसमें उनसठ (५९) अध्यायों की रचना की गई है ॥ २८३ ॥

कौरवों की कीर्ति को प्रकाशित करनेवाले महामुनि श्री वेदव्यासजी ने इस शल्यपर्व में तीन हजार दो सौ बीस (३२२०) श्लोकों की रचना की है। इसके अनन्तर दारुण सौप्तिकपर्व को कहता हूँ ॥ २८४-२८५ ॥

भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ॥२८६॥
समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि ।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ॥२८७॥
अहत्वा सर्वपञ्चालान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पाण्डवांश्च सहामात्यान्न विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥२८८॥
यत्रैव मुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः ।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद्वनम् ॥२८९॥
न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद् व्यवस्थिताः ।
ततः काकान् बहून् रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ॥२९०॥
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ॥२९१॥

दुर्योधन की जघाओं के भग्न होने से रणाङ्गण में पड़े हुए अत्यन्त कुपित उस दुर्योधन को छोड़कर पाण्डवों के वहाँ से चले जाने के उपरान्त सायंकाल को महारथी कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा का उस स्थल में आना तथा वहाँ पर लहूलुहान, शक्तिविहीन भूमि में पड़े हुए राजा दुर्योधन को इस अवस्था में देखकर, अत्यन्त कुपित हुए द्रोणपुत्र अश्वत्थामा का प्रतिज्ञा करना कि जब तक मैं धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण पाञ्चालों को और मन्त्रियों के सहित पाण्डवों को समूल नष्ट नहीं कर दूँगा, तब तक अपने कवच को शरीर से नहीं उतारूँगा ॥ २८६–२८८ ॥

इस प्रकार की भीषण प्रतिज्ञा करने के उपरान्त तीनों महारथी दुर्योधन को उसी अवस्था में वहाँ पड़ा हुआ छोड़कर, सूर्यास्त के समय में चलते चलते एक बहुत बड़े जंगल में पहुँच गये, यह कथा आती है ॥ २८९ ॥

इसके पश्चात् उन तीनों का जंगल के मध्य में रात्रि होने के कारण एक विशाल वटवृक्ष के नीचे विश्राम करना तथा रात्रि में एक उल्लू के द्वारा बहुत से कौओं का वध होते देखकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को पिता के वध का स्मरण

गत्वा च शिविरद्वारि दुर्दशं तत्र राक्षसम् ।
घोररूपमपश्यत्स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ॥२९२॥
तेन व्याघातमस्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च ।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ॥२९३॥
प्रसुप्तान्निशि विश्वस्तान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पञ्चालान् सपरीवारान्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण च निजघ्निवान् ॥२९४॥
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ।
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ॥२९५॥
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद्वधः ।
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः ॥२९६॥

होना और उसी कारण अत्यन्त कुपित होकर रात्रि में सोते हुए पाञ्चालों के वध का मन में निश्चय करना—यह वर्णन किया गया है ॥ २८८–२९१ ॥

उसी समय पाण्डवों के शिविर के द्वार पर उनका पहुँचना और उस द्वार पर देखने में अतिभयानक, आकाशतलस्पर्शी, महाविकराल राक्षस को खड़े हुए देखना, ॥ २९२ ॥

इसके पश्चात् अश्वत्थामा के द्वारा छोड़े गये समस्त अस्त्रों की उस राक्षस द्वारा निष्फलता को देखकर अश्वत्थामा के द्वारा तत्काल त्रिनेत्रवाले भगवान् रुद्र के आराधन की कथा आती है ॥ २९३ ॥

इसके पश्चात् महारथी कृपाचार्य तथा कृतवर्मा के सहित अश्वत्थामा द्वारा रात्रि में निश्चिन्ततापूर्वक शिविर में सोते हुए धृष्टद्युम्नादि समस्त पाञ्चालों एवं द्रौपदी के पुत्रों के वध की कथा आती है ॥ २९४ ॥

भगवान् श्री कृष्ण की दिव्य शक्ति के आश्रय से ही केवल पाँचों पाण्डव तथा शूरवीर सात्यकि जीवित रह गये, बाकी समस्त लोग अश्वत्थामा के द्वारा विनाश को प्राप्त हो गये ॥ २९५ ॥

इसके पश्चात् धृष्टद्युम्न के सारथी द्वारा अश्वत्थामा द्वारा सोते हुए समस्त पाञ्चालों का वध पाण्डवों को बताने की कथा आती है ॥ २९६ ॥

द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ।
कृतानशनसङ्कल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ॥२९७॥
द्रौपदीवचनाद्यत्र भीमो भीमपराक्रमः ।
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन् वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत् सुसंक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥२९८॥
भीमसेनभयाद्यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥२९९॥
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णः शमयंस्तस्य तद्वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥३००॥
द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ॥३०१॥

तदनन्तर अपने पुत्रों, भाइयों तथा पिता के वध से अत्यन्त शोकविह्वला द्रौपदी अपने पति पाण्डवों के समीप "जब तक पुत्र एवं स्वजनविनाशक को समूल नष्ट न करा दूँगी, तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगी" ऐसी कठोर प्रतिज्ञा करके बैठ गई, यह कथा आती है ॥ २९७ ॥

इस प्रकार द्रौपदी की प्रतिज्ञा को सुनकर उसके चित्त को प्रसन्न करने की इच्छा से अतुलपराक्रमी भीमसेन अपनी गदा को उठाकर बालहत्यारे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के पीछे अत्यन्त क्रुद्ध होता हुआ दौड़ा ॥ २९८ ॥

तदनन्तर महाबलशाली क्रुद्ध भीमसेन को पीछे आता देखकर उससे भयभीत तथा दैव की प्रेरणा से अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामा ने "अपाण्डवाय" अर्थात् प्राण्डवों के समूल विनाश के लिये, ऐसा मन्त्र पढ़कर दिव्य अस्त्र को छोड़ा ॥ २९९ ॥

इसके पश्चात् भगवान् श्री कृष्ण ने "मैवम्" ऐसा नहीं हो, ऐसा मन्त्र पढ़कर अश्वत्थामा के मन्त्र को शान्त कर दिया तथा अर्जुन ने अपना दिव्य अस्त्र छोड़कर उसके अस्त्र को शान्त कर दिया, यह कथा आती है ॥ ३०० ॥

तत्पश्चात् पापात्मा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की द्रोहबुद्धि को देखकर भगवान् वेदव्यास का उसको शाप देना तथा इसके प्रतिकार में अश्वत्थामा का भी भगवान् वेदव्यास को शाप देना, यह कथा आती है ॥ ३०१ ॥

मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ॥३०२॥
एतद्वै दशमं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३०३॥
श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ॥३०४॥
सौप्तिकैषीकसंबद्धे पर्वण्युत्तमतेजसी ।
अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ॥३०५॥
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसीं प्रतिमां दृढाम् ।
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ॥३०६॥

तदनन्तर महारथी अश्वत्थामा के मस्तक से मणि निकालकर, अपनी विजय से परम आनन्दित पाण्डवों ने प्रसन्न होकर वह मणि द्रौपदी को समर्पित कर दी, यह कथा आती है ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार का यह दशम सौप्तिकपर्व महात्मा व्यासजी के द्वारा रचा गया है, इसमें अठारह (१८) अध्याय रचे गये हैं ॥ ३०३ ॥

ब्रह्मवादी महामुनि श्री वेदव्यासजी ने इस पर्व में आठसौ सत्तर श्लोकों की रचना की है तथा सौप्तिक और ऐषीक आख्यान भी इसी पर्व में सम्बद्ध कर दिये हैं। अब इससे आगे करुण रस को प्रकट करनेवाले स्त्रीपर्व को कहते हैं ॥ ३०४–३०५ ॥

इसमें पुत्रों के विनाश से संतप्त हृदयवाले प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र की भीमसेन के प्रति द्रोहबुद्धि होने के कारण, भगवान् श्री कृष्ण के संकेत से लोहे की बनी हुई भीमसेन की मूर्ति धृतराष्ट्र के समक्ष खड़ी करने पर धृतराष्ट्र ने उसे अपनी दोनों भुजाओं के बीच में भरकर अपनी शक्ति से चूर चूर कर दिया ॥ ३०६ ॥

तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
संसारगहनं बुद्धया हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ॥३०७॥
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ।
धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तःपुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ॥३०८॥
विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गान्धारीधृतराष्ट्रयोः ॥३०९॥
यत्र तान् क्षत्रियाः शूरान् संग्रामेष्वनिवर्त्तिनः ।
पुत्रान् भ्रातन् पितृंश्चैव ददृशुर्निहतान् रणे ॥३१०॥
पुत्रपौत्रवधार्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गान्धार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनक्रिया ॥३११॥
यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः ।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥३१२॥

तदनन्तर पुत्रशोक से अत्यन्त विह्वल, बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र को विदुरजी द्वारा सांसारिक गहन विषयों में वैराग्य उत्पन्न करानेवाले आध्यात्मिक उपदेशों द्वारा आश्वासन देने की कथा आती है। इसके पश्चात् शोकार्त अन्तःपुर की समस्त स्त्रियों को साथ लेकर धृतराष्ट्रजी कुरुक्षेत्र की उस रणस्थली में गये, जहाँ पर सब मृत पुत्र-पौत्रादि पड़े थे, यह कथा आती है ॥ ३०७-३०८ ॥

तत्पश्चात् वहाँ पर उन वीरपत्नियों का अत्यन्त करुणाजनक दारुण विलाप तथा गान्धारी और धृतराष्ट्र का क्रोधावेश तथा शोकातिरेक के कारण मूर्च्छित होना-वर्णन किया गया है ॥ ३०९ ॥

उस रणस्थली में उन वीर क्षत्राणियों ने युद्ध में कभी पीठ न दिखानेवाले अपने पति, पुत्र, पिता और भाइयों को मृत पड़े हुए देखा ॥ ३१० ॥

इस असहनीय शोक से संतप्त उन अन्तःपुर की रानियों के साथ दारुण शोक में निमग्न गान्धारी के क्रोध को भगवान् कृष्ण द्वारा शान्त करने की कथा आती है ॥ ३११ ॥

तदनन्तर धर्मात्माओं में सर्वश्रेष्ठ, ज्ञानसम्पन्न महाराज धृतराष्ट्र द्वारा वीर-

तोयकर्मणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके ।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयात्मनः ॥३१३॥
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा ।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारकम् ॥३१४॥
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥३१५॥
श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता ।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ॥३१६॥
अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्द्धनम् ।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
घातयित्वा पितॄन् भ्रातॄन् पुत्रान् सम्बन्धिमातुलान् ॥३१७॥
शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः ।
राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ॥३१८॥

गति को प्राप्त समस्त मृत राजाओं का विधिपूर्वक अग्निदहन संस्कार कराने की कथा आती है ॥ ३१२ ॥

इसके अनन्तर मृतात्माओं को जल अर्पण करने के लिये, तर्पण के आरम्भ करते ही कुन्ती द्वारा गुप्तरूप से उत्पन्न हुए, अपने पुत्र कर्ण का वृत्तान्त सुनाना, यह आख्यान आता है ॥ ३१३ ॥

परमर्षि भगवान् वेदव्यासजी ने शोक तथा विह्वलता को उत्पन्न करनेवाला तथा बड़े बड़े साधुपुरुषों के भी हृदय को द्रवित कर, नेत्रों से अश्रुधारा बहानेवाला यह ग्यारहवाँ पर्व रचा है, इस पर्व में २७ अध्याय रचे गये हैं ॥ ३१४–३१५ ॥

तथा सात सौ पचहत्तर (७७५) श्लोकों की रचना की है, इस प्रकार परमज्ञानी श्री वेदव्यासजी ने महाभारत का यह आख्यान निर्मित किया है ॥३१६॥

इसके अनन्तर बुद्धि को बढ़ानेवाला बारहवाँ शान्तिपर्व प्रारम्भ होता है, इसमें पितासदृश गुरुजनों, भाइयों, पुत्रों तथा मामा आदि स्वजनों को मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिर के दुखित होने की कथा आती है ॥ ३१७ ॥

तदनन्तर सर्वोत्तम ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले राजाओं के लिये जानने

आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ।
यान्बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ॥३१९॥
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ।
द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत् प्राज्ञजनप्रियम् ॥३२०॥
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ।
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ॥३२१॥
चतुर्दशसहस्राणि तथा सप्तशतानि च ।
सप्तश्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशतिसंख्यया ॥३२२॥
अत ऊर्ध्वंञ्च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ।
यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद्भागीरथीपुत्रात् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥३२३॥

योग्य राजधर्मों का शरशय्या पर शयन करते हुए भीष्मपितामह द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश देने की कथा आती है ॥ ३१८ ॥

तदनन्तर देश और काल के अनुसार वर्तने योग्य आपद्धर्मों का भीष्मपितामह द्वारा कहा गया उपदेश आता है, जिन धर्मों को ठीक-ठीक प्रकार से समझ कर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ३१९ ॥

तथा अत्यन्त विस्तारवाले मोक्षधर्मों का भी उपदेश दिया था, इस प्रकार का यह बारहवाँ शान्तिपर्व ज्ञानियों को सुख देनेवाला रचा गया है ॥ ३२० ॥

हे तपस्वियो ! भगवान् वेदव्यासजी ने इस पर्व में तीन सौ उनतालीस (३३९) अध्यायों की रचना की है ॥ ३२१ ॥

तथा चौदह हजार सात सौ बत्तीस (१४७३२) श्लोकों की रचना की है ॥ ३२२ ॥

इसके अनन्तर उत्तम वृत्तान्तवाला अनुशासन पर्व प्रारम्भ होता है, इसमें भागीरथी गंगा के पुत्र श्री भीष्मपितामह से धर्म के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करके धर्मराज युधिष्ठिर शोक को त्याग कर स्वस्थचित्त हुए थे, यह कथा आती है ॥ ३२३ ॥

व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः।
विविधानाञ्च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ॥३२४॥
तथा पात्रविशेषाश्च दानानाञ्च परो विधिः।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥३२५॥
महाभाग्यं गवाञ्चैव ब्राह्मणानां तथैव च।
रहस्यञ्चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ॥३२६॥
एतत् सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम्।
भीष्मस्यात्रैव सम्प्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥३२७॥
एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम्।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥३२८॥
श्लोकानान्तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ॥३२६॥

तदनन्तर धर्म और अर्थ सम्बन्धी समस्त व्यवहार वर्णन किया गया है और भिन्न भिन्न प्रकार के दानों के विविध फल भी वर्णित किये हैं ॥ ३२४ ॥

इसके अनन्तर दानग्रहण करने योग्य पात्रों के लक्षण, दान की प्रमुखविधि, आचार का निर्णय और उसकी शास्त्रोक्तविधि तथा हिंसारहित यथार्थ भाषण करने की पराकाष्ठा—इन सबका वर्णन किया गया है ॥ ३२५ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणों तथा गौओं के माहात्म्य और देश तथा काल के अनुसार थोड़े ही परिश्रम में बहुत बड़े फल को देनेवाले धर्मों के रहस्य का वर्णन किया गया है ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार के विशद कथानकों से परिपूर्ण यह अनुशासन पर्व रचा गया है और इसी में भीष्मपितामह का स्वर्गारोहण भी वर्णन किया गया है ॥ ३२७ ॥

यह तेरहवाँ पर्व धर्म का निश्चय करानेवाला है और इसमें एक सौ छियालीस (१४६) अध्यायों की रचना की गई है ॥ ३२८ ॥

इस पर्व में आठ हजार (८०००) श्लोकों की रचना की गई है। इसके पश्चात् आश्वमेधिक नाम का चौदहवाँ पर्व कहा गया है ॥ ३२६ ॥

तत् संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ।
सुवर्णकोषसम्प्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ।
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात् संजीवनं पुनः ॥३३०॥
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ।
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ॥३३१॥
चित्राङ्गदाया पुत्रेण पुत्रिकाया धनञ्जयः ।
संग्रामे बभ्रुवाहेण संशयं चात्र दर्शितः ॥३३२॥
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ।
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम् ॥३३३॥
अध्यायानां शतश्चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्तिताः ।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥३३४॥

इसमें सर्व प्रथम संवर्त और मरुत्त के सुन्दर आख्यानों का वर्णन किया गया है और तत्पश्चात् पाण्डवों को अपार सुवर्ण-राशि प्राप्त होने का तथा अश्वत्थामा के दिव्यास्त्र की अग्नि से उत्तरा के गर्भ में ही प्रथम भस्म किये गये और बाद में भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से सञ्जीवन को प्राप्त, महाराज परीक्षित के जन्म का वर्णन किया गया है ॥ ३३० ॥

तदनन्तर यज्ञ से छोड़े गये घोड़े के पीछे पीछे, उसकी रक्षा के निमित्त पाण्डवों का जाना और स्थान-स्थान पर अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाले राजपुत्रों से युद्ध करना, यह कथा आती है ॥ ३३१ ॥

तदनन्तर मणिपुर के महाराज की दत्तकपुत्री चित्रांगदा के गर्भ से अर्जुन द्वारा उत्पन्न, स्वकीय पुत्र बभ्रुवाहन के साथ अर्जुन का युद्ध करना और उसमें अर्जुन के प्राणों तक पर संकट आ पड़ने की कथा आती है ॥ ३३२ ॥

तदनन्तर अश्वमेध यज्ञ में नकुल की कथा कही गई है, इस प्रकार से अत्यन्त अद्भुत कथाओं से युक्त, यह आश्वमेधिक पर्व रचा गया है ॥ ३३३ ॥

इस पर्व में तत्त्वदर्शी महर्षि व्यासजी ने एकसौ तीन (१०३) अध्याय रचे हैं तथा तीन हजार तीन सौ बीस (३३२०) श्लोकों की रचना की है ॥ ३३४ ॥

ततश्चाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम् ।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गान्धार्या सहितो नृपः ।
धृतराष्ट्रोऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ॥३३५॥
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ।
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ॥३३६॥
यत्र राजा हतान् पुत्रान् पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान् ।
लोकान्तरगतान् वीरानपश्यत् पुनरागतान् ॥३३७॥
ऋषेः प्रसादात् कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ।
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ॥३३८॥
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ।
सञ्जयश्च सहामात्यो विद्वान् गावल्गणिर्वशी ॥३३९॥

इसके अनन्तर पन्द्रहवाँ आश्रमवासिक पर्व प्रारम्भ होता है, जिसमें कि महाराज धृतराष्ट्र राज्य को त्यागकर, गान्धारी तथा विदुरजी के साथ वन में स्थित आश्रम को चले हैं ॥ ३३५ ॥

धृतराष्ट्र को जाता देखकर, सर्वदा गुरुजनों की सेवा में तत्पर साध्वी कुन्ती भी अपने पुत्रों के राज्य को त्यागकर, उनके पीछे पीछे चल दी है, यह कथा आती है ॥ ३३६ ॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि श्री वेदव्यासजी की परम अनुकम्पा से राजा धृतराष्ट्र, रणभूमि में वीरगति को प्राप्त अपने पुत्र, पौत्र तथा अन्य भी जितने शूरवीर राजालोग थे, जो कि लोकान्तरों में स्थित थे, उनको पुनः अपने सन्मुख उपस्थित देखकर, अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुए और समस्त शोक को त्यागकर, अपनी पत्नी गान्धारी के सहित परमगति को प्राप्त हो गये, यह कथा आती है ॥ ३३७–३३८ ॥

तदनन्तर धर्म का आश्रय ग्रहण करनेवाले विदुरजी का परमगति प्राप्त करना तथा मन्त्रियों के सहित गवल्गण के पुत्र, जितेन्द्रिय सञ्जयजी के भी परम-धाम-गमन की कथा आती है ॥ ३३९ ॥

ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः।
नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ॥३४०॥
एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं सुमहाद्भुतम्।
द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ॥३४१॥
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च।
षडेव च तथा श्लोका संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥३४२॥
अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणम्।
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शसहा युधि।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ॥३४३॥
आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥३४४॥
यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ।
नातिचक्रमतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ॥३४५॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर को देवर्षि नारद का दर्शन होना और नारदजी द्वारा यादवकुल के महाविनाश का दुखद वृत्तान्त सुनाना, यह वर्णित है ॥ ३४० ॥

इस प्रकार तत्त्वदर्शी भगवान् वेदव्यासजी ने यह अद्भुत वृत्तान्तवाला आश्रमवासिक पर्व कहा है, इस पर्व में बियालीस (४२) अध्याय हैं तथा एक हजार पाँच सौ छः (१५०६) श्लोक हैं ॥ ३४१-३४२ ॥

हे तपस्वियो ! इसके अनन्तर दारुण मौसलपर्व प्रारम्भ होता है, जिसमें ब्राह्मण के शाप से तथा दुर्दैव से प्रेरित होकर खारी समुद्र के तट पर स्थित प्रभासक्षेत्र में एकत्रित हुए यादववंश के समस्त शूरवीर पुरुष, मदिरालय में प्रचुर मदिरा का पान कर, उन्मत्त हो परस्पर एक दूसरे को कुवाच्य कहकर पतेल नामक घासरूपी अस्त्रों से एक दूसरे का विनाश करके—वह समस्त यादवकुल विनष्ट हो गया, यह कथा आती है ॥ ३४३-३४४ ॥

तदनन्तर साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होने पर भी भगवान् कृष्ण और बलराम अपने वंश का नाश करके, ब्रह्मशाप को सत्य करने के लिये स्वयं भी काल का

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत् परां चार्तिं नरर्षभः ॥३४६॥
स संस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥३४७॥
शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥३४८॥
स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥३४९॥
सर्वेषाञ्चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावाणामनित्यताम् ॥३५०॥

उल्लंघन न करते हुए, उसीके अधीन हो गये अर्थात् गोलोक को प्रयाण कर गये—यह कथा आती है ॥ ३४५ ॥

तदनन्तर पुरुषों में श्रेष्ठ, वीर अर्जुन द्वारका में आकर, यदुवंशियों से शून्य द्वारका को देखकर, अत्यन्त शोकमग्न एवं दारुण पीड़ा से आक्रान्त हुआ यह कथा आती है ॥ ३४६ ॥

तदनन्तर अर्जुन ने अपने मामा वसुदेवजी का विधिपूर्वक अग्निसंस्कार किया और इसके पश्चात् उस रणस्थली में गया, जहाँ मदिरापान कर स्वयं एक-दूसरे का विनाश कर, यदुवंशियों ने यदुवंश का नाश किया था, उस भयानक दृश्य को देखा और तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम तथा अन्य प्रधान राज-पुरुषों के भी मृत शरीरों का अर्जुन ने विधिपूर्वक अग्निसंस्कार किया, यह कथा आती है ॥ ३४७-३४८ ॥

इसके अनन्तर अर्जुन यदुवंश में बचे हुए वृद्धों, स्त्रियों और बालकों को साथ लेकर द्वारका से हस्तिनापुर को चल दिया और मार्ग में पड़े महान् संकट के अवसर पर अपने गाण्डीव धनुष की विफलता को भी उसने देखा ॥ ३४९ ॥

इस प्रकार समस्त दिव्यास्त्रों की तेजहीनता और यदुवंश की रमणियों की भ्रष्टता तथा महाप्रबल प्रभावों की भी अनित्यता को देखकर, अर्जुन अत्यन्त दुखित हुआ और भगवान् वेदव्यासजी के उपदेश से प्रेरित होकर धर्मराज युधिष्ठिर के

दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥३५१॥
इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानाञ्च शतत्रयम् ॥३५२॥
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ॥३५३॥
यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ॥३५४॥
यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ।
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ।
ददौ सम्पूज्य तद्दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ॥३५५॥

समीप पहुँचकर, उसने राज्य त्याग कर संन्यास-धारण करने की इच्छा प्रकट की, यह कथा आती है ॥ ३५०–३५१ ॥

इस प्रकार की दारुण कथाओं से परिपूर्ण यह मौसलपर्व रचा गया है । इस पर्व में आठ (८) अध्यायों की रचना की गई है ॥ ३५२ ॥

तथा तत्त्वदर्शी भगवान् वेदव्यासजी ने इस पर्व में तीन सौ बीस (३२०) श्लोकों की रचना की है। इसके अनन्तर सत्तरहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व प्रारम्भ होता है ॥ ३५३ ॥

जिसमें मानव-श्रेष्ठ पाण्डव लोगों ने अपने राज्य को त्याग कर पत्नी द्रौपदी के सहित हिमालय में जाने के लिये महाप्रस्थान किया, यह कथा आती है ॥ ३५४ ॥

तदनन्तर पूर्व सागर के तट पर पहुँचकर उन लोगों ने अग्निदेव का दर्शन किया, तथा अग्निदेव द्वारा गाण्डीव धनुष की याचना सुनकर, अर्जुन द्वारा उस दिव्य धनुष का श्रद्धापूर्वक पूजन करना तथा महात्मा अग्निदेव को श्रद्धापूर्वक उसको समर्पित करना, यह कथा आती है ॥ ३५५ ॥

यत्र भ्रातॄन्निपतितान्द्रौपदीं च युधिष्ठिरः।
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ॥३५६॥
एतत् सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम्।
यत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानाञ्च शतत्रयम्।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥३५७॥
स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत्तदमानुषम्।
प्राप्तं देवरथं स्वर्गान्नेष्टवान् यत्र धर्मराट्।
आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ॥३५८॥
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः।
श्वरूपं यत्र तत्त्यक्त्वा धर्मेणासौ समन्वितः ॥३५९॥

तत्पश्चात् हिमालयपर्वत पर चढ़ते हुए धर्मराज युधिष्ठिर का, मार्ग में ही अपनी पत्नी द्रौपदी तथा चारों भाइयों में एक के बाद एक को लड़खड़ाकर गिरते हुए देखकर भी बिना पीछे की तरफ देखते हुए अबाधित गति से बढ़ते जाना, यह कथा आती है ॥ ३५६ ॥

इस प्रकार का यह महाप्रस्थानिकपर्व तत्त्वदर्शी भगवान् वेदव्यासजी ने रचा है, इसमें तीन (३) अध्याय हैं तथा तीन सौ बीस (३२०) श्लोक हैं ॥ ३५७ ॥

इसके अनन्तर मनुष्यों के लिये अज्ञेय तथा दिव्य वृत्तान्तोंवाला अठारहवाँ स्वर्गपर्व प्रारम्भ होता है, जिसमें परमज्ञानी धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने पीछे आते हुए कुत्ते को भी विमान में बैठकर स्वर्ग जाने को लालायित देख उस कुत्ते को छोड़कर स्वर्ग से आये हुए उस देवरथ पर आरूढ़ होने से इन्कार कर दिया, यह कथा आती है ॥ ३५८ ॥

इसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर की धर्म में इस प्रकार की अविचल श्रद्धा एवं दृढ़ता को देखकर, अपने कुत्ते के स्वरूप को त्याग कर धर्मराज का उनको अपने स्वरूप में दर्शन देना, यह कथा आती है ॥ ३५९ ॥

स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातनां विपुलां भृशम् ।
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ॥३६०॥
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातॄणां करुणा गिरः ।
निदेशे वर्त्तमानानां देशे तत्रैव वर्त्तताम् ॥३६१॥
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराज्ञा च पाण्डवः ।
आप्लुत्याकाशगङ्गायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम् ॥३६२॥
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ।
मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ॥३६३॥
एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ।
अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन्महात्मना ॥३६४॥
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ।
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा ॥३६५॥
अष्टादशैवमुक्तानि पर्वाण्येतान्यशेषतः ।
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम् ॥३६६॥
दश श्लोकसहस्राणि विंशत् श्लोकशतानि च ।
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा ॥३६७॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर का स्वर्गलोक-गमन तथा देवदूत द्वारा उन को छल से असहनीय यातनाओं से व्याप्त नरक को दिखाना,—॥ ३६० ॥

वहाँ स्थित अपने भाइयों की करुणोत्पादक चीत्कारों का युधिष्ठिर द्वारा श्रवण करना। तत्पश्चात् यमराज तथा देवराज इन्द्र द्वारा, उनके वशवर्ती पापियों के स्थानों का युधिष्ठिर को निरीक्षण कराना। तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर का आकाश-गंगा में स्नान करके अपनी मनुष्यदेह को त्याग कर इन्द्र आदि समस्त देवताओं से पूजित हो अपने धर्म से प्राप्त उस दिव्यलोक स्वर्ग में निवास करके परम आनन्दित होना, यह कथा आती है॥ ३६१–३६३ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् व्यासजी ने अठारहवाँ पर्व कहा है। हे तपोधनो! परम ऋषि महात्मा व्यासजी ने इस पर्व में पाँच अध्याय और नौ सौ नौ श्लोकों

एतत्सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥३६८॥
यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥३६९॥
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥३७०॥
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्रव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलगिरः श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥३७१॥
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥३७२॥

की रचना की है। इस प्रकार अठारह पर्व अनुक्रमणिका सहित कहे हैं और खिल नामक प्रकरण में हरिवंशपर्व और भविष्यपर्व कहे हैं। महर्षि व्यासजी ने खिलपर्व में आये हुए हरिवंशपर्व में बारह सहस्र श्लोक कहे हैं. ॥ ३६४-३६७ ॥

इस प्रकार महाभारत में सब पर्वों का संग्रह कहा है। अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में युद्ध करने को इकट्ठी हुई थी, उसका महाघोर युद्ध बराबर अठारह दिन तक होता रहा ॥ ३६८ ॥

अङ्गों और उपनिषदों सहित चारों वेदों का जाननेवाला भी यदि इस इतिहास को न जानता हो तो उसको चतुर नहीं कहा जा सकता। क्यों कि परम बुद्धिमान् भगवान् वेदव्यासजी ने इस महाभारत की रचना में पूरा अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र कहा है। अर्थात् इसमें सब विषय कहे हैं ॥ ३७० ॥

जिसने कोकिल के मधुर स्वरों को सुना है, उसको जैसे कौए की रूखी वाणी अच्छी नहीं लगती है। वैसे ही जिसने महाभारत को सुन लिया है, उसको और किसी भी कथा को सुनने की रुचि नहीं होती है ॥ ३७१ ॥

जैसे तीनों लोकों की उत्पत्ति पञ्च महाभूतों से होती है, वैसे ही सकल कवियों की बुद्धि इस उत्तम इतिहास को सुनने से प्रफुल्लित होती है ॥ ३७२ ॥

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्त्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥३७३॥
क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥३७४॥
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥३७५॥
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥३७६॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥३७७॥
धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥३७८॥

और हे ब्राह्मणो ! जैसे चारों प्रकार की सृष्टि अन्तरिक्ष में रहती है, वैसे पुराणों की कथाएं इस महाभारत के अन्तर्गत हैं। जैसे सब इन्द्रियों की विचित्र कथाएँ मन के अधीन रहता हैं, वैसे ही लौकिक तथा वैदिक सब क्रियाओं के फलों के उत्तम साधन इस महाभारत के आश्रय में रहते हैं ॥ ३७३–३७४ ॥

जैसे भोजन के विना शरीर नहीं टिक सकता, वैसे ही इसके आश्रय के विना एक भी कथा इस भूतल पर नहीं टिक सकती ॥ ३७५ ॥

उन्नति चाहनेवाले सेवक जैसे कुलीन स्वामी पर श्रद्धा रखते हैं, वैसे ही सकल महाकवि भी इस बड़ी भारी कथा के ऊपर अपना आश्रय रखते हैं ॥ ३७६ ॥

जैसे उत्तम गृहस्थ-आश्रम के सामने दूसरे आश्रम उत्तम नहीं माने जाते, वैसे ही इस काव्य से अच्छा काव्य कोई भी नहीं बना सकता ॥ ३७७ ॥

हे तपस्वियो ! तुम संसारी भावनाओं को त्यागो और सावधानरहकर

द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवञ्च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥३७६॥

यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन्।
महाभारतमाख्याय सन्ध्यां मुच्यति पश्चिमाम् ॥३८०॥

यद्रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
महाभारतमाख्याय पूर्वां सन्ध्यां प्रमुच्यते ॥३८१॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्याञ्च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥३८२॥

अपने चित्त को धर्म के ऊपर निश्चल करो। क्योंकि परलोक में जाते समय केवल एक धर्म ही सहायक है। चतुर पुरुष धन और स्त्रियों का सेवन करते हैं, तो भी वह अपने मन में उनके श्रेष्ठ होने का विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, किंतु वह इन दोनों के स्थिरपने को भी नहीं पाते ॥ ३७८ ॥

कृष्ण द्वैपायन के मुख से निकला हुआ यह महाभारत सबसे श्रेष्ठ ज्ञान का साधन, पवित्र, पापों को हरनेवाला और शुभ है, जो बँचते हुए महाभारत को सुनता है, उसको पुष्कर तीर्थ में स्नान करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् तीर्थों में स्नान करने से जो पुण्य होता है, उससे अधिक पुण्य महाभारत को सुनने से मिलता है ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मण दिन में इन्द्रियों से जो पाप करता है, उस पाप से सायङ्काल को महाभारत पढ़कर छूट जाता है ॥ ३८० ॥

रात में जो मन वचन तथा कर्म से पाप करता है, उस पाप से प्रातःकाल के समय महाभारत को पढ़कर मुक्त हो जाता है ॥ ३८१ ॥

वेद पढ़े हुए और अनेकों विद्याओं के ज्ञाता ब्राह्मण को सोने से मढ़े हुए

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं
विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं
विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥३८३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पर्वसंग्रहः समाप्तः ॥ २ ॥

सींगोंवाली सौ गौएँ देने से जो पुण्य मनुष्य को प्राप्त होता है, उतना ही पुण्य इस महाभारत की पवित्र कथा को सुनने से मनुष्य को प्राप्त होता है ॥ ३८२ ॥

जिसके पास जहाज है उस मनुष्य को जैसे समुद्र के पार जाना सहज होता है, वैसे ही मनुष्य महाभारत को सुनने से पहिले इस पर्वसंग्रहाध्याय को सुनले, तो विस्तारवाले बड़े बड़े विषयों से युक्त, सब से श्रेष्ठ और गम्भीर विषयों से भरे हुए इस महाभारत को सहज में ही समझ सकता है ॥ ३८३ ॥

द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥



तीसरा अध्याय

सौतिरुवाच

जनमेजयः पारीक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते । तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति । तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः ॥ १ ॥

स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ॥ २ ॥

तं माता रोरूयमाणमुवाच किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ॥ ३ ॥

स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति ॥ ४ ॥

तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—राजा परीक्षित् का पुत्र जनमेजय अपने भाइयों के साथ कुरुक्षेत्र में बहुत समय में पूरे हो सकनेवाले यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था। उसके श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन नामवाले तीन भाई थे, वे भी उस यज्ञ में बैठे थे। उस समय उसके समीप सरमा का पुत्र (इस नामवाली देवताओं की कुतिया का पुत्र) सारमेय आया ॥ १ ॥

राजा जनमेजय के भाइयों ने उस कुत्ते को यज्ञभूमि में आया हुआ देखकर मारा, तब वह रोता रोता अपनी माता के पास गया ॥ २ ॥

माता ने उसको अकस्मात् रोते हुए देखकर कहा कि बेटा! क्यों रोता है? तुझे किसने मारा है? माता के पूछने पर उसने उत्तर दिया कि राजा जनमेजय के भाइयों ने मुझे मारा है ॥ ३–४ ॥

उसकी माता ने कहा—तू ने प्रकट में उनका कोई अपराध किया होगा, इस कारण ही तुझे उन्होंने मारा होगा ॥ ५ ॥

स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किञ्चिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्त्ता तत्सत्रमुपागच्छ-द्यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घं सत्रमुपास्ते ॥ ७ ॥

स तया क्रुद्धया तत्राक्तोऽयं मे पुत्रो न किञ्चिदपराध्यति नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति ॥ ८ ॥

न किञ्चिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽन-पकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति ॥ ९ ॥

जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ १० ॥

स तस्मिन् सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनु-रूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोत् यो मे पापकृत्यां शम-येदिति ॥ ११ ॥

उसने उत्तर दिया कि मैंने उनका कुछ भी अपराध नहीं किया था, मैंने उनके यज्ञ की हवि को भी नहीं देखा था और उसको चाटा भी नहीं था ॥ ६ ॥

यह सुनकर पुत्र के दुःख से दुःखित हुई उसकी माता सरमा, अधिक समय तक होनेवाले उस यज्ञ में भाइयों के साथ अनुष्ठान में रत राजा जनमेजय के पास गई और क्रोध में भरकर उससे कहने लगी कि इस मेरे पुत्र ने तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं किया था, इसने हवि को नहीं चाटा, उधर दृष्टि तक नहीं डाली, फिर तुमने इसको क्यों मारा ? ॥ ७-८ ॥

यह बात सुनकर राजा कुछ भी नहीं बोला, तब सरमा कहने लगी कि—मेरे निरपराध पुत्र को तुमने मारा है तो जाओ तुम्हारे ऊपर कोई अतर्कित विपत्ति आयेगी ॥ ९ ॥

इस प्रकार दिव्य कुतिया सरमा के शाप देने पर राजा जनमेजय चिन्ता में पड़कर बड़ा दुःखी हुआ ॥ १० ॥

उस यज्ञ के समाप्त होने पर वह हस्तिनापुर में आया और उस शाप का प्रायश्चित्त कराने के लिये बल, आयु तथा प्राणों का नाश करनेवाली कृत्या की

स कदाचिन्मृगयां गतः पारीक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित् स्वविषये आश्रममपश्यत् ॥ १२ ॥

तत्र कश्चिदृषिरासाञ्चक्रे श्रुतश्रवा नाम। तस्य तपस्यभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १३ ॥

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारीक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १४ ॥

स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १५ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यांजातो महातपस्वी स्वाध्यायसम्पन्नो मत्तपोवीर्यसम्भृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ जातः ॥ १६ ॥

समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महादेवकृत्याम् ॥ १७ ॥

शान्तिपूर्वक उस आपत्ति से मुक्त कर देनेवाले किसी योग्य पुरोहित को पाने की इच्छा से यत्न करने लगा ॥ ११ ॥

परीक्षित् के पुत्र राजा जनमेजय ने एक दिन शिकार में जाकर किसी अपने ही प्रदेश में एक आश्रम देखा ॥ १२ ॥

उस आश्रम में एक श्रुतश्रवा नामवाले ऋषि रहते थे, उनका एक सोमश्रवा नामक पुत्र था जो निरन्तर तपस्या में ही लगा रहता था ॥ १३ ॥

उस ऋषिकुमार को अपना पुरोहित बनाने की इच्छावाले राजा जनमेजय ने ऋषि के पास जाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहने लगा कि हे भगवन्! आपके यह पुत्र मेरे पुरोहित बन जायँ, ऐसी कृपा करिये ॥ १४-१५ ॥

राजा जनमेजय के इस प्रकार कहने पर ऋषि ने उसको उत्तर दिया कि यह मेरा पुत्र बड़ा तपस्वी है, निरन्तर वेद का स्वाध्याय किया करता है और तप के वीर्य से पुष्ट है। एक समय एक सर्पिणी ने मेरे वीर्य को पी लिया था, उसके पेट से यह उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

यह एक महादेव के अपराध से प्राप्त हुए शाप को छोड़कर अन्य सकल अपराधों के शाप से तुम्हें छुड़ा सकता है ॥ १७ ॥

अस्य त्वेकमुपांशुव्रतं यदेनं कश्चिद् ब्राह्मणः कश्चिदर्थमभिया-
चेत तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ॥ १८ ॥

तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत्तथा
भविष्यतीति ॥ १९ ॥

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाच मयायं वृत
उपाध्यायो यदयं ब्रूयात्तत् कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति।
तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः स तथा भ्रातॄन् सन्दिश्य
तक्षशिलाम् प्रत्यभिप्रतस्थे तञ्च देशं वशे स्थापयामास ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो
बभूवुः । उपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ २१ ॥

परन्तु इसका यह एक गूढ़ नियम है कि कोई भी ब्राह्मण इसके पास आकर किसी वस्तु की याचना करे तो यह उसको वही दे देता है। यदि तुम इसके इस व्रत को पूरा करने का साहस रखते हो तो भले ही इसको लिवा जाओ ॥ १८ ॥

श्रुतश्रवा की इस बात को सुनकर जनमेजय ने उत्तर दिया—महाराज! आपने जो आज्ञा दी है, मैं ऐसा ही करने को उद्यत हूँ ॥ १९ ॥

तदनन्तर जनमेजय ने उस मुनिकुमार को अपना पुरोहित बना लिया और उसको साथ लेकर अपनी राजधानी में आकर भाइयों से कहा कि इन मुनिकुमार को मैंने अपना पुरोहित बनाया है, इस कारण आज से यह जो कुछ भी कहें, तुम बिना विचारे वैसा ही करना। ऐसा कहने पर जनमेजय के भाई अपने भाई की आज्ञा के अनुसार वर्त्ताव करने लगे। राजा जनमेजय अपने भाइयों को इस प्रकार सूचना देकर तक्षशिला नगरी पर चढ़ाई करने को गया और उस देश को अपने वश में कर लिया ॥ २० ॥

उस समय एक स्थान पर आयोद धौम्य नामक एक ऋषि रहते थे, उन ऋषि के यहाँ आरुणि, उपमन्यु और वेद नामवाले तीन शिष्य पढ़ने के लिये रहते थे ॥ २१ ॥

स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २२ ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत् केदारखण्डं बद्धुं नाशकत्। स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामीति ॥ २३ ॥

स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २४ ॥

ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत् क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २५ ॥

ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति। स एवमुक्तस्तान् शिष्यान् प्रत्युवाच तस्मात्तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ॥ २६ ॥

एक समय ऋषि ने अपने शिष्यों में से पांचाल देश के रहनेवाले आरुणि नामक शिष्य को अपने पास बुलाकर आज्ञा दी कि बेटा! तुम खेत पर जाकर क्यारियों की मेड़ बाँध दो ॥ २२ ॥

पांचाल-देशवासी आरुणि गुरु की आज्ञानुसार खेत पर गया पर वहाँ बहुत सा क्लेश उठाकर भी क्यारियों की मेड़ न बना सका और मन में बड़ा दुःखी हुआ। परन्तु अन्त में उसको एक उपाय सूझा और मन में कहने लगा कि ठीक है, लाओ ऐसा ही करूँ ॥ २३ ॥

ऐसा मन ही मन में कहकर जहाँ से पानी बहकर निकल जाता था वहाँ गया और जल निकलने के स्थान पर आप ही लम्बा लेट रहा। ऐसा करने पर क्यारी में से जो पानी निकल जाता था वह रुक गया ॥ २४ ॥

तदनन्तर कुछ समय बीतने पर उपाध्याय आयोद धौम्य ने अपने दूसरे शिष्यों से पूछा कि आरुणि कहाँ गया है? ॥ २५ ॥

शिष्य ने उत्तर दिया—महाराज! आपने ही तो उसको खेत में पानी की क्यारियाँ बाँधने को भेजा है। यह बात याद आते ही धौम्य ऋषि ने शिष्यों से कहा कि जहाँ आरुणि गया है, चलो वहाँ ही हम भी चलें ॥ २६ ॥

स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दञ्चकार भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि वत्सैहीति ॥ २७ ॥

स तच्छ्रुत्वारुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात् केदारखण्डात् सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ॥ २८ ॥

प्रोवाच चैनमयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः ॥ २९ ॥

तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान् कमर्थं करवाणीति ॥ ३० ॥

स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद्भवान् केदारखण्डं विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान् भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः ॥ ३१ ॥

यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि । सर्वे एव ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर धौम्य ऋषि ने खेत पर जाकर उसको पुकारकर बुलाया कि हे बेटा आरुणि ! तू कहाँ है यहाँ आ ॥ २७ ॥

आरुणि गुरु के बुलाने का शब्द सुनते ही, जिस क्यारी की मेड़ पर लेटा हुआ था वहाँ से खड़ा हो गुरु के सामने आकर उपस्थित हो गया और उनको प्रणाम करके कहने लगा—॥ २८ ॥

महाराज ! मैं यह हूँ क्यारी में से पानी बहा जाता था, किसी प्रकार रुक नहीं सका तब मैं आप ही उस बहते हुए पानी को रोकने के लिये क्यारी में आड़ा लेट गया था, इतने में आप का शब्द सुनते ही क्यारी के पानी को बहता हुआ छोड़कर यहाँ आप के पास आया हूँ और आप को प्रणाम करता हूँ। कहिये अब आप की किस आज्ञा का पालन करूँ ? ॥ २९-३० ॥

आरुणि के वचन को सुनकर गुरु ने उससे कहा—तू क्यारी को तोड़कर यहाँ आया है, इस कारण आज से तू उद्दालक कहायेगा। फिर ऋषि ने उसके

स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम। अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदधौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥ ३३ ॥

तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥ ३४ ॥

स उपाध्यायवचनादरक्षद् गाः स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३५ ॥

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ॥ ३६ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ३७ ॥

मय्यनिवेद्य भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति। स तथेत्युक्तो भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायाय न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

ऊपर कृपा करके यह भी कहा कि बेटा आरुणि! तूने मेरी आज्ञा का पूरा पालन किया है, इससे तेरा कल्याण होगा, इतना ही नहीं किंतु सब वेद तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थ तुझे बिना पढ़े ही आ जायँगे ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

इस प्रकार गुरु से वरदान पाकर पञ्चालदेशवासी आरुणि अपने देश को चला गया। आयोद धौम्य ऋषि के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था ॥ ३३ ॥

उस शिष्य को बुलाकर एक समय गुरु ने कहा कि हे बेटा उपमन्यु! तू गौएँ चराने को जा ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वह गुरु की आज्ञानुसार गौएँ चराने लगा, दिन भर गौएँ चरायीं और सायंकाल के समय गौओं का आश्रम में लाकर गुरु को प्रणाम करके खड़ा हो गया ॥ ३५ ॥

उपाध्याय ने उसको हृष्ट पुष्ट देखकर पूछा कि बेटा उपमन्यु! तू क्या खाता है कि जिससे तू ऐसा अत्यन्त हृष्ट पुष्ट हो रहा है ॥ ३६ ॥

उसने उपाध्याय को उत्तर दिया कि महाराज! मैं केवल भिक्षा माँगकर (लाता हूँ,) उससे ही अपना निर्वाह करता हूँ। उपाध्याय ने उससे कहा—॥ ३७ ॥

आज से माँगकर लाई हुई भिक्षा मुझे दिखाए बिना मत खाना। ऐसा कह देने पर शिष्य माँगकर लाई हुई भिक्षा प्रतिदिन गुरु को निवेदन करने लगा ॥ ३८ ॥

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात्। स तथेत्युक्तः पुनररक्षद् गा अहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३९ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४० ॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ४१ ॥

नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्त्युपरोधं करोषि इत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति ॥ ४२ ॥

स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत्। रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४३ ॥

उपाध्याय उसकी लाई हुई सब भिक्षा को स्वयं लेने लगे। एक समय किसी दिन वह गौएँ चराकर आया और सायंकाल के समय गुरु के आश्रम में उनके पास नमस्कार करके खड़ा हो गया। उसको हृष्ट पुष्ट देखकर उन्होंने फिर कहा कि—बेटा! उपमन्यु! मैं तेरी सब भिक्षा ले लेता हूँ, इस दशा में तू अपना निर्वाह किस आधार पर करता है?॥ ३९-४० ॥

ऐसा पूछने पर उपमन्यु ने उपाध्याय को उत्तर दिया कि महाराज! मैं पहिले माँगकर लाई हुई भिक्षा आप को निवेदन कर देता हूँ और दूसरी बार भिक्षा माँगकर लाता हूँ, फिर उससे अपना निर्वाह करता हूँ। यह बात सुनकर गुरु ने उससे फिर कहा—॥ ४१ ॥

ऐसा वर्ताव करना ठीक नहीं है, क्योंकि दो समय भिक्षा माँगकर तू दूसरे भिक्षा माँगनेवाले विद्यार्थियों के निर्वाह में बाधा डालता है। इससे प्रतीत होता है कि तू लोभी है, आगे से ऐसा मत करना॥ ४२ ॥

उपमन्यु ने गुरु की इस आज्ञा को मस्तक पर चढ़ाकर कहा कि अब आगे से ऐसा नहीं करूँगा। ऐसा कहकर वह फिर गौएँ चराने के काम में लग गया और गौएँ चराकर सायंकाल के समय गुरु के आश्रम में आकर उनको प्रणाम करके खड़ा हो गया॥ ४३ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्यो अहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४४ ॥

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मया नाभ्यनुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥

तमुपाध्यायः पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयो न पिबसि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनात् पिबन्त उद्गिरन्ति ॥ ४८ ॥

तब भी हृष्ट पुष्ट देखकर गुरु ने उससे फिर कहा कि बेटा उपमन्यु ! मैं तेरी सब भिक्षा ले लेता हूँ और अब तू दूसरी बार भी भिक्षा नहीं माँगता है, तो भी तू शरीर से बड़ा हृष्ट पुष्ट रहता है। अतः बता कि तू किस आधार पर निर्वाह करता है ? इस प्रकार पूछने पर उपमन्यु ने गुरु को उत्तर दिया कि हे महाराज ! मैं इन गौओं का दूध पीकर निर्वाह कर लेता हूँ। गुरु ने कहा कि—अरे ! मेरी आज्ञा के विना तू गौओं का दूध पी लेता है, यह अन्याय करता है। अर्थात् अब तू मेरी आज्ञा विना पाये गौओं का दूध मत पीना ॥ ४४–४५ ॥

'जो आज्ञा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वह फिर गौओं को चराने के काम में प्रवृत्त हो गया। फिर वह गौओं को चराकर गुरु के घर जा उनके समीप में खड़ा हो गया और उनको प्रणाम किया ॥ ४६ ॥

गुरु ने उसको हृष्ट पुष्ट देखकर फिर पूछा—बेटा उपमन्यु ! तू भिक्षा माँगकर लाता है उसको खाता नहीं, दूसरी बार भिक्षा माँगकर लाता नहीं, और गौओं का दूध भी पीता नहीं है, तो भी तू बड़ा हृष्ट पुष्ट हो रहा है। सो बता

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्त्तमानः। फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद् गाः ॥ ४९ ॥

तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यचरति पयो न पिबति फेनं नोपयुङ्क्ते स कदाचिदरण्ये क्षुधार्त्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥ ५० ॥

स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽन्धो बभूव। ततः सोऽन्धोऽपि चंक्रम्यमाणः कूपे पपात ॥ ५१ ॥

कि—अब तू किस आधार पर अपना निर्वाह करता है? यह सुनकर उपमन्यु ने उत्तर दिया कि महाराज! गौएँ बछड़ों को दूध पिलाती हैं, उस समय जो झाग गिर पड़ते हैं उनको खाकर ही मैं अपना निर्वाह कर लेता हूँ ॥ ४७–४८ ॥

गुरु ने कहा कि ओः! यह शान्तस्वभाव बछड़े तेरे ऊपर दया करके अधिक झाग गिरा देते हैं, अतः इस प्रकार आजीविका करने से तू उनकी आजीविका में बाधा डालता है। इस कारण तू उन झागों को खाकर भी निर्वाह मत किया कर। 'अच्छा अब ऐसा नहीं करूँगा' ऐसा कहकर उपमन्यु फिर गौयें चराने लगा ॥ ४९ ॥

इस प्रकार गुरु के निषेध कर देने पर उसने भिक्षा से निर्वाह करना छोड़ दिया था, दूसरी भिक्षा माँगना भी छोड़ दिया था, दूध पीना भी बन्द कर दिया था, और अब झागों से निर्वाह करना भी छोड़ दिया, केवल उपवास करने लगा। एक दिन उसने वन में भूख से घबड़ाकर आक के पत्ते खा लिये ॥ ५० ॥

खारे, तीखे, कडुए, रूखे तथा पेट में जलन डालनेवाले आक के पत्ते खाने से उसकी आँखें फूट गईं और बिचारा अन्धा हो गया, तथापि जङ्गल में गुरु की गौओं को चराता हुआ फिरने लगा। एक दिन वन में गौ चराने को फिरते समय वह एक कुए में जा पड़ा ॥ ५१ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्ताचलावलम्बिनि उपाध्यायः शिष्यानवोचत्। नायात्युपमन्युस्त ऊचुर्वनं गतो गा रक्षितुमिति। तानाह उपाध्यायः ॥ ५२ ॥

मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति चिरं ततोऽन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्द्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो उपमन्यो क्वासि वत्सैहीति ॥ ५३ ॥

स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन् कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन् कूपे पतित इति ॥ ५४ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच। अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति ॥ ५५ ॥

सूर्य अस्त हो जाने पर भी उपमन्यु लौटकर घर नहीं आया, तब आयोद धौम्य उपाध्याय ने दूसरे शिष्य से पूछा कि अरे! आज उपमन्यु क्यों नहीं आया? शिष्य ने उत्तर दिया—महाराज! आप की आज्ञा से वह गौएँ चराने वन में गया है। उपाध्याय ने उस शिष्य से कहा,—॥ ५२ ॥

मैंने उपमन्यु का भोजन सब प्रकार से बन्द कर दिया है, इस कारण उसको अवश्य ही क्रोध आया होगा। इसी कारण आज वह इतना समय हो जाने पर भी नहीं आया है, इस लिये चलो हम उसको ढूँढ लावें। इस प्रकार शिष्यों सहित धौम्य ऋषि वन में जाकर पुकारने लगे कि अरे उपमन्यु! ओ उपमन्यु! तू कहाँ है? बेटा यहाँ आ ॥ ५३ ॥

उपाध्याय के पुकारने को सुनकर कुए में से ही उपमन्यु ऊँचे स्वर से बोला—हे गुरु महाराज! मैं इस कुए में गिर गया हूँ, उपाध्याय ने उससे पूछा कि बेटा! तू कुए में कैसे गिर गया? उसने उत्तर दिया कि महाराज! आक के पत्ते खाने से मैं अंधा हो गया हूँ, इस कारण फिरते समय कुए में आ पड़ा ॥ ५४-५५ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। अश्विनौ स्तुहि तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्त्ताराविति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिऋग्भिः ॥ ५६ ॥
प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू गिरा वाऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमानावधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ॥५७॥
हिरण्मयौ शकुनी साम्परायौ नासत्यदस्रौ सुनसौ जयन्तौ।
शुक्लं वयन्तौ तरसा सुवेमावधिव्ययन्तावसितं विवस्वतः ॥५८॥
ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्त्तिकाममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय।
तावत् सुवृत्तावनमन्तमायथावसत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥५९॥

यह सुनकर गुरु ने कहा कि बेटा! तू देवलोक के वैद्य अश्विनीकुमारों की स्तुति कर, वह तुझे नेत्र देंगे। इस प्रकार गुरु के कहने से उपमन्यु ऋग्वेद की ऋचाओं से देवता अश्विनीकुमारों की स्तुति करने लगा,—॥ ५६ ॥

हे अश्विनीकुमारो! तुम सृष्टि से पहिले विद्यमान थे, तुम ही सकल भूतों में प्रधान हिरण्यगर्भ रूप से उत्पन्न हुए हो, तुम ही विचित्र प्रपंचरूप से प्रकट होते हो। देश काल और अवस्था के द्वारा तुम्हारा परिमाण नहीं किया जा सकता। मैं वाणी और तपस्या के द्वारा तुम्हें आत्मस्वरूप से पाने की इच्छा रखता हूँ। तुम ही माया और मायारूढ चैतन्यरूप से प्रकाशित होते हो। तुम शरीररूपी वृक्ष पर पक्षीरूप से रहते हो, तुम प्रकृति में रहनेवाली विक्षेपशक्ति के द्वारा सकल जगत् को रचते हो, सत्त्व, रज और तमोगुण से रहित हो, मन तथा वाणी के अगोचर हो ॥ ५७ ॥

तुम ज्योतिर्मय, सङ्गरहित, परब्रह्मरूप, जगत् के लय और अधिष्ठान हो, भ्रम और क्षय से रहित हो, तुम सुन्दर नासिकावाले अर्थात् शारीरिक धर्मवाले हो तो भी काल को जीतते हो। तुम सूर्य की सृष्टि करके दिन और रात्रिरूपी श्वेत काले तन्तुओं से संवत्सररूपी वस्त्र को बुनते हो, और तुम कर्मफल भोगने के लिये लोक को मार्ग दिखाते हो ॥ ५८ ॥

जीवरूपी चिड़िया को परमात्मा की कालशक्ति ने ग्रस रक्खा है, इस कारण उसके मोक्षरूपी महासौभाग्य के लिये तुम अश्विनीकुमार रूप से प्रकट होते हो।

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नाना गोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो धर्ममुक्थ्यम् ॥६०॥
एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः।
अनेमिचक्रं परिवर्त्ततेऽजं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥६१॥
एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं
षण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम्।
यस्मिन्देवा अधिविश्वे विषक्ता-
स्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ॥६२॥

राग आदि विषयों के वश में हुए अत्यन्त मूढ़ पुरुष जब तक इन्द्रियों के अधीन होकर बँधे रहते हैं, तब तक वह सकल दोषों से रहित आप को देहधारी मानते हैं और तभी तक वह जन्म मरण को पाया करते हैं। इस कारण मुक्ति पाने का उपाय राग आदि का विजय है॥ ५९॥

दिन—रातरूपी तीन सौ साठ गौएँ सबको उत्पन्न करनेवाले तथा सबका संहार करनेवाले एक संवत्सररूपी बछड़े को उत्पन्न करती हैं। तत्त्व के जिज्ञासु पुरुष उस बछड़े के द्वारा तत्त्वज्ञानरूपी दूध को दुहते हैं। हे अश्विनीकुमारों! तुम्ही इस बछड़े को उत्पन्न करनेवाले हो॥ ६०॥

कालरूप पहिये की संवत्सररूप नाभि है, उस नाभि के आधार में रात और दिन मिलाकर सात सौ बीस अरे लगे हुए हैं तथा उस कालचक्र में बारह महीने-रूप बारह प्रधि [अरों को थामनेवाले काठ] लगे हुए हैं। यह नेमिरहित कालचक्र निरन्तर घूमा करता है, यह अविनाशी और मायामय है। इस चक्र के प्रवर्त्तक तुम ही हो, यह चक्र इस लोक और स्वर्गलोक दोनों का संहार करता है। अर्थात् दोनों लोकों के भोग नाशवान् हैं, इस कारण उनकी चाहना कदापि नहीं करनी चाहिये॥ ६१॥

मेष आदि राशिरूप बारह अरा, ऋतुरूप छः नाभि, संवत्सररूपी आँख तथा कर्मफलरूपी एक आधारवाला एक कालचक्र है। इसमें काल के अधिष्ठातृ देवता भी रहते हैं। उस कालचक्र में से तुम मुझे छुटकारा दो। हम जन्म आदि के दुःख से परम दुःखी हैं॥ ६२॥

अश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ
तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी ।
हित्वा गिरिमश्विनौ गा मुदा चरन्तौ
तद्वृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ॥६३॥

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति ।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥६४॥
युवां वर्णान्विकुरुथो विश्वरूपांस्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥६५॥
तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधावृते देवास्तत् प्रपदे न सूते ॥६६॥

तुम ही विषय आदि प्रपञ्चरूप हो, तुम ही कर्मफलरूप हो, तुम ही आकाश आदि के लय के कारणभूत हो, तुम ही अनादि काल की अविद्या के दोष से भोगने योग्य विषयों में इन्द्रियों का संयोग होने से परम हर्ष के साथ संसार में भ्रमण करते हो और परब्रह्म भी तुम ही हो ॥ ६३ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! तुमने आरम्भ में दस दिशा, सूर्य तथा अन्तरिक्ष को रचा है, तथा सूर्य से दिखाई हुई दिशाओं और काल के अनुसार ऋषिगण वेदोक्त कर्म करते हैं तथा देवता और मनुष्य अपने अपने अधिकार के अनुसार ऐश्वर्यों को भोगते हैं ॥ ६४ ॥

तुमने पञ्च तन्मात्राओं से सृष्टि को उत्पन्न करके उनमें से एक को दूसरे के साथ इकट्ठा कर दिया है और उनमें से अनेकों पदार्थ उत्पन्न किये हैं। चौदह भुवन भी उनसे ही हुए हैं। जीव देह, इन्द्रियों और बुद्धिनामक विकारों को प्राप्त होने के अनन्तर विषयों को भोगते हैं तथा देवता, मनुष्य और पशु आदि सब प्राणी इस पृथ्वी का आश्रय करके रहते हैं ॥ ६५ ॥

हे प्रसिद्ध अश्विनीकुमारो ! म तुम्हारी पूजा करता हूँ तथा तुम्हारे रचे हुए आनन्दमय आकाश के सब कार्यों की भी मैं पूजा करता हूँ। कर्मों के फल के विना देवता भी किसी प्रकार का फल नहीं पा सकते और उन कर्मफलों को उत्पन्न करनेवाले तथा नित्यमुक्त तुम ही हो ॥ ६६ ॥

खेन गर्भं लभेतां युवानौ गतासुरेतत् प्रपदे न सूते।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भस्तावश्विनौ मुञ्चथो जीवसे गाः ॥६७॥

इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एष तेऽपूपोऽशानैनमिति ॥ ६८ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतपूर्वमूचतुर्भगवन्तौ। न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति ॥ ६९ ॥

ततस्तमश्विनावूचतुः आवाभ्यां पुरस्ताद्भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानिवेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७० ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच एतत् प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य गुरवेऽपूपमेनमुपयोक्तुमिति ॥ ७१ ॥

तुम अन्न के द्वारा पिता तथा माता को सुख से गर्भ धारण कराते हो और उस अन्नज वीर्य के विषयेन्द्रिय द्वारा देह में जाते ही वह फिर जड़ शरीर का रूप धारण करता है और तत्काल उत्पन्न हुआ गर्भ [बालक] अपनी माता का स्तन पीने लगता है। हे अश्विनीकुमारो ! जीवन की इच्छा करनेवाले मुझे मेरे नेत्र देकर अन्धेपन से छुड़ाइये ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उसके स्तुति करने से अश्विनीकुमार वहाँ आये और उपमन्यु से कहा कि हम तेरी स्तुति से प्रसन्न हुये हैं और तेरे लिये यह अपूप [पूए] लाये हैं, इनको तू खा ले ॥ ६८ ॥

अश्विनीकुमारों के ऐसा कहने पर उपमन्यु ने उत्तर दिया कि हे अश्विनीकुमारो, आप असत्य नहीं बोलते हैं, परन्तु यह पुए मैं अपने गुरु को निवेदन किये विना नहीं खाना चाहता ॥ ६९ ॥

उपमन्यु की यह वात सुनकर अश्विनीकुमारों ने कहा कि पहिले तेरे गुरु ने इसी प्रकार की स्तुति की थी और उस समय हमने उनको भी पूए दिये थे, उन्होंने अपने गुरु को अर्पण किये विना ही उन्हें खा लिया था। इस कारण जैसा तेरे गुरु ने किया था वैसा ही तू कर ॥ ७० ॥

अश्विनीकुमारों के ऐसे कथन को सुनकर उपमन्यु ने उनसे कहा कि हे

तमश्विनावाहतुः प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुभक्त्यात उपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसि श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७२ ॥

स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्योपध्यायमभ्यवादयत् ॥ ७३ ॥

आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान्बभूव। आह चैनं यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसीति ॥ ७४ ॥

सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति एषा तस्यापि परीक्षोपमन्योः ॥ ७५ ॥

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदधौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कञ्चित्कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ७६ ॥

अश्विनीकुमारो ! मैं आप से विनय करता हूँ कि अपने गुरु को निवेदन किये विना इन पुओं को नहीं खाना चाहता ॥ ७१ ॥

इस पर अश्विनीकुमारों ने कहा कि तेरी ऐसी गुरुभक्ति से हम तेरे ऊपर परम प्रसन्न हैं। तेरे गुरु के दाँत लोहे के समान काले हैं, परन्तु तेरे दाँत सुवर्ण के समान चमकदार होंगे। हे बेटा ! जा तेरी आँखें अच्छी हो जायँगी और तेरा कल्याण होगा ॥ ७२ ॥

अश्विनीकुमारों के इस प्रकार कहने (वरदान देने) से अभिमन्यु तत्काल सूझता होकर देखने लगा और अपने गुरु के पास जाकर उसने उनको प्रणाम किया—॥ ७३ ॥

और उनसे सब वृत्तान्त कहा, जिसको सुनकर गुरु बड़े प्रसन्न हुए और उससे कहा कि अश्विनीकुमारों ने तुझे जैसा वरदान दिया है, उसके अनुसार तेरा कल्याण होगा ॥ ७४ ॥

सकल वेद तथा संपूर्ण धर्मशास्त्र तुझे सर्वदा उपस्थित रहकर प्रकाशित रहेंगे। इस प्रकार अभिमन्यु की परीक्षा पूरी हुई ॥ ७५ ॥

आयोद धौम्य के तीसरे शिष्य का नाम वेद था, गुरु ने एक दिन उसको

तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसत् गोरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःख-सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ॥ ७७ ॥

तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप । एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ७८ ॥

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृतस्तस्माद् गुरुकुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत ॥ ७९ ॥

तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान्न किञ्चिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा वेति ॥ ८० ॥

दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८१ ॥

आज्ञा दी कि बेटा वेद ! तू मेरे घर में रहकर मुझ अपने गुरु की सेवा कर, इस से ही तेरा कल्याण होगा ॥ ७६ ॥

इस प्रकार गुरु के कहने पर "बहुत अच्छा" कहकर वेद उनकी आज्ञा-नुसार गुरुकुल में रहकर चिरकाल पर्यंत गुरुसेवा करता रहा। गुरु नित्य बैल के समान उसको कामधंधे के जुए में जोतते रहे और वह उस बोझे को अपने कंधे पर लिये हुए, सरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि दुःखों को सहता हुआ सब कामों को गुरु की इच्छानुसार करने लगा। ऐसा करते हुए बहुत समय बीत गया, तब गुरु उसके ऊपर प्रसन्न हुए ॥ ७७-७८ ॥

गुरु के प्रसन्न होने से वेद कल्याण और सर्वज्ञता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार वेद की परीक्षा भी पूरी हुई ॥ ७८ ॥

तब वेद ने गुरु की आज्ञा से विद्याभ्यास को समाप्त किया और गुरु के घर का बास छोड़कर अपने घर को चला गया तथा गृहस्थाश्रम में पड़ गया। अपने घर पर रहते हुए उसके पास भी तीन विद्यार्थी पढ़ने को आये। गुरु के घर रहने के दुःख को जाननेवाले वेद ने उनको किसी समय भी अपने घर का काम अथवा गुरुसेवा करने को नहीं कहा, क्योंकि उसने शिष्यों को दुःख देना नहीं चाहा ॥ ७९-८१ ॥

अथ कस्मिंश्चित्काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ॥ ८२ ॥

स कदाचिद्याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ॥ ८३ ॥

भो यत्किञ्चिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति स एवं प्रतिसन्दिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८४ ॥

अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म । स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ॥ ८५ ॥

उपाध्यायानी ते ऋतुमती उपाध्यायश्च प्रोषितोऽस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति ॥ ८६ ॥

कुछ समय बीत जाने पर एक दिन जनमेजय और पौष्य यह दो क्षत्रिय उस वेद नामक ब्राह्मण के घर आये और उन्होंने वेद को उपाध्याय बना लिया ॥ ८२ ॥

एक समय किसी यज्ञविषयक काम के निमित्त इन वेद को बाहर जाने का अवसर पड़ा, उस समय इन्ह ने अपने तीन शिष्यों में से उत्तङ्क नामक शिष्य को अपने पास बुलाकर कहा—॥ ८३ ॥

हे बेटा उत्तङ्क ! मेरे घर में यदि कुछ काम हो अथवा कोई वस्तु न रहे तो वह ला देना, उसको कम न होने देना, यह मेरी इच्छा है। इस प्रकार उत्तङ्क को आज्ञा देकर वेद परदेश को चला गया ॥ ८४ ॥

गुरुसेवा की इच्छा करनेवाला उत्तङ्क गुरु के घर रहकर उनकी आज्ञा का पालन करने लगा। गुरु के घर रहते समय एक दिन गुरु की सब स्त्रियों ने इकट्ठी होकर उत्तङ्क को बुलाया और कहा—॥ ८५ ॥

हे उत्तङ्क ! तेरे उपाध्याय की स्त्री ऋतुमती है, उपाध्याय परदेश गए हैं। इस कारण तू ऐसा कर कि जिसमें उनका ऋतु व्यर्थ न जाय, क्योंकि गुरुपत्नी को ऋतु के व्यर्थ जाने की चिन्ता है ॥ ८६ ॥

एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच । न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयं न ह्यहमुपाध्यायेन सन्दिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ॥

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात् प्रवासात् । स तु तद्वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥ ८८ ॥

उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क! किन्ते प्रियं करवाणीति । धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने भवन्तं सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ॥ ८९ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच किन्ते प्रियं करवाणीति एवमाहुः ॥ ९० ॥

यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९१ ॥

इस प्रकार स्त्रियों ने कहा, तब उत्तङ्क ने उनको उत्तर दिया कि मैं स्त्रियों के कहने से यह काम नहीं कर सकता और उपाध्याय ने मुझे यह आज्ञा भी नहीं दी है, कि तू अयोग्य काम भी कर देना ॥ ८७ ॥

कुछ दिनों पीछे गुरु परदेश से लौटकर घर आये, तब शिष्य के उस सब वृत्तान्त को जानकर बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ८८ ॥

उन्होंने उत्तङ्क को बुलाकर कहा कि हे बेटा उत्तङ्क! बता, मैं तेरा क्या शुभ करूँ ? तूने धर्मानुसार मेरी सेवा की है, इस कारण तेरे प्रति हमारी प्रीति में परस्पर वृद्धि हुई है। अब मैं तुझे घर जाने की आज्ञा देता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि तेरी सब मनस्कामनाएँ पूरी होंगी। अब तू घर को जा ॥ ८९ ॥

गुरु के ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने कहा कि मैं आपका कौन सा प्रिय काम करूँ ? आप अपनी इच्छानुसार कोई अपना प्रिय काम करने को दीजिये, क्योंकि विद्वानों ने ऐसा कहा है कि जो शिष्य विद्या पढ़कर गुरुदक्षिणा नहीं देता है और जो गुरु पढ़ाकर दक्षिणा नहीं लेता है, इन दोनों में से एक को अधर्म होता है और दूसरा द्वेषभाव को प्राप्त होता है। अर्थात् दक्षिणा न लेने से आप अधर्म के भागी होंगे और मुझे आपके ऊपर द्वेष आयेगा कि गुरु ने मुझे कृतार्थ नहीं किया ॥ ९०-९१ ॥

सोऽहमनुज्ञातो भवता इच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपहर्त्तुमिति। तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ॥ ९२ ॥

स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तङ्क आज्ञापयतु भवान् किं ते प्रियमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९३ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद् गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायानीं पृच्छ किमुपाहरामीति। एषा यद् ब्रवीति तदुपाहरस्वेति ॥ ९४ ॥

स एवमुक्तो उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छत् भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुमिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुमिति ॥ ९५ ॥

तदाज्ञापयतु भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति। सैवमुक्तोपाध्यायानी तमुत्तङ्कं प्रत्युवाच। गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ते आनयस्व ॥ ९६ ॥

इस कारण आपकी आज्ञा होने पर मैं आपको प्रिय से प्रिय गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ। शिष्य के ऐसे कथन को सुनकर उपाध्याय वेद ने उत्तर दिया कि बेटा उत्तङ्क! तब तो थोड़े दिनों यहाँ ही रह जा ॥ ९२ ॥

कुछ दिनों रहने के अनन्तर एक दिन उत्तङ्क ने गुरु से पूछा कि मैं आपको प्रिय लगनेवाली क्या गुरुदक्षिणा दूँ? इसकी मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ९३ ॥

गुरु ने उससे कहा कि हे बेटा उत्तङ्क! तूने जो पढ़ा है, उसके बदले में गुरुदक्षिणा देने के लिये तू मुझ से बार बार कहा करता है। तो अच्छा बेटा, तू भीतर जा और अपनी गुरुमाता से पूछ कि क्या गुरुदक्षिणा दूँ? वह जो कुछ कहें सो ही ले आना। गुरु के ऐसा कहने पर उत्तङ्क घर के भीतर के खण्ड में गुरुमाता के पास गया और उनसे इस प्रकार पूछा कि हे भगवति! मेरे गुरु ने मुझे घर जाने की आज्ञा दी है सो मैं इच्छित दक्षिणा देकर गुरु के ऋण से मुक्त होने पर घर जाना चाहता हूँ। इस कारण आप आज्ञा करो कि गुरुजी के लिये क्या दक्षिणा लाकर दूँ? इस प्रकार पूछने पर गुरुपत्नी ने उसको उत्तर दिया कि हे उत्तङ्क! तू पौष्य राजा के यहाँ जा और उसकी रानी जो कुण्डल पहन रही है, उनको माँग ला ॥ ९४-९६ ॥

चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामाबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि। तत्सम्पादयस्व एवं हि कुर्वतः श्रेयो भवितान्यथा कुतः श्रेय इति ॥ ९७ ॥

स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढश्च पुरुषमतिप्रमाणमेव स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ॥ ९८ ॥

भो उत्तङ्कैतत् पुरीषमस्य वृषभस्य भक्षयस्वेति स एवमुक्तो नैच्छत् ॥ ९९ ॥

तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वोत्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०० ॥

स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तद्वृषभस्य मूत्रं पुरीषञ्च भक्षयित्वोत्तङ्कः संभ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ॥१०१॥

आज से चौथे दिन पुण्यक नाम का व्रत होगा, उस दिन उन दोनों कुण्डलों को पहन, शृङ्गार करके मैं ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूँ। इस कारण तू इस काम को पूरा कर, इस काम को कर देने से तेरा कल्याण होगा, नहीं तो श्रेय कैसे हो सकता है ?॥ ९७ ॥

इस प्रकार गुरुमाता के आज्ञा देते ही उत्तङ्क राजा पौष्य की राजधानी की ओर को चल दिया। मार्ग में जाते हुए उसने एक बहुत ही बड़ा बैल और उसके ऊपर एक प्रचण्ड शरीरवाले पुरुष को बैठा हुआ देखा। उस पुरुष ने उत्तङ्क से कहा—॥ ९८ ॥

हे उत्तङ्क ! तू इस बैल के गोबर को खा। परन्तु उत्तङ्क उसे खाने को राजी नहीं हुआ। तब उस पुरुष ने फिर कहा कि हे उत्तङ्क ! तू मन में किसी प्रकार का विचार न करके इस बैल के गोबर को भक्षण कर, पहिले तेरे गुरु ने भी इसका गोबर खाया था ॥ ९९–१०० ॥

ऐसा कहने पर 'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्क ने उस बैल का गोबर खाया और मूत्र पिया, तथा पीछे से जल का आचमन करके घबड़ाया हुआ उठा और अपने मार्ग पर चल दिया ॥ १०१ ॥

यत्र स क्षत्रियः पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः। स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच ॥ १०२ ॥

अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ॥ १०३ ॥

स तमुवाच गुर्वर्थे कुण्डलयोरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले भवान्दातुमर्हतीति ॥ १०४ ॥

तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति। स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ १०५ ॥

स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे क्षत्रिया सन्निहिता नैनां पश्यामि ॥ १०६ ॥

जहाँ राजा पौष्य रहता था, वहाँ उत्तङ्क नगर में आया। राजभवन में जाते ही उसने राजा पौष्य को सिंहासन पर बैठा हुआ देखा और समीप में जा आशीर्वाद दे इस प्रकार कहा—॥ १०२ ॥

हे राजन्! मैं कुछ चाहता हूँ और आपके पास याचना करने को आया हूँ। राजा पौष्य ने उसको प्रणाम करके कहा कि हे भगवन्! मेरा नाम राजा पौष्य है, कहिये मैं आपका क्या प्रिय कार्य करूँ? आज्ञा दीजिये। उत्तङ्क ने कहा कि मैं यहाँ गुरुदक्षिणा के लिये कुण्डल माँगने आया हूँ, इस कारण आपकी रानी जिन दो कुण्डलों को पहन रही है, वह दोनों कुण्डल आप मुझे दे दें, यह प्रार्थना है ॥ १०३–१०४ ॥

राजा पौष्य ने उससे कहा कि तब तो आप रनवास में जाकर याचना करिये। पौष्य के इस प्रकार कहने पर उत्तङ्क अन्तःपुर में गया, परन्तु उसने वहाँ रानी को नहीं देखा ॥ १०५ ॥

उसने फिर लौटकर राजा पौष्य से कहा कि महाराज! मुझे झूठे हँसी ठट्ठे में उड़ाना आपको शोभा नहीं देता। आपकी रानी रनवास में नहीं हैं, क्योंकि मैंने उनको वहाँ नहीं देखा ॥ १०६ ॥

स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ १०७ ॥

अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं शीघ्रं गच्छता चेति ॥ १०८ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच एष ते व्यतिक्रमो नोत्थितेनोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ॥ १०९ ॥

अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभिरनुष्णाभिर्हृद्गाभिरद्भिस्त्रिः पीत्वा द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य चान्तःपुरं प्रविवेश ॥ ११० ॥

उत्तङ्क के इस प्रकार कहने पर राजा ने क्षण भर विचार कर उत्तर दिया कि हे भगवन्! आप ध्यान दे लीजिये कि आप पहिले किसी अपवित्र वस्तु के संग से अपवित्र तो नहीं हो गए हैं? क्योंकि मेरी रानी पतिव्रता है और उसको उच्छिष्ट तथा अपवित्र पुरुष नहीं देख सकता। इतना ही नहीं, किन्तु वह स्वयं भी जो अपवित्र हो उसको दर्शन नहीं देती ॥ १०७ ॥

इस पर विचार करके उत्तङ्क बोला कि हाँ ठीक है, ऐसा हुआ है। क्योंकि मैं शीघ्रता में था, इस कारण मार्ग में मैंने खड़े खड़े ही आचमन किया था ॥ २०८ ॥

राजा पौष्य ने कहा कि आप से यही व्यतिक्रम हुआ है। पुरुष खड़ा खड़ा वा शीघ्रता में जाता जाता आचमन नहीं कर सकता। तदनन्तर उत्तङ्क की बात राजा के कथन से मिल जाने पर उत्तङ्क पूर्व की ओर को मुख करके नीचे बैठ गया और हाथ पैर तथा मुख को ठीक ठीक धोकर, हृदय पर्यन्त पहुँचने योग्य, बिना झागों के, शीतल और स्वच्छ जल से तीन बार आचमन किया। तदनन्तर वह जल से इन्द्रियों का स्पर्श करके शुद्ध हुआ और फिर अन्तःपुर में जा पहुँचा ॥ १०९-११० ॥

ततस्तां क्षत्रियामपश्यत् सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं प्रत्युत्थायाभिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति ॥ १११ ॥

स तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति। सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रोऽयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डलेऽवमुच्यास्मै प्रायच्छदाह चैनमेते कुण्डले तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयदप्रमत्तो नेतुमर्हसीति ॥ ११२ ॥

स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच भवती सुनिर्वृता भवतु न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति ॥ ११३ ॥

स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छत् आह चैनं भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच ॥ ११४ ॥

वहाँ रानी भीतर ही बैठी हुई दिखाई दी, वह उत्तङ्क को देखते ही खड़ी हो गई और प्रणाम करके विनय के साथ कहने लगी कि आप आनन्द से तो आये हैं ? हे भगवन् ! कहिये आपकी किस आज्ञा का पालन करूँ ॥ १११ ॥

यह सुनकर उत्तङ्क ने रानी से कहा कि हे भवति ! गुरुदक्षिणा में देने के लिये मैं आपके कुण्डल माँगने को आया हूँ, वह मुझे मिल जाने चाहियें। रानी उसकी गुरुभक्ति को देखकर प्रसन्न हुई और 'यह सुपात्र ब्राह्मण निराश नहीं जाना चाहिये' ऐसा विचार कर अपने दोनों कुण्डल उतार कर उसको दे दिये एवं यह भी बताया कि सर्पों का राजा तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिये अनेकों बार प्रार्थना कर चुका है, इस कारण आप इन कुण्डलों को बहुत सावधानी के साथ ले जायँ ॥ ११२ ॥

रानी के इस प्रकार कहने पर उत्तङ्क ने कहा कि हे भवति ! आप इसके लिये निश्चिन्त रहें, नागों का राजा तक्षक मेरी पराजय नहीं कर सकता ॥ ११३ ॥

इस प्रकार रानी की आज्ञा लेकर उत्तङ्क राजा पौष्य के पास आया और उससे कहा कि हे राजन ! मैं बड़ा सन्तुष्ट हुआ हूँ। तब पौष्य ने उत्तङ्क से कहा—॥ ११४ ॥

भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्त्तुं क्रियतां क्षण इति ॥ ११५ ॥

तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास ॥ ११६ ॥

अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वा अशुच्यैतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मे अशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ॥ ११७ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भविष्यसीति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ ११८ ॥

न युक्तं भवतान्नमशुचि दत्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षीकुरु । ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास ॥ ११९ ॥

हे भगवन्! चिरकाल में कोई पात्र पुरुष मिल जाता है, आप गुणवान् अतिथि हैं, इस कारण से मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ। आप क्षण भर यहीं आराम करिये ॥ ११५ ॥

उत्तङ्क ने राजा को उत्तर दिया कि अच्छा, मैं क्षण भर रुका हुआ हूँ, और आशा करता हूँ कि आप मेरे लिये समयानुसार उपस्थित पवित्र और शुद्ध भोजन शीघ्र मँगावेंगे। राजा ने बहुत अच्छा कहकर उसी समय उत्तङ्क के लिये तैयार भोजन मँगवाया ॥ ११६ ॥

उत्तङ्क ने उस अन्न को ठण्डा और बाल पड़ा हुआ देखकर अपवित्र समझा और राजा पौष्य को शाप दिया कि तू अपवित्र अन्न देता है, इस कारण अन्धा हो जायगा ॥ ११७ ॥

राजा पौष्य ने उसको बदले में शाप दिया कि तू पवित्र अन्न को अपवित्र बतलाता है, इस कारण तेरा वंश लोप हो जायगा। इस पर उत्तङ्क कह उठा कि देख, तूने अपवित्र अन्न अर्पण करके भी शाप के बदले में शाप दिया है, यह तेरा काम उचित नहीं हुआ। तू इस अन्न के दोष को अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देख ले।

अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रियोपहृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येत-दिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ॥ १२० ॥

भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं तत् क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ १२१ ॥

न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो न चिरादनन्धो भविष्य-सीति ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ॥ १२२ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमङ्गच्छति किञ्चैतद्भवता न ज्ञायते तथा ॥१२३॥

नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः ।
तदुभयमेतद्विपरीतं क्षत्रियस्य वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्ण-
धारमिति ॥१२४॥

तब राजा पौष्य ने उस अन्न को अपवित्र देखकर उसकी अपवित्रता को स्पष्ट मान लिया ॥ ११८–११९ ॥

उस अन्न को खुले केशोंवाली स्त्री ने बनाया था, एवं बाल पड़ा हुआ तथा ठण्डा अन्न अपवित्र माना जाता है, ऐसा समझकर राजा पौष्य उत्तङ्क ऋषि को प्रसन्न करता हुआ कहने लगा—॥ १२० ॥

हे भगवन्! यह ठण्डा और बाल पड़ा हुआ अन्न आपको अनजान में परोसा गया है, इस कारण मैं आपसे याचना करता हूँ कि मैं अन्धा न होऊँ। उत्तङ्क ने राजा को उत्तर दिया—॥ १२१ ॥

मैं जो कुछ कहता हूँ वह मिथ्या नहीं होता, इस कारण तुम अन्धे होकर थोड़े ही दिनों बाद अच्छे हो जाओगे। परन्तु तुमने भी मुझे जो शाप दिया है, उसका निवारण करो ॥ १२२ ॥

राजा पौष्य ने कहा कि मैं अपने शाप को नहीं लौटा सकता, क्योंकि अभी तक मेरा क्रोध नहीं उतरा है । क्या आप यह नहीं जानते हैं कि ब्राह्मण का हृदय मक्खन के समान अत्यन्त कोमल होता है और वाणी पैनी धारवाले छुरे के समान बड़ी तीक्ष्ण होती है। परन्तु क्षत्रिय में यह दोनों बात उलटी होती हैं, अर्थात् क्षत्रियों की वाणी मक्खन के समान कोमल और हृदय

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात्तं शापमन्यथाकर्त्तुं गम्यतामिति। तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच। भवताहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक् च तेऽभिहितम् ॥ १२५ ॥

यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति। दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १२६ ॥

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानञ्च ॥ १२७ ॥

अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले सन्न्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ॥ १२८ ॥

छुरे की धार के समान बड़ा तीखा होता है। सो मैं स्वाभाविक तीक्ष्ण भाव के कारण अपने दिये हुए शाप को पलट नहीं सकता। हे महाराज! अब आप पधारें। राजा के ऐसे वचनों को सुनकर उत्तङ्क ने राजा से कहा कि भोजन के निमित्त दिये हुए अन्न को अपवित्र समझकर तुमने मेरी प्रार्थना की, इससे पहले तुमने मुझसे कहा था कि तू शुद्ध अन्न को दोष लगाता है इस कारण पुत्ररहित होगा। परन्तु हे राजन्! यह अन्न तो अपवित्र था (सो मैंने पवित्र अन्न को दोष नहीं लगाया है, इस कारण) तुम्हारा शाप मुझे दुःख नहीं दे सकेगा, इस बात का मुझे निश्चय है ॥ १२३—१२६ ॥

अब मैं अपना काम साधन करूँगा. ऐसा कहकर रानी के दोनों कुण्डल लिये हुए उत्तङ्क वहाँ से चल दिया। मार्ग में जाते हुए उत्तङ्क ने एक नंगे क्षपणक (साधु) को अपनी ओर आता हुआ देखा। वह क्षपणक किसी क्षण में दीखता था और किसी क्षण में अन्तर्धान हो जाता था ॥ १२७ ॥

उसी समय उत्तङ्क उन दोनों कुण्डलों को भूमि पर रखकर शौच आचमन आदि के निमित्त सरोवर पर गया। इतने में ही वह क्षपणक दौड़ता हुआ वहाँ आया और कुण्डलों को लेकर झटपट वहाँ से भाग गया ॥ १२८ ॥

तमुत्तङ्कोभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ॥ १२६ ॥

तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः स तद् रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ॥ १३० ॥

प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत् । अथोत्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षकमन्वगच्छत् ॥ १३१ ॥

स तद्बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत् । तं क्लिश्यमान-मिन्द्रोऽपश्यत्स वज्रं प्रेषयामास ॥ १३२ ॥

गच्छास्य ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुरुष्वेति । अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद्बिलमदारयत् ॥१३३॥

तमुत्तङ्कोऽनुविवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोकम-पर्यन्तमनेकविधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडा-श्चर्यस्थानावकीर्णमपश्यत् ॥ १३४ ॥

नहा धो पवित्र होकर देवता तथा पितरों को नमस्कार करके उत्तंक बड़े वेग से उस क्षपणक के पीछे भागने लगा ॥ १२९ ॥

वह क्षपणक के बहुत समीप आ लगा और उसको पकड़ लिया, परन्तु पकड़ते क्षण ही वह क्षपणक का रूप त्याग कर तक्षक बन गया और तुरन्त ही पृथिवी में जो एक बड़ी दरार खुली हुई थी उसमें घुस गया ॥ १३० ॥

उस बिल में होकर वह नागलोक में अपने भवन में जा पहुँचा। उस समय उत्तंक को रानी की कही हुई बात याद आई और वह तक्षक के पीछे पाछे जाने को तैयार हुआ ॥ १३१ ॥

उत्तंक उस दरार को चौड़ी करने के निमित्त अपनी लठिया से खोदने लगा, परन्तु वह किसी प्रकार भी उसको खोदने में सफलमनोरथ नहीं हुआ तब उसके न खुदने से उदास हो गया। इन्द्र ने उत्तंक को दुःखित हुआ देख अपने अस्त्र वज्र को बुलाकर कहा कि हे वज्र! तू जाकर उस ब्राह्मण की सहायता कर। तब वज्र ने अपने स्वामी की आज्ञानुसार उसके दण्ड में प्रवेश करके उस बिल के द्वार को

स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः ।
य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥१३५॥
सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥१३६॥
बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ॥१३७॥
इच्छेत्कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ।
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति ॥१३८॥

चौड़ा कर दिया। तब उत्तंक ने उस में होकर रसातल में प्रवेश किया और उसी मार्ग से चलते चलते नागलोक में जा पहुँचा। वहाँ नाना प्रकार के अनेकों देव-मन्दिर, राजमहल, हवेलियों, दोनों ओर झुके हुए छज्जोंवाले घर महल तथा खेल तमाशे के स्थानों से खचाखच भरे हुए नागलोक को उसने देखा ॥ १३२—१३४ ॥

वहाँ पहुँचने पर उत्तंक इस प्रकार नागों की स्तुति करने लगा—जैसे पवन की प्रेरणा से बिजलीवाले मेघ जल की धाराओं को बरसाते हैं वैसे ही ऐरावत की प्रजारूप तथा युद्ध में शोभा पानेवाले सर्प भी तीखी धारों के अस्त्रों की वर्षा किया करते हैं ॥ १३५ ॥

सुन्दररूप वाले, बहुरूपी, चित्रविचित्र कुण्डलधारी, ऐरावत के वंश में उत्पन्न हे सर्पों! जैसे आकाश में सूर्य शोभा पाता है वैसे ही स्वर्ग में तुम शोभा पाते हो ॥ १३६ ॥

गङ्गा के उत्तर तट पर नागों के बहुत से मन्दिर हैं, उन सब बड़े बड़े नागों की भी मैं स्तुति करता हूँ ॥ १३७ ॥

ऐरावत के सिवा सूर्य की जाज्वल्यमान किरणों में विचरने की कौन इच्छा करेगा? जब ऐरावत नाग का बड़ा भाई धृतराष्ट्र बाहर जाता है, तब अट्ठाईस सहस्र आठ सर्प अनुचर बनकर उसके पीछे चलते हैं, जो दूर मार्ग में जा पहुँचते हैं एवं ऐरावत के छोटे भाई हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका निवास

ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथङ्गताः।
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ॥१३६॥
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत् पुरा।
तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ॥१४०॥
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ।
कुरुक्षेत्रे च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु ॥१४१॥
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः सुतः।
अवसद्यो महद्युम्नि प्रार्थयन्नागमुख्यताम्।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥१४२॥
एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान्।
नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ॥१४३॥

एवं स्तुवन्नपि नागान् यदा ते कुण्डले नालभत्तदापश्यत् स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ। तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यत् द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिव-

---

पहले कुरुक्षेत्र के खाण्डववन में था ऐसे नागराज तक्षक की मैं कुण्डलों के लिये स्तुति करता हूँ। तक्षक और अश्वसेन दोनों नित्य साथ रहते हैं और कुरुक्षेत्र में आई हुई इक्षुमती नदी के तट पर रहते हैं। तक्षक उसके छोटे भाई तथा महाद्युम्न नामक तीर्थ में नागराज की पदवी पाने के लिये सूर्य की आराधना करनेवाले नागपुत्र महात्मा श्रुतसेन को भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १३८—१४२ ॥

जब महासर्पों की इस प्रकार प्रार्थना करने पर भी वे कुण्डल नहीं मिले तब विप्रर्षि उत्तंक को बड़ी चिन्ता हुई ॥ १४३ ॥

इस प्रकार नागों की स्तुति करने पर कुण्डल नहीं मिले. तब इधर उधर देखते हुए उत्तंक ने बुनने के सुन्दर दण्ड से युक्त यन्त्र पर उत्तम वेमाओं से वस्त्र बुनती हुईं दो स्त्रियों को देखा। उस काष्ठयन्त्र पर चढ़े हुए सब सूत काले और श्वेत थे। दूसरी ओर बारह अरों का एक चक्र देखा, जिसको छः बालक फिरा रहे थे और तीसरी ओर एक उत्तम घोड़ा देखा—जिसके ऊपर एक दर्श-

स्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वञ्च दर्शनीयम्। स तान् सर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवादश्लोकैः ॥ १४४ ॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन् । चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १४५ ॥

तन्त्रञ्चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयतस्तन्तून् सततं वर्तयन्त्यौ। कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १४६ ॥

नीय पुरुष सवार था। तब उत्तंक वेद की ऋचाओं के समान नीचे लिखे श्लोकों से उन सबकी भी स्तुति करने लगा ॥ १४४ ॥

इस कालरूप अविनाशी चक्र में अमावस्या पूर्णिमा आदि चौबीस पर्व हैं, तीन सौ साठ दिनरातरूपी अरे हैं और छः ऋतुरूपी बालक इसको रात दिन घुमाया करते हैं। (श्रुति में लिखा है कि 'संवत्सरः प्रजापतिः' संवत्सर को प्रजापति जानो, इस कारण उत्तंक यहाँ संवत्सर का रूप देकर विश्वात्मा प्रजापति की स्तुति करता है। मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पाँच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत इन चौबीस तत्वों के समूहरूप और मोक्षपर्यन्त रहनेवाले स्थूल सूक्ष्म शरीररूपी चक्र में तीन सौ साठ वासनारूपी तन्तु रहते हैं। हृदय के भीतर की सब नाड़ियाँ बहत्तर हजार हैं, वे अनेकों कामना करती हैं और हर एक कामना में शब्दादि पाँच विषय हैं, इस कारण उन हर एक नाड़ियों के भी पाँच पाँच विभाग करने से अनेकों सहस्र नाड़ियाँ होती हैं। यहाँ संक्षेप में तीन सौ साठ नाड़ियाँ कही हैं, भोक्ता में भी इतनी ही वासनाएँ कही हैं। यहाँ जो छः बालक कहे हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश यह पाँच प्रकार की अविद्या और छठी ईश्वर की माया है। इन छः को विवेक वैराग्य के बल से जीता जा सकता है, तथापि ये नित्य ही घटीयन्त्र के समान जन्म मरण की व्यवस्था करती हैं) ॥ १४५ ॥

बालकपन तथा बुढ़ापे के विकार से रहित दो विश्वरूप तरुणियाँ वासनाजालरूपी यन्त्र में शुक्ल तथा कृष्णपक्षरूपी सूत्र को डालकर नित्य वस्त्र बुना करती हैं और सकल भूत तथा चौदह भुवनों को घुमाया करती हैं। (माया तथा चैतन्य शक्तिरूपिणी तरुणियाँ बालकपन तथा बुढ़ापे से होनेवाले अपकर्ष

वज्रस्य भर्त्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके॥ १४७॥

यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरन्दराय॥१४८॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किन्ते प्रियं करवाणीति॥ १४९॥

स तमुवाच नागा मे वशनीयुरिति स चैनं पुरुषः पुनरुवाच एतमश्वमपाने धमस्वेति॥ १५०॥

से रहित हैं, वे विश्वरूप देवियाँ वासनारूप तन्तुओं को इधर उधर चलायमान करके जगत् को रचती हैं, अर्थात् यह दोनों शक्तियाँ बुद्धि और चिदाभासरूप से घटादि विषयों को ग्रहण करके उनके संबन्ध की वासनाओं को दृढ़ करती हैं)॥ १४६॥

(ऊपर के श्लोक में बन्धन का स्वरूप कहा वह अज्ञान का कार्य है इस कारण ज्ञान से दूर हो सकता है, इस अभिप्राय को लेकर कहते हैं—) जो महात्मा काले रङ्ग के वस्त्रों को पहन रहा है, जिसने वज्र धारण करके नमुचि का तथा वृत्रासुर का नाश किया है, जो त्रिलोकी की रक्षा करता है, जो लोगों के सत्य और मिथ्या वचन का विभाग कर देता है और जिसने वैश्वानर जैसे तेजस्वी और समुद्र से उत्पन्न हुए घोड़े को वाहनरूप से पाया है उस त्रिलोकी के नाथ और जगत् के ईश्वर पुरन्दर भगवान् को मेरा प्रणाम हो॥ १४७–१४८॥

जब उत्तंक ने इस प्रकार स्तुति की तब उस पुरुष ने उत्तंक से कहा कि मैं तेरे इस स्तोत्र से प्रसन्न हुआ हूँ इस कारण बता मैं तेरा क्या प्रिय करूँ॥ १४९॥

उत्तंक ने उत्तर दिया कि महाराज! यह वरदान दीजिये कि नाग मेरे वश में हो जायँ। उस पुरुष ने उससे कहा कि तब तो तू इस अश्व की गुदा में फूँक मार॥ १५०॥

ततोऽश्वस्यापानमधमत्तनोऽश्वाद्धम्यमानात् सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्च्चिषः सधूमा निष्पेतुः ॥ १५१ ॥

ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ संभ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद्विषण्णः कुण्डले गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ॥ १५२ ॥

इमे कुण्डले गृह्णातु भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ॥ १५३ ॥

अद्य तत् पुण्यकमुपाध्यायान्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं सम्भावयेयमिति तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ॥ १५४ ॥

उत्तङ्क एनमेवाश्वमधिरोह त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यतीति ॥ १५५ ॥

उत्तंक घोड़े की गुदा में फूँक मारने लगा और फूँक मारते ही घोड़े के शरीर के छिद्रों में से धूएँ के साथ अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगीं ॥ १५१ ॥

उनसे सब नागलोक जल उठा। तब अग्नि के तेज से (गरमी से) खिन्न हुआ तथा घबड़ाया हुआ तक्षक नाग तत्काल दोनों कुण्डल लेकर अपने भवन से बाहर निकला और उत्तंक के पास आकर उससे कहने लगा— ॥ १५२ ॥

इन कुण्डलों को आप लीजिये। उत्तंक ने कुण्डल ले लिये और वह फिर विचारने लगा कि—॥ १५३ ॥

ओहो! गुरुमाता का पुण्यव्रत तो आज ही है. और मैं बहुत दूर आ पहुँचा हूँ, सो मैं आज ही उनका सत्कार कैसे कर सकूँगा? उत्तंक को इस प्रकार चिन्ता करते हुए देखकर उस ही पुरुष ने फिर कहा—॥ १५४ ॥

हे उत्तंक! तू इसी घोड़े पर बैठ जा, यह क्षण भर में तुझे तेरे गुरु के पास ले जायगा ॥ १५५ ॥

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलं उपाध्यायानी च स्नाता केशानावापयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १५६ ॥

अथैतस्मिन्नन्तरे स उत्तङ्कः प्रविश्योपाध्यायगृहे उपाध्यायानीमभ्यवादयत्। ते चास्यै कुण्डले प्रायच्छत् सा चैनं प्रत्युवाच ॥ १५७ ॥

उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १५८ ॥

अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत्। तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते किं चिरं कृतमिति ॥ १५९ ॥

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच भोस्तत्तकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन् कर्मणि तेनास्मि नागलोकं गतः ॥ १६० ॥

उत्तङ्क 'बहुत अच्छा' कहकर उस घोड़े के ऊपर सवार हो गया और थोड़ी ही देर में गुरु के समीप पहुँचा। इधर गुरुजी की स्त्री नहा धोकर केश सँवार रही थी और 'यदि उत्तङ्क ठीक समय पर न आ पहुँचा तो उसको शाप दे दूँगी' ऐसा विचार कर रही थी ॥ १५६ ॥

परन्तु उसी अवसर पर वह उत्तङ्क गुरु के घर में आ पहुँचा और गुरुमाता को प्रणाम करके वे कुण्डल दे दिये। उस समय गुरु की स्त्री ने कहा—॥ १५७ ॥

हे उत्तंक! तू देश काल के अनुसार आ पहुँचा, हे बेटा! तू अच्छा आया, यदि तू एक क्षण भर भी देर करके आता तो मैंने तुझ निरपराध को ही शाप दे दिया होता। बेटा! तेरा कल्याण हो और तुझे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हों ॥ १५८ ॥

उसी समय उत्तंक गुरु के पास गया और उनको प्रणाम किया। गुरु ने कहा कि बेटा! तू बहुत अच्छा आया, तुझे देर कहाँ लगी ॥ १५९ ॥

उत्तंक ने उपाध्याय से कहा—हे महाराज! नागों के राजा तक्षक ने मेरे इस काम में विघ्न किया था, इस कारण मुझे नागलोक में जाना पड़ा ॥ १६० ॥

तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णाः सिताश्च तन्तवः किं तत् ॥ १६१ ॥

तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षट् चैनं कुमाराः परिवर्त्तयन्ति तदपि किम्। पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः। अश्वश्चातिप्रमाणो दृष्टः स चापि कः ॥ १६२ ॥

पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तञ्च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ॥ १६३ ॥

ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि वा कः। तदेतद्भवतोपदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति ॥ १६४ ॥

स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी यदपि

महाराज ! वहाँ मैंने काष्ठयन्त्र के ऊपर सूत रखकर दो स्त्रियों को वस्त्र बुनते हुए देखा था, उसमें काले-श्वेत डोरे थे। वह क्या था ? ॥ १६१ ॥

और वहाँ मैंने छः बालकों से घुमाये गये बारह अरोंवाले एक चक्र को देखा था, वह क्या था ? और एक सुन्दर पुरुष को तथा बड़े भारी घोड़े को भी मैंने वहाँ देखा था, वह कौन था ? ॥ १६२ ॥

और हे महाराज ! मार्ग में जाते हुए मैंने एक बहुत बड़े बैल को देखा था और उसके ऊपर एक पुरुष बैठा हुआ था। उसने मुझसे आग्रह के साथ कहा कि हे उत्तंक ! इस बैल का गोबर खा, तेरे गुरु ने भी पहले इसे खाया था ॥ १६३ ॥

उसके कहने से मैंने उस बैल का गोबर भी खाया। यह बैल और पुरुष कौन था ? तथा यह सब क्या बात थी ? यह सब मैं आप से सुनना चाहता हूँ, आप मुझे इसका उपदेश दीजिये ॥ १६४ ॥

इस प्रकार उत्तंक के पूछने पर गुरु ने कहा कि बेटा ! तूने जिन स्त्रियों को देखा, वह धाता और विधाता हैं। काले और श्वेत जो डोरे देखे वह रात और दिन हैं। तूने जो छः बालकों से चलाया हुआ बारह अरों का चक्र देखा, वह छः ऋतु तथा संवत्सररूपी चक्र है। जिस पुरुष को देखा था, वह पर्जन्य है, जिस घोड़े

तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्त्तयन्ति तेऽपि षड़ृतवः संवत्सरश्चक्रम् ॥ १६५ ॥

यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निर्य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराट् ॥ १६६ ॥

यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रः यदपि ते भक्षितं तस्य ऋषभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन्नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ॥ १६७ ॥

स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं कृतवान् तस्मात् कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥ १६८ ॥

तत् सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति । स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १६९ ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य न चिराद्विप्रसत्तमः ।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥१७०॥

को देखा वह अग्नि है। मार्ग में जाते हुए जो बैल देखा था वह ऐरावत नागराज है, उसके ऊपर जो पुरुष बैठा था वह भगवान् इन्द्र हैं। तूने जो बैल का गोबर खाया वह और कुछ नहीं था, अमृत था, वास्तव में उसको खाने से ही तू नागलोक में नष्ट नहीं हुआ ॥ १६५–१६७ ॥

वह भगवान् इन्द्र मेरे मित्र हैं, उन्होंने तेरे ऊपर दयालु होकर यह अनुग्रह किया था। तब ही तू इन कुण्डलों को लेकर नागलोक से लौटकर यहाँ आ सका है ॥ १६८ ॥

हे सौम्य ! अब मैं तुझे आज्ञा देता हूँ कि—तू अपने घर को जा, तेरा कल्याण होगा। अपने गुरु के आज्ञा देने पर क्रोध से भरा हुआ उत्तंक तक्षक से बदला लेने की इच्छा से हस्तिनापुर की ओर को चल दिया ॥ १६९ ॥

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वह उत्तंक बहुत ही शीघ्र हस्तिनापुर में आ पहुँचा और तक्षशिला (देश के राजा) के ऊपर विजय पाकर तुरत ही लौटे हुए, चारों

पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥१७१॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसम्पन्नया गिरा ॥१७२॥

उत्तङ्क उवाच ।

अन्यस्मिन् करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥१७३॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ॥१७४॥

जनमेजय उवाच ।

आसां प्रजानां परिपालनेन स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ॥१७५॥

ओर स्थित मन्त्रियों से घिरे हुए, अजित और श्रेष्ठ विजय पानेवाले राजा जनमेजय से मिला ॥ १७०—१७१ ॥

वह नीति के अनुसार उस राजा को पहले आशीर्वाद देकर विशेष भावभरी गम्भीर वाणी में समयानुकूल बात कहने लगा ॥ १७२ ॥

उत्तङ्क ने कहा कि श्रेष्ठ राजन्! करने योग्य काम पर ध्यान न देकर तुम बालकों के समान दूसरे ही कामों में क्यों लगे रहते हो ॥ १७२ ॥

सौति कहते हैं—इस प्रकार ब्राह्मण के मुख से वचन सुनकर राजा जनमेजय ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण की शास्त्रानुसार पूजा की, फिर उसको उत्तर दिया ॥ १७४ ॥

जनमेजय ने कहा कि मैं इस प्रजा का पुत्र के समान पालन करके अपने क्षत्रियधर्म को निभाता हूँ। कहिये अब मुझे कौन कार्य करना चाहिये कि जिसके लिये आप यहाँ पधारे हैं ॥ १७५ ॥

सौतिरुवाच ।

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ॥१७६॥

उत्तङ्क उवाच ।

तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥१७७॥
कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन् पितुस्तस्य महात्मनः ॥१७८॥
तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद्राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥१७९॥
बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान् पापो योऽदशत् पितरं तव ॥१८०॥
राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं कश्यपञ्चैव न्यवर्त्तयत पापकृत् ॥१८१॥

उग्रश्रवा कहते हैं—उस श्रेष्ठ राजा ने यह कहा, तब ब्राह्मणों में उत्तम, पुण्य कर्म करनेवालों में श्रेष्ठ उत्तङ्क ने राजा से कहा कि हे राजन्! तुम उदार हो, इस कारण अपना कर्त्तव्य करो ॥ १७६ ॥

उत्तंक ने कहा कि हे राजेन्द्र! तक्षक ने तुम्हारे पिता को मार डाला था, उस दुष्टात्मा सर्प से तुम बदला लो ॥ १७७ ॥

मेरे विचार के अनुसार विधाता ने इस काम के लिये इस समय का ही अवसर रचा है, सो हे राजन्! अपने महात्मा पिता का बदला लेने को तुम तैयार हो जाओ। उस दुष्टात्मा तक्षक ने तुम्हारे निरपराध पिता को काटा और जैसे वज्र की चोट खाकर वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे ही तुम्हारे पिता तुरन्त गिरकर मरण को प्राप्त हो गये ॥ १७८—१७९ ॥

बल और घमण्ड से मदोन्मत्त, सर्पाधम पापी तक्षक नाग ने राजर्षिवंश की रक्षा करनेवाले, देवता समान तुम्हारे पिता को डसकर कैसा दुष्कर्म किया है? एक बार स्थिर चित्त से विचार कर तो देखो। इतना ही नहीं, किन्तु कश्यप नामक

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद्विधीयताम् ॥१८२॥

एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियश्च सुमहत् कृतं राजन् भविष्यति ॥१८३॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥१८४॥

सौतिरुवाच ।

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह ।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥१८५॥
अपृच्छत् स तदा राजा मन्त्रिणस्तान् सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सान्निध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥१८६॥

एक ब्राह्मण विष उतारने को आ रहा था, उसको भी उस पापी तक्षक ने पहिचान कर पीछे लौटा दिया था ॥ १८०-१८१ ॥

इस कारण हे महाराज ! तुम शीघ्र ही सर्पयज्ञ का अनुष्ठान करके धधकती हुई अग्नि में उस पापात्मा की आहुतिं दे दो। अब तुम शीघ्रता से यज्ञ के लिये तैयारी करो ॥ १८२ ॥

हे राजन् ! ऐसा करने से तुम्हारे पिता के वैर का बदला हो जायगा और मेरे ऊपर भी मानो बड़ा भारी उपकार होगा। क्योंकि हे निर्दोष राजन् ! मैं जब गुरुदक्षिणा के लिये कुण्डल लेकर लौटा आ रहा था, उस समय उस दुष्टात्मा ने मेरे काम में भी विघ्न डाला था ॥ १८३-१८४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—जैसे घी की आहुति देने से अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही उत्तंक के इन वचनों को सुनकर राजा जनमेजय तक्षक नाग के ऊपर क्रोध से भर गया और उत्तंक के सामने ही राजा ने क्रोध में भरकर अपने पिता के स्वर्गवास (मृत्युकाल) के विषय में मन्त्रियों से बार बार पूछा ॥ १८५-१८६ ॥

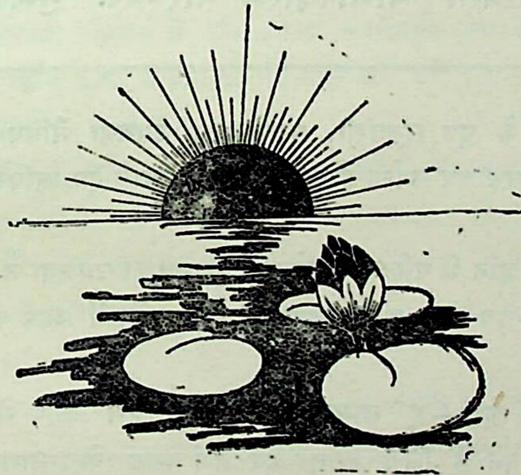
तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत्।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादश्रृणोत्तदा ॥१८७॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि पौष्याख्याने तृतीयोऽध्यायः॥३॥



और जब जनमेजय ने उत्तंक के मुख से ही अपने पिता के मरण के विषय में सच्चा वृत्तान्त सुना, तब तो वह राजेन्द्र उसी समय दुःख और शोक में डूब गया ॥ १८७ ॥

तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥



चौथा अध्याय

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये। शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥१॥

पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच किम्भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति किमहं ब्रवाणीति ॥ २ ॥

तमृषय ऊचुः परमं लौमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां नः प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ॥ ३ ॥

तत्र भगवान् कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥ ४ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ५ ॥

स चाप्यस्मिन् मखे सौते विद्वान् कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमांश्छास्त्रे चारण्यके गुरुः॥ ६ ॥

लोमहर्षण के पुत्र, सूतवंशी, पुराणवक्ता उग्रश्रवा नैमिषारण्य में कुलपति शौनक ऋषि के बारह वर्ष पर्यन्त होनेवाले यज्ञ में आये हुए ऋषियों की सेवा करने लगे ॥ १ ॥

पुराणों के ज्ञान में परिश्रम करनेवाले पुराणवक्ता उग्रश्रवा ने दोनों हाथ जोड़कर उनसे कहा—अब आप क्या सुनना चाहते हैं और मैं आप को कौनसी कथा सुनाऊँ ? ॥ २ ॥

ऋषियों ने कहा—हे लोमहर्षण के पुत्र ! हम आप से परब्रह्मसंबन्धी कथा पूछते हैं, सुनने के लिये आतुर हुए हमें प्रसङ्ग के अनुसार उत्तम कथाएँ सुनाइये ॥ ३ ॥

परन्तु हे सूत ! देवता और असुरों की कथाओं से पूर्ण दिव्य वृत्तान्तोंवाली, सम्पूर्ण मनुष्य, सर्प, गन्धर्वों की कथाओं के पूरे ज्ञाता, कुलपति, विद्वान्,

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः ।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत् प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥
तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमर्चितम् ।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ९ ॥
सोऽथ विप्रर्षभः सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि ।
देवान्वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वा जगाम ह ॥ १० ॥
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ ११ ॥

चतुर व्रतधारी, बुद्धिमान्, शास्त्र और आरण्यक-वेदविषय में हमारे गुरु, सत्यवादी, शान्तस्वभाव, तपस्वी, नियम से व्रत धारण करनेवाले तथा हम सबों के मान्य कुलपति शौनक ऋषि अभी अग्निशाला में अग्नि की उपासना कर रहे हैं, उनकी अभी प्रतीक्षा कीजिये ॥ ४–७ ॥

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हमारे गुरु शौनक ऋषि यहाँ आकर अपने उत्तम आसन पर विराजमान होकर आप से जो कथा पूछें, आप उस ही कथा को कहें ॥ ८ ॥

उग्रश्रवा ने कहा कि बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा। वे महात्मा यहाँ आकर अपने आसन पर बैठकर मुझसे प्रश्न करेंगे, तब ही मैं नानाप्रकार की पवित्र कथाओं को कहूँगा ॥ ९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ शौनक ऋषि शास्त्रविधि के अनुसार सब नित्यकर्म करके, अर्थात् वेद के स्वाध्याय स ऋषियों को, यज्ञों से देवताओं को और तर्पण से पितरों को तृप्त करके वहाँ सबके सामने आये, जहाँ सूतपुत्र को आगे करके यज्ञमण्डप में व्रतधारी ब्रह्मर्षि और सिद्ध गण सुखदायक आसनों पर बैठे हुए थे ॥ १०–११ ॥

ऋत्विग्भ्य सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥



वे ऋषि और सभासद कुलपति शौनक के आते ही खड़े हो गये और फिर सब अपने अपने आसनों पर बैठ गये। तब शौनक भी अपने आसन पर बैठकर पौराणिक सूतजी से आगे लिखे अनुसार पूछने लगे ॥ १२ ॥

चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥



पाँचवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा ।
कच्चित्त्वमपि तत् सर्वमधीषे लौमहर्षणे ॥ १ ॥
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ २ ॥
तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्पाः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

सूत उवाच ।

यदधीतं पुरा सम्यक् द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
वैशम्पायनविप्राग्र्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ॥ ४ ॥
यदधीतश्च पित्रा मे सम्यक् चैव ततो मया ।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ॥ ५ ॥

शौनक ने कहा कि हे तात सूतपुत्र ! पहले तुम्हारे पिता ने महर्षि वेदव्यासजी से सब पुराण पढ़े थे, हे लोमहर्षण के पुत्र ! क्या तुम उन सब शास्त्रों को जानते हो ? ॥ १ ॥

प्राचीन इतिहासों में जो दिव्य कथायें, बुद्धिमानों के आदिवंशों के इतिहास कहे हैं, वे सब हमने तुम्हारे पिता के मुख से पहले सुने थे ॥ २ ॥

उनमें से पहले तो मुझे भृगुवंश का इतिहास सुनने की इच्छा है, इस कारण आप उस कथा को कहिये। हम सब आप की कथा सुनने को तत्पर हैं ॥ ३ ॥

महर्षि शौनक की आज्ञा पाकर सूतनन्दन उग्रश्रवा ने कहा कि वैशम्पायनजी की प्रमुखता में महात्मा ब्राह्मणों ने पहले जो पुराण उत्तमता के साथ पढ़े हैं और उन्होंने जो कथायें कहीं हैं, उन सब कथाओं को मैं जानता हूँ ॥ ४ ॥

मेरे पिता भी जिन पुराणों की कथाओं को पढ़ते थे, उन सबको मैंने उनसे भली प्रकार पढ़ा है। हे महामुने भृगुनंदन ! देवता, ऋषि और मरुत्गणों से पूजित भृगु का वंश उत्तम माना जाता है। इस कारण पहले मैं आपके प्रति भूमिका-

पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन ।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवन्ते महामुने ॥ ६ ॥
निगदामि यथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ।
भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा ॥ ७ ॥
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम् ।
भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ॥ ८ ॥
च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः ।
प्रमतेरप्यभूत् पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ९ ॥
रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः ।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥
तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान् ब्रह्मवित्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः ॥ ११ ॥

शौनक उवाच ।

सूतपुत्र तथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः ।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १२ ॥

सचित पुराणों में जिस प्रकार भृगुवंश का वर्णन किया है, उसके अनुसार उस वंश का इतिहास कहता हूँ। आपने यह तो सुना ही है कि स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी ने वरुण के यज्ञ में अग्नि से महर्षि भृगु को उत्पन्न किया था। भृगुजी का एक अत्यन्त प्यारा च्यवन (भार्गव) नामक पुत्र हुआ ॥ ५–८ ॥

च्यवन का पुत्र प्रमति परम धर्मात्मा था, प्रमति का घृताची नामक अप्सरा से रुरु नामक पुत्र हुआ था और रुरु का प्रमद्वरा नामक स्त्री से वेदों का पारगामी धर्मात्मा शुनक नामक पुत्र हुआ, जो कि आप के परदादा थे। हे शौनक ! वे महात्मा कीर्त्तिमान्, शास्त्रों के ज्ञाता, वेदपारगामी, सत्यवादी, शमदमादि युक्त और नियमानुसार पवित्र अन्न खानेवाले थे ॥ ९–११ ॥

शौनक ऋषि बोले—हे सूतनन्दन ! मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ कि महात्मा भार्गव का च्यवन नाम किस कारण से प्रसिद्ध हुआ था, सो मुझसे कहिये ॥ १२ ॥

सौतिरुवाच ।

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता ।
तस्यां समभवद्गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ॥ १३ ॥
तस्मिन् गर्भेऽथ संभूते पुलोमायां भृगूद्वह ।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥ १४ ॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे ।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ॥ १५ ॥
तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥ १६ ॥
अभ्यागतन्तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥ १७ ॥
तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन् हृच्छयेनाभिपीडितः ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद्राजन् जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ १८ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे भृगुनन्दन ! महात्मा भृगु की पुलोमा नामवाली प्रसिद्ध पत्नी थी, वह उनको प्राणों से भी अधिक प्यारी थी। वह एक समय गर्भवती हुई ॥ १३ ॥

हे शौनक ! कीर्त्तिमान् भृगु के समान स्वभाववाली गर्भवती धर्मपत्नी पुलोमा को उस समय धर्म पालनेवालों में श्रेष्ठ भृगुजी एक दिन अकेली छोड़कर स्नान करने को बाहर गये। इतने ही में एक पुलोमा नाम का राक्षस उनके आश्रम के समीप आ पहुँचा ॥ १४ ॥ १५ ॥

आश्रम में घुसकर वह राक्षस शुद्ध चरित्रवाली भृगुभार्या पुलोमा को देखकर कामना से मूर्छित सा हो गया ॥ १६ ॥

परन्तु उस समय स्वरूपवती पुलोमा ने उस अभ्यागत राक्षस का वन के फल मूल आदि से स्वागत किया ॥ १७ ॥

हे ब्रह्मन् ! काम से पीड़ित हुआ वह राक्षस उस समय उसको देखकर प्रसन्न हुआ और सब प्रकार से उसको हर ले जाने की इच्छा करने लगा ॥ १८ ॥

जातमित्यब्रवीत् कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम् ।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ॥ १९ ॥
तां तु प्रादात्पिता पश्चाद्भृगवे शास्त्रवत्तदा ।
तस्य तत् किल्बिषं नित्यं हृदि वर्त्तति भार्गव ॥ २० ॥
इदमन्तरमित्येवं हर्त्तुं चक्रे मनस्तदा ।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥ २१ ॥
तमपृच्छत्ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा ।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ॥ २२ ॥
मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते ।
मया हीयं वृता पूर्वं भार्यार्थे वरवर्णिनी ॥ २३ ॥
पश्चादिमां पिता प्रादाद् भृगवेऽनृतकारिणे ।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ॥ २४ ॥

'चलो मेरा काम बन गया' ऐसा सोचकर वह राक्षस प्रसन्न हुआ । पहले पवित्र हास्यवाली बालिका पुलोमा के साथ इस राक्षस ने विवाह करना चाहा था, परन्तु कन्या के पिता ने इसको न देकर शास्त्र की विधि के अनुसार भृगु के साथ विवाह कर दिया । हे भार्गव ! उस राक्षस के मन में तभी से पापी विचार हुआ करता था ॥ १९–२० ॥

पुलोमा को हरने का ऐसा अच्छा अवसर नहीं मिल सकता, यह विचार कर उसने उसको हरने का निश्चय किया । परन्तु इतने में ही उसकी दृष्टि यज्ञशाला की ओर गई और वहाँ प्रज्वलित अग्निदेव को देखा ॥ २१ ॥

उस समय राक्षस ने प्रज्वलित अग्निदेव से पूछा कि हे अग्निदेव ! मुझसे कहो कि यह किस की भार्या है, मैं तुमसे सच्ची बात जानना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

हे अग्निदेव ! तुम देवताओं के मुख हो इस कारण मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर दो, पहले तो इस सुन्दरी को भार्या बनाने के लिये मैंने ही वरण किया था ॥ २३ ॥

परन्तु पीछे उसके मिथ्यावादी पिता ने भृगु के साथ विवाह कर दिया । हे अग्निदेव ! तुम मुझे सत्य सत्य बताओ, यह एकान्त में खड़ी हुई सुन्दरी की यदि भृगु की भार्या है, तो मैं इस आश्रम से इसको हरकर ले जाना चाहता हूँ ।

तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम्।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच।

एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम्।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥ २६ ॥
त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा।
साक्षिवत् पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥ २७ ॥
मत्पूर्वापहृता भार्या भृगुणानृतकारिणा।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥ २८ ॥
श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम्।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥ २९ ॥

मेरे द्वारा वरी हुई इस पुलोमा के साथ भृगु ने विवाह कर लिया है; जब से मैंने यह बात सुनी है, तब से हृदय को भस्म करता हुआ क्रोध मेरे अंदर भर गया है ॥ २४–२५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—भृगु की स्त्री के विषय में क्या उत्तर देना चाहिए, ऐसी शंका में पड़े हुए प्रज्वलित अग्निदेव से राक्षस बार बार पूछने लगा कि हे अग्निदेव! तुम नित्य सकल प्राणियों के अन्तःकरण में निवास करते हो और पुण्य तथा पाप के साक्षी हो, इस कारण तुमको मेरे प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना चाहिए ॥ २६–२७ ॥

जिसको पहले मैं वाग्दानरूप से अपनी स्त्री बना चुका हूँ, उसको पीछे से अनुचित काम करनेवाले भृगु ने हरण कर लिया है। हे अग्ने! यदि यह स्त्री मेरी हो और भृगु ने असत् काम किया हो तो तुमको सत्य कह देना चाहिए ॥ २८ ॥

तुमसे उत्तर मिल जाने पर मैं इस आश्रम में से भृगु की भार्या को तुम्हारे सामने ही हर ले जाऊँगा, इस कारण हे अग्निदेव! मुझे सच्चा उत्तर दो ॥ २९ ॥

सूत उवाच ।

तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत् ।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच ।

त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन ।
किंत्वियं विधिना पूर्वं मन्त्रवन्न वृता त्वया ॥ ३१ ॥
पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी ।
प्रदत्ता न तु वै तुभ्यं वरलोभान्महायशाः ॥ ३२ ॥
अथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम् ।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ॥ ३३ ॥
सेयमित्यवगच्छामि नानृतं वक्तुमुत्सहे ।
नानृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



उग्रश्रवा कहते हैं—राक्षस के ऐसे वचनों का सुनकर सप्तार्चिदेव अग्नि बहुत खिन्न हुए, क्योंकि यदि भृगु के पक्ष की बात कहें तो मिथ्या भाषण का पातक लगता है, यदि सच्ची बात कहें तो भृगु के शाप देने का भय है। इस कारण उन्होंने धीरे से उत्तर दिया ॥ ३० ॥

अग्नि ने यह बात बहुत ही धीरे से कही कि हे दानवनन्दन ! इस पुलोमा को पहले तूने वरा था, और फिर जोर से स्पष्ट करके कहने लगे कि तूने पहले शास्त्रोक्त विधि से तो इसको नहीं विवाहा था। इसके यशस्वी पिता ने उत्तम वर मिल जाने के लाभ से उस दिन तेरे साथ वेदविधि से विवाह नहीं किया था, किंतु पीछे अपनी सौभाग्यवती पुत्री पुलोमा भृगु के साथ शास्त्रविधि से विवाह दी ॥ ३१–३२ ॥

हे दानव ! भृगु ऋषि ने मेरे समक्ष वैदिक कर्म की रीति से विधिपूर्वक इस पुलोमा के साथ विवाह किया है और मैं इस बात को जानता हूँ। मैं असत्य बोलना नहीं चाहता तथा हे दानवश्रेष्ठ ! इस जगत् में कभी असत्य की प्रतिष्ठा भी नहीं होती है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

सौतिरुवाच ।

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन् वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥
ततः स गर्भो निवसन् कुक्षौ भृगुकुलोद्वह ।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम् ।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥
सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दन ।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥
तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदन्तीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्राह्मणो ! अग्नि के ऐसे वचन सुनकर उस दुष्टात्मा राक्षस ने सूकर का रूप धारण किया और मन तथा पवन के समान वेग से उस पुलोमा को हरकर ले गया । हे भृगुवंशी ! उस समय पुलोमा के पेट में स्थित भृगु का गर्भ क्रोध के कारण माता की कोख से बाहर निकल पड़ा, इस कारण वह च्यवन (चुआ हुआ) कहलाया ॥ १-२ ॥

माता के पेट से गिरे हुए और सूर्य के समान तेजस्वी उस गर्भ को देखते ही राक्षस पुलोमा को छोड़कर पृथ्वी पर गिर गया और जलकर भस्म हो गया ॥ ३ ॥

तदनन्तर दुःख से व्याकुल हुई पुलोमा भृगु के पुत्र च्यवन को लेकर रोती रोती वहाँ से आगे को चल दी ॥ ४ ॥

सब लोकों के पितामह ब्रह्माजी ने स्वयं भृगु की सदाचारवती स्त्री को आँखों में आँसू भरे रोती हुई देखा ॥ ५ ॥

सान्त्वयामास भगवान् वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुविन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्त्तत महानदी ॥ ६ ॥
अनुवर्त्माश्रिता तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥
स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं ताञ्च भाविनीम् ।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच ।

केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।
नहि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनि ॥ १० ॥
तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥

तब पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने पुत्रवधू पुलोमा को शान्त किया। पुलोमा जो रोई थी, उसके आँसुओं की बिन्दुओं से एक बड़ी भारी नदी बहने लगी ॥ ६ ॥

वह नदी तपस्वी भगवान् भृगु की धर्मपत्नी के पीछे पीछे बहने लगी। उस समय सब लोकों के पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने उस नदी को अपनी पुत्रवधू के पीछे जाती हुई देखकर उसका 'वधूसरा' नाम रक्खा। यह नदी च्यवन ऋषि के आश्रम के पास अब भी बहती है ॥ ७–८ ॥

इस प्रकार भगवान् भृगु के प्रतापी पुत्र च्यवनऋषि उत्पन्न हुए। भृगु ऋषि ने अपने पुत्र च्यवन तथा स्त्री पुलोमा को देखते ही क्रोध में भरकर पूछा ॥ ९ ॥

भृगु बोले कि हरण करने के इच्छुक उस राक्षस को तेरा परिचय किसने दिया, यह बता। वह राक्षस तो इस बात को नहीं जानता था कि तू मेरी भार्या है ॥ १० ॥

इस राक्षस को तेरा पता किसने बताया? यह तू मुझसे कह। क्योंकि

पुलोमोवाच ।

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ १२ ॥
साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं तु तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात च ॥ १३ ॥

सूत उवाच ।

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निं प्रतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमेऽग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

मैं अभी उसको शाप देना चाहता हूँ। ऐसा कौन है जो मेरे शाप से न डरता हो ॥ ११ ॥

पुलोमा कहने लगी कि हे भगवन्! अग्नि ने उस राक्षस को मेरा परिचय दिया था, तब वह राक्षस टिटीहरी के समान रोती हुई मुझे वेग के साथ आश्रम में से हरण करके ले गया ॥ १२ ॥

मैं इस तुम्हारे पुत्र के कारण राक्षस के हाथ से छूटी हूँ। वह राक्षस इस बालक को देखते ही मुझे छोड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ा और जलकर भस्म हो गया ॥ १३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं कि पुलोमा के मुख से इस वृत्तान्त को सुनकर भृगु को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अति क्रोध में भरकर अग्नि को शाप दिया कि जा तू सर्वभक्षी हो जायगा ॥ १४ ॥

छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन् कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥
धर्मे प्रयतमानस्य सत्यञ्च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥
पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथापरान् ॥ ३ ॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥
शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन् कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—भृगु के शाप देने पर अग्नि ने क्रोध में आकर उनसे कहा कि हे ब्राह्मण ! तुमने मेरे ऊपर यह साहस क्यों किया ? ॥ १ ॥

मैं धर्म के विषय में उद्योग किया करता हूँ, सत्य और यथार्थ बात कहता हूँ, इस कारण जब मुझसे पूछा, तब मैंने सत्य बात कह दी। इसमें मेरा क्या अपराध है ? ॥ २ ॥

यदि कोई साक्षी किसी बात को जानता हो और उससे वह बात पूछी जाने पर यदि वह मिथ्या बोले तो उसके कुल की बीती हुई छः पीढ़ी और आगे होने वाली सात पीढ़ियों का नाश हो जाता है। अर्थात् वे नरक में पड़ती हैं ॥ ३ ॥

ऐसे ही और किसी भी कार्य के ज्ञाता से कोई बात पूछने पर वह यदि उलटी बात बताये तो वह भी इसी पाप का भागी होता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

मैं भी तुम्हें शाप दे सकता हूँ, परन्तु ब्राह्मण मेरे मान्य हैं इस कारण मैं तुम्हें शाप नहीं देता हूँ। हे ब्राह्मण ! तुम धर्म को जानते हो, तथापि मैं जो कुछ कहता हूँ, उसको सुनो ॥ ५ ॥

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्त्तिषु ।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥
वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः ।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥
आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा ।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥
देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चापि देवताः ।
एकीभूताश्च दृश्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥
देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम् ।
देवतानां पितॄणाञ्च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥
अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः ।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ।
सर्वभक्षः कथं तेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ॥ ११ ॥

मैं गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि आदि मूर्तियों से नित्य अग्निहोत्रों में, यज्ञों में, विवाहादि क्रियाओं के होमों में योगसिद्धि के प्रभाव से बहुत से रूप बनाकर निवास करता हूँ ॥ ६ ॥

वेद में कही हुई विधि से मुझमें जो हवि दी जाती है, उससे देवता और पितर तृप्त होते हैं ॥ ७ ॥

अग्नि में होम किया हुआ घी और दूध आदि सकल देवता और पितरों का शरीर बन जाता है। देवताओं का पितरों के साथ अमावास्य और पौर्णमास नामक यज्ञों में समान भाग है, इस कारण देवता ही पितर हैं और पितर ही देवता हैं। इस प्रकार एकरूप होते हुए भी वे पर्व में पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं ॥ ८-९ ॥

मुझमें जो होम किया जाता है वह देवता और पितरों को पहुँचता है, क्योंकि मैं देवता और पितरों का मुख माना जाता हूँ ॥ १० ॥

अमावास्या के दिन पितर और पूर्णमासी के दिन देवता हुत पदार्थ को मेरे मुख से ही खाते हैं। इस कारण सर्वभक्षी होने पर मैं उनका मुख कैसे हो

सौतिरुवाच।

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः।
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ॥ १२ ॥
निरोङ्कारवषट्कारा: स्वधास्वाहाविवर्जिताः।
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन् सुदुःखिताः ॥ १३ ॥
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान् गत्वाब्रुवन्वचः।
अग्निनाशात् क्रियाभ्रंशाद् भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः॥१४॥
विदध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा।
अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ॥ १५ ॥
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च।
भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ॥ १६ ॥

सकूँगा, अर्थात् देवता और पितरों का मुखरूप होने पर मैं पवित्र और अपवित्र चाहे जिस पदार्थ को कैसे भक्षण कर सकूँगा ? ॥ ११ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार कहने के अनन्तर अग्निदेव सब स्थानों से अन्तर्धान हो गये ॥ १२ ॥

ब्राह्मणों के अग्निहोत्रों में, यज्ञों में तथा सभा आदि की क्रियाओं में ॐकार, वषट्कार, स्वाहा, स्वधा आदि बन्द हो गये, सब प्रजा भी अग्नि के अन्तर्धान होने से दुःखित हो गई ॥ १३ ॥

तब घबड़ाए हुए ऋषि देवताओं के पास गये और इस प्रकार कहने लगे कि हे निर्दोष देवताओ ! अग्निदेव अन्तर्धान हो गये हैं, इस कारण हमारी नित्य की अग्निहोत्रादि क्रियायें बन्द हो गईं। अब त्रिलोकी के प्राणी क्या करें ? हमारी समझ में कुछ नहीं आता ॥ १४ ॥

अब आप जरा भी विलम्ब न करके इस विषय में जो कर्त्तव्य हो सो करिये। तदनन्तर ऋषियों और देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर—॥ १५ ॥

अग्नि के शाप का यह वृतान्त तथा क्रियाओं के बन्द होने का समाचार निवेदन किया कि हे महाराज ! किसी कारण से भृगुजी ने अग्नि को शाप दे दिया है ॥ १६ ॥

कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा।
हुतभुक् सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत्।
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ॥ १८ ॥
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्त्ता चान्त एव च।
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन् क्रियाणाञ्च प्रवर्त्तकः ॥ १९ ॥
स तथा कुरु लोकेश नाच्छिद्येरन्यथा क्रियाः।
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन् हुताशन ॥ २० ॥
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह।
न त्वं सर्वशरीरैर्हि सर्वभक्षत्वमेष्यसि ॥ २१ ॥
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन्।
क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २२ ॥

परन्तु अग्नि हमारा मुख है और यज्ञ के भाग में प्रथम भोक्ता है, वह सब लोकों में सर्वभक्षी कैसे हो सकता है ? ॥ १७ ॥

देवताओं की इस बात को सुनकर ब्रह्माजी ने अग्नि को अपने पास बुलाया और प्राणियों के रक्षक उस अविनाशी के प्रति ये कोमल वचन कहे—हे अग्ने! तुम ही सब लोकों के कर्त्ता हर्त्ता और धारण करनेवाले हो, क्रियाओं के प्रवर्त्तक भी तुम्ही हो। इस कारण हे लोकेश! ऐसा वर्ताव करो जिससे क्रियाओं का नाश न हो। हे हुताशन! तुम महासमर्थ होकर ऐसे मूढ कैसे हो गये हो ? ॥ १८-२० ॥

तुम जगत् में सदा पवित्र हो और सब प्राणियों की गति भी वास्तव में तुम ही हो। इस कारण तुम सब शरीरों से सर्वभक्षी नहीं होओगे ॥ २१ ॥

हे शिखिन्। तुम्हारे अपानदेश में जो ज्वालायें हैं वे सब का भक्षण करेंगी तथा मनुष्यादि का मांस भक्षण करनेवाली तुम्हारी जो मूर्तियाँ हैं वे सब को

तथा त्वदर्चिभिर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद्विनिर्गतम् ॥ २३ ॥
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्त्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २५ ॥
देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २६ ॥
दिवि देवा मुमुदिरे भूतसङ्घाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २७ ॥

भक्षण करेंगी। जैसे सूर्य की किरण पड़ने से सब वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं, वैसे ही तुम्हारी ज्वालाओं में जला हुआ सब पवित्र हो जायगा। हे अग्ने! तुम अपने ही प्रभाव से उत्पन्न हुए परमतेज हो ॥ २२-२३ ॥

इस कारण हे व्यापक अग्ने! अपने तेज के प्रभाव से तुम ऋषि के शाप को सच्चा कर दिखाओ और मुख में होम किये हुए देवताओं के तथा अपने भाग को ग्रहण करो ॥ २४ ॥

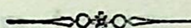
उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर अग्नि ने पितामह ब्रह्माजी से कहा कि अच्छा ऐसा ही होगा। फिर अग्नि ब्रह्माजी की आज्ञानुसार वर्त्ताव करने को चला गया ॥ २५ ॥

देवता तथा ऋषि भी प्रसन्न होते हुए जहाँ से आये थे वहाँ जाकर पहले के समान अपनी सब क्रियायें करने लगे ॥ २६ ॥

स्वर्ग में देवता प्रसन्न हुए, जगत् के सब प्राणियों ने परम आनन्द पाया और पापरहित हुआ अग्नि भी परम आनन्द को प्राप्त हुआ ॥ २७ ॥

एवं स भगवाञ्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा ।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च सम्भवः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



• हे भगवन् ! इस प्रकार अग्नि ने भृगु से शाप पाया था। अग्नि के शाप के विषय में यह प्राचीन इतिहास है, जिसमें पुलोमा राक्षस का विनाश तथा च्यवन के जन्म की कथा आती है ॥ ४८ ॥

सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥



आठवाँ अध्याय

सूत उवाच ।

स चापि च्यवनो ब्रह्मन् भार्गवोऽजनयत् सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥
प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायान्तु शुनकं समजीजनत् ॥ २ ॥
तस्य ब्रह्मन् रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ॥ ३ ॥
ऋषिरासीन्महान् पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान् ।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्राह्मण ! भृगु को पुत्र च्यवन के सुकन्या नाम की अपनी पत्नी से महात्मा और महातेजस्वी प्रमति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥

प्रमति ने घृताची अप्सरा से रुरु नामक पुत्र को उत्पन्न किया और रुरु ने प्रमद्वरा से शुनक नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो महाबलवान्, व्रतधारी, यशस्वी और भृगु के सब पुत्रों में प्रधान था। वह जन्मकाल से ही तीव्र तपस्या करने लगा, इस कारण सर्वत्र उसका यश अटल हो गया था। हे ब्राह्मणो ! उस महातेजस्वी रुरु के चरित्र को विस्तार के साथ कहता हूँ, उसको तुम सब सुनो ॥ २–३ ॥

पूर्वकाल में तपस्वी, विद्वान् और सकल प्राणियों के कल्याण में प्रीति रखनेवाले स्थूलकेश नामक एक महर्षि थे ॥ ४ ॥

हे विप्रर्षे ! उस समय विश्वावसु गन्धर्वराज द्वारा मेनका अप्सरा को एक संतान प्राप्त हुई । हे भृगुनन्दन ! जब अपना समय पूरा होने को आया तब

अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति॥ ६॥
उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरं जगाम सा।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन्निर्दया निरपत्रपा॥ ७॥
कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः॥ ८॥
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम्।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः॥ ९॥
जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभे॥ १०॥
जातकाद्याः क्रियाश्चास्या विधिपूर्वं यथाक्रमम्।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः॥ ११॥
प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः॥ १२॥

दयाहीन और लज्जारहित वह अप्सरा तत्काल जन्मी हुई इस कन्या को स्थूलकेश ऋषि के आश्रम के सामने नदी के तटपर रखकर चली गई॥ ५–७॥

देवकन्या के समान रमणीय और सुन्दरता की प्रभा से दमकती हुई उस कन्या को महर्षि स्थूलकेश ने नदी के किनारे पड़ी हुई देखा॥ ८॥

उस कन्या को मार्ग में बिना मा बाप की पड़ी हुई देखकर महात्मा स्थूलकेश को दया आ गई, इस कारण वे उस कन्या को उठाकर आश्रम में ले आये। वह सुन्दराङ्गी कन्या स्थूलकेश के पवित्र आश्रम में रहकर धीरे धीरे बड़ी होने लगी॥ ९–१०॥

महाभाग स्थूलकेश ने क्रम से उस कन्या के जातकर्म आदि संस्कार कर दिये। वह रूप, गुण और बुद्धि में सब प्रमदाओं (स्त्रियों) से श्रेष्ठ थी, इस कारण उस कन्या का नाम महर्षि ने प्रमद्वरा रक्खा॥ ११–१२॥

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम् ।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा ॥ १३ ॥
पितरं सखिभिः सोऽथ श्रवयामास भार्गवम् ।
प्रमतिश्चाभ्ययाचत्तां स्थूलकेशं यशस्विनम् ॥ १४ ॥
ततः प्रादात्पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम् ।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते ॥ १५ ॥
ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते ।
सखीभिः क्रीडती सार्द्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १६ ॥
नापश्यत् संप्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम् ।
पदा चैनं समाक्रामन् मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १७ ॥
स तस्याः संप्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा ।
विषोपलिप्तान्दशनान् भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १८ ॥

एक समय स्थूलकेश ऋषि के आश्रम में प्रमद्वरा को देखकर धर्मात्मा रुरु कामदेव से पीडित हो गया ॥ १३ ॥

उसने मित्रों के द्वारा अपने पिता भृगुपुत्र प्रमति को अपनी कामयुक्त दशा से अवगत किया, जिससे प्रमति ने अपने पुत्र के लिये स्थूलकेश ऋषि से उस कन्या की याचना की। स्थूलकेश ऋषि ने उसे स्वीकार करके प्रमद्वरा कन्या का रुरु के साथ सम्बन्ध पक्का करके आनेवाले पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में विवाह का निश्चय कर दिया ॥ १४–१५ ॥

कुछ दिन बाद विवाह काल समीप आ गया. इतने ही में एक समय वह कन्या अपनी सहेलियों के साथ वन में क्रीडा कर रही थी। वहाँ काल की प्रेरणा से मरना चाहती हुई उस कन्या ने पृथिवी पर पड़े हुए एक लम्बे सर्प को बिना देखे अपने पैर से खूँद दिया। उसी समय कालधर्म की प्रेरणा से सर्प ने मदमत्त हुई उस कन्या के शरीर में विष से भरे अपने दाँत जोर से गड़ा दिये ॥ १६–१८ ॥

सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि ।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ॥ १९ ॥
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्द्धजा ।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाभवत् ॥ २० ॥
प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता ।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ २१ ॥
ददर्श तां पिता चैव ये चैवान्ये तपस्विनः ।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ २२ ॥
ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः ।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २३ ॥

सर्प के काटते ही वह कन्या एकाएक भूमि पर गिर पड़ी, उसके शरीर का रङ्ग बदल गया, लावण्य नष्ट हो गया, गहने शरीर में से निकलकर बिखर गए, चेतनता उड़ गई ॥ १९ ॥

उसके सिर के बाल बिखर गए, सखियाँ उसको देखकर हाहाकार करने लगीं। जो अबतक देखने योग्य सुन्दराङ्गी थी वह एक ही क्षण में प्राण निकलते ही ऐसी हो गई कि उसे देखने में भय लगने लगा ॥ २० ॥

सर्प के विष से पीड़ित हुई वह निद्रा के वशीभूत सी होकर पृथिवी पर गिर पड़ी थी, तो भी क्षण भर देखने में बहुत ही अच्छी प्रतीत होती थी ॥ २१ ॥

दयालु ब्राह्मण, उसके पिता और अन्य जो तपस्वी वहाँ आये थे, उन्होंने कमल के समान कान्तिवाली तथा चेतनतारहित उस कन्या को भूमि पर पड़ी हुई देखा ॥ २२ ॥

स्वस्त्याधेय, महाजानु, कुशिक, शंखमेखल, उद्दालक, महायशस्वी कठ, श्वेत, भरद्वाज, कोणकुत्स्य, गौतम, पुत्रसहित प्रमति तथा और भी बहुत से बनवासी तपस्वी जहाँ कन्या पड़ी थी वहाँ आये और उसको सर्प के विष से विह्वल होकर

उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः ।
भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ॥ २४ ॥
प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः ।
तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ।
रुरुदुः कृपया विष्टा रुरुस्त्वार्त्तो बहिर्ययौ ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



मरण को प्राप्त हुई देखकर कातर हो रोने लगे। यह दशा देख रुरु घबड़ाकर आश्रम से बाहर चला गया, परन्तु और सब ब्राह्मण वहाँ ही बैठे रहे ॥ २३–२५ ॥

आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥



नौवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वातिदुःखितः ॥ १ ॥
शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन् करुणं बहु ।
अब्रवीद्वचनं शोचन् प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ॥ २ ॥
शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्द्धिनी ।
बान्धवानाञ्च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥
यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन सञ्जीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥
तथा च जन्मप्रभृति यतात्माहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथाद्यैषा समुत्तिष्ठतु भाविनी ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्रह्मन्! उस आश्रम में महात्मा ब्राह्मण प्रमद्वरा के पास बैठे हुए शोक कर रहे थे, उस समय शोक से महादुःखित रुरु गहन वन में जा दहाड मारकर रोने लगा। वह अपनी प्रिया प्रमद्वरा का स्मरण करके अति करुणाजनक विलाप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ १–२ ॥

मेरे शोक को बढ़ानेवाली हे कृशोदरी! तू धरती पर सो रही है, यह देखकर बन्धुजनों तथा दूसरों को इससे अधिक और क्या दुःख होगा ? ॥ ३ ॥

मैंने यदि कुछ दान दिया हो, यदि मैं धार्मिक होऊँ, यदि मैंने कुछ तप किया हो, अथवा यदि मैंने भली प्रकार गुरुओं की सेवा की हो, तो उन सब पुण्यों के बल से यह मेरी प्रिया जीवित हो जाय ॥ ४ ॥

यदि मैंने अपने आत्मा को जन्म से ही संयम में रक्खा हो और व्रत धारण किया हो, तो उस सब पुण्य के फल से मेरी यह स्त्री अभी उठकर खड़ी हो जाय ॥ ५ ॥

एवं विलप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च ।
देवदूतस्तदाभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने ॥ ६ ॥

देवदूत उवाच ।

अभिधत्से ह यद्वाक्यं रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन्नायुरस्ति गतायुषः ॥ ७ ॥
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथञ्चन ॥ ८ ॥
उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीह प्रमद्वराम् ॥ ९ ॥

रुरुरुवाच ।

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर ।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ १० ॥

इस प्रकार प्रिया के लिये दुःखी हुआ और शोक करता हुआ [रुरु वन में अकेला बैठा था, वहाँ उसके पास एक देवदूत ने आकर इस प्रकार कहा–॥ ६ ॥

देवदूत बोला कि हे रुरु ! तू दुःख के कारण जो वचन कहा रहा है, उन से क्या हो सकता है ? हे धर्मात्मन् ! जो मनुष्य आयु पूरी होने से एक बार मर जाता है वह फिर जीवित नहीं होता ॥ ७ ॥

गन्धर्व और अप्सरा की यह विचारी कन्या आयु पूरी हो जाने से मरण को प्राप्त हुई है, हे तात ! इसके लिये किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिये । परन्तु प्राचीन महात्मा और देवताओं ने इस विषय का एक उपाय निकाल रखा है, उस उपाय की यदि तू परीक्षा करेगा तो तुझे प्रमद्वरा अवश्य ही मिल जायगी ॥ ८-९ ॥

रुरु ने कहा—हे देवदूत ! देवताओं का कहा हुआ वह उपाय कौनसा है ? यदि मुझे मालूम हो जायगा तो मैं उसके अनुसार कार्य अवश्य ही करूँगा । तुझे मेरी रक्षा करनी चाहिये, अर्थात् वह उपाय मुझे बताकर मेरा उद्धार अवश्य ही करना चाहिये ॥ १० ॥

देवदूत उवाच ।

आयुषोऽर्द्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन ।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ॥११॥

रुरुरुवाच ।

आयुषोऽर्द्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम ।
शृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया ॥१२॥

सौतिरुवाच ।

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ॥१३॥
धर्मराजायुषोऽर्द्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा ।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे ॥१४॥

धर्मराज उवाच ।

प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि ।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्द्धेन रुरोरेव समन्विता ॥१५॥

देवदूत ने कहा—हे भृगुनन्दन ! तू अपनी आधी आयु उस कन्या को देदे । हे रुरु ! ऐसा करने से तेरी स्त्री प्रमद्वरा उठकर खड़ी हो जायगी ॥ ११ ॥

रुरु ने कहा—हे आकाशचारियों में श्रेष्ठ देवदूत ! उस कन्या के लिये मैं अपनी आधी आयु देता हूँ, शृङ्गार, रूप और आभूषणों के सहित मेरी प्रिया जीवित हो जाय ॥ १२ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर महात्मा गन्धर्वराज (प्रमद्वरा के पिता) और देवदूत ने धर्मराज के पास जाकर कहा कि हे धर्मराज ! रुरु की स्त्री प्रमद्वरा मर गई है, उसको उसके पति की आधी आयु से यदि आपके ध्यान में आवे तो जीवित कर दीजिये ॥ १३-१४ ॥

धर्मराज बोले—हे देवदूत ! तुम चाहते हो तो रुरु की भार्या रुरु की ही आधी आयु से जीवित हो जाय ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत् प्रमद्वरा ।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्द्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ॥१६॥
एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत ॥१७॥
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ ॥१८॥
स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिञ्जल्कसुप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ॥१९॥
स दृष्ट्वा जिह्मगान् सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा ॥२०॥
स कदाचिद्वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत् ।
शयानं तत्र चापश्यत् डुण्डुभं वयसान्वितम् ॥२१॥

उग्रश्रवा कहते हैं—ऐसा कहते ही वह वरवर्णिनी प्रमद्वरा रुरु की आधी आयु से जैसे निद्रा में से जगी हो वैसे उठकर बैठी हो गई ॥ १६ ॥

स्त्री के लिये आधी आयु देनेवाले केवल रुरु के भाग्य में ही इस प्रकार देखने में आया था। इस प्रकार स्त्री को आधी आयु देने से रुरु की बहुत बड़ी आयु में से आधी आयु कम हो गई ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन दोनों के माता पिता ने शुभ लग्न (पूर्वाफाल्गुनी) के आने पर उनका विवाह कर दिया और रुरु तथा प्रमद्वरा एक दूसरे का हित चाहते हुए आनन्द से समय बिताने लगे ॥ १८ ॥

इस प्रकार कमलकेसर के समान कान्तिवाली प्रमद्वरा नामक दुर्लभ स्त्री को पाकर व्रतधारी रुरु ने सर्पों का नाश करने की प्रतिज्ञा की ॥ १९ ॥

वह जहाँ तहाँ सर्पों को देखते ही अत्यन्त क्रोध में भरकर पूरी शक्ति से शस्त्रों द्वारा उनको मारने लगा ॥ २० ॥

एक समय वह रुरु ब्राह्मण किसी घोर वन में जा पहुँचा, वहाँ उसने डुंडुभ जाति के एक बुड्ढे, जीर्णशरीर सर्प को सोता हुआ देखा ॥ २१ ॥

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः ॥२२॥
नापराध्यामि ते किञ्चिदहमद्य तपोधन ।
संरम्भाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



रुरु उसको देखते ही क्रोध में भर गया और उसको मारने की इच्छा से कालदण्ड के समान अपना डंडा उठाया। उस समय डुण्डुभ जाति के सर्प ने कहा कि हे तपोधन ! इस समय मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, फिर तुम निष्कारण ही क्रोध के आवेश में आकर मुझे क्यों मारे डालते हो ? ॥ २२-२३ ॥

नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥



दसवाँ अध्याय

रुरुरुवाच ।

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद्भुजगेन ह ।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥
भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत ।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे ॥ २ ॥

डुण्डुभ उवाच ।

अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन् ये दशन्तीह मानवान् ।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥
एकानर्थान् पृथगर्थानेकदुःखान् पृथक्सुखान् ।
डुण्डुभान्धर्मविद् भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

रुरु ने कहा—हे भुजङ्गम ! मेरी प्राण के सामन प्यारी भार्या को एक दुष्ट सर्प ने काट खाया था, उस दिन से मैंने उस सर्प के अपराध से यह नियम कर लिया है कि जो जो सर्प मेरे देखने में आवेंगे उन सब को मैं मार डालूँगा । इस कारण मैं तुझे अभी मारे डालता हूँ, आज मेरे हाथ से तेरा संहार होगा ॥ १-२ ॥

डुण्डुभ ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जो सर्प भूमि पर मनुष्यों को काटते हैं वे दूसरी जाति के हैं। डुण्डुभ तो आकारमात्र का ही सर्प है, इस कारण हे महर्षे ! केवल सर्प नाम की गन्ध पाकर डुण्डुभ का वध करना तुम्हें योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

एक जाति के होने से सर्पों के साथ हानि हमारी भी होती है, परन्तु लाभ सबको अलग अलग मिलता है। अतः दुःख में सब समान हैं और सुख में अलग हैं। इस कारण धर्मज्ञ होकर आप को डुण्डुभों का नाश नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा।
नावधीद्भयसंविग्नमृषिं मत्वाथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥
उवाच चैनं भगवान् रुरुः संशमयन्निव।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ॥ ६ ॥

डुण्डुभ उवाच।

अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात्।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

रुरुरुवाच।

किमर्थं शप्तवान् क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद्भविष्यति ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

—:❀❀❀:—

उग्रश्रवा कहते हैं—भय से घबड़ाये हुए और दुःखित डुण्डुभ के ऐसे कातर वचन सुनने से रुरु ने उसको कोई ऋषि समझकर मारा नहीं, किंतु धीरज देते हुए पूछा कि हे सर्प! तू कौन है? और सर्प की योनि तूने किस कारण से पाई है? यह बात मुझे बता ॥ ५-६ ॥

डुण्डुभ ने कहा—हे रुरो! पहले मैं सहस्रपाद नाम का ऋषि था, फिर ब्राह्मण के शाप को प्राप्त होकर सर्पयोनि में पहुँच गया हूँ ॥ ७ ॥

यह सुनकर रुरु ने कहा कि हे सर्पोत्तम! ब्राह्मण ने किस कारण से क्रुद्ध होकर तुम्हें शाप दिया था और अभी तुम्हें इस शरीर में और कब तक रहना पड़ेगा, मैं यह सुनना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

दशम अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

—❀—

ग्यारहवाँ अध्याय

डुण्डुभ उवाच ।

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः ।
भृशं संशितवाक् सोऽत्र तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम् ।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥
लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः ।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक् शंसितव्रतः ॥ ३ ॥
यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्बिभीषया ।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद्भविष्यसि ॥ ४ ॥
तस्याहं तपसो वीर्यं जानानस्तत् तपोधन ।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा ॥ ५ ॥
प्रणतः संभ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ।
सखेति हसतेदन्ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥

डुण्डुभ ने कहा—सत्यवादी और तपोवीर्यसम्पन्न खगम नामक एक ब्राह्मण मेरा बालकपन का मित्र था ॥ १ ॥

वह एक दिन जब अग्निहोत्र के काम में एकचित्त बैठा था, उस समय मैंने बालस्वभाव में आकर खेलते हुए तिनकों का एक साँप बनाकर उसको डराया और वह उससे डरकर मूर्छित हो गिर पड़ा ॥ २ ॥

वह ब्राह्मण सत्यवादी, उत्तम व्रतधारी और तप को ही धन माननेवाला था। उसको जब चेतना हुई तब मानो मुझे क्रोध से भस्म कर देता हो, इस प्रकार लाल लाल आँखें करके कहने लगा—॥ ३ ॥

मुझे डराने के लिये तूने जैसा पराक्रमहीन झूठा साँप बनाया है, तू वैसा ही पराक्रमहीन साँप मेरे शाप से हो जायगा ॥ ४ ॥

हे तपोधन ! मैं उसके तपोबल को जानता था, इस कारण मैं उसी समय

क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन् शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।
सोऽथ मामब्रवीद् दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसंभ्रान्तस्तपोधनः ।
नानृतं वै मया प्रोक्तम्भवितेदं कथञ्चन ॥ ८ ॥
यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन ।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदानघ ॥ ९ ॥
उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता न चिरादिव ॥१०॥
स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च ।
स्वं रूपं प्रतिपद्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥११॥

चित्त में घबड़ाता हुआ उसके सामने खड़ा हो गया. और दोनों हाथों से प्रणाम करके निवेदन किया कि हे भाई ! यह तो मैंने साधारण हँसने के लिये ही तुमसे परिहास किया था ॥ ५–६ ॥

हे ब्रह्मन् ! मेरे ऊपर क्षमा कर तुम अपने शाप से मुझे छुड़ाओ। मुझे अत्यन्त उद्विग्नचित्त और घबड़ाहट में पड़ा हुआ देखकर वह तपस्वी बार बार लम्बे श्वास लेता हुआ कहने लगा कि शाप किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं होगा ॥ ७–८ ॥

परन्तु हे तपोधन ! मैं तुझसे जो बात कहता हूँ उसको सावधान होकर सुन और हे निर्दोष ! इस बात को सुनकर सदा अपने हृदय में रखना ॥ ९ ॥

महात्मा प्रमति के रुरु नामक परमपवित्र पुत्र उत्पन्न होगा, उसका दर्शन करते ही तू तुरन्त शाप से छूट जायगा ॥ १० ॥

(डुण्डुभ सर्प ने कहा—) हे तपोधन ! तुम ही वह प्रमति के प्रसिद्ध पुत्र रुरु हो. आज मैंने तुम्हारा दर्शन पा लिया, अब मैं अपने पहले रूप को पाकर कुछ हित की बात कहता हूँ, उसको सुनो ॥ ११ ॥

स डौण्डुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा ।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः ॥१२॥
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम् ।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर ॥१३॥
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित् ।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ॥१४॥
वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ॥१५॥
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ॥१६॥
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत्कर्म वै शृणु मे रुरो ॥१७॥

ऐसा कहते ही महायशस्वी उत्तम ब्राह्मण ने डुण्डुभ सर्प के रूप को त्यागकर अपने पहले अति तेजस्वी शरीर को फिर धारण कर लिया ॥ १२ ॥

अगाध बलवाले रुरु मुनि से उस ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—हे सकल प्राणियों में उत्तम महात्मन्! अहिंसा ही परमधर्म है, इस कारण ब्राह्मण को कभी भी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वेद में कहा है कि जगत् भर के मनुष्यों में ब्राह्मण का स्वभाव कोमल होता है ॥ १३-१४ ॥

वेद तथा सब वेदाङ्गों को जानना, सकल प्राणियों को अभय दान देना, अहिंसा, सत्य भाषण और क्षमा आदि ब्राह्मणों का धर्म है ॥ १५ ॥

वेदों को पढ़कर उनका स्मरण रखना भी ब्राह्मण का परमधर्म है। इस कारण आप को ब्राह्मण होकर क्षत्रियधर्म के अनुसार वर्त्ताव नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

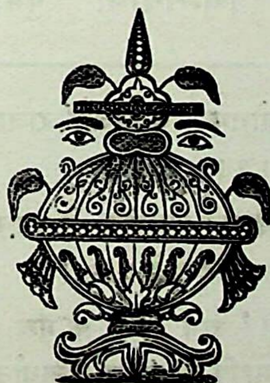
दण्ड धारण करना, उग्रता रखना और प्रजा का पालन करना यह क्षत्रिय का धर्म है। हे श्रेष्ठविप्र रुरु! पहले राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ में साँपों का

जनमेजयस्य यज्ञेऽत्र सर्पाणां हिंसनं पुरा।
परित्राणश्च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ॥१८॥
तपोवीर्यबलोपेताद् वेदवेदाङ्गपारगात्।
आस्तीकाद् द्विजमुख्याद्वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

नाश होने लगा था, तब उस सर्पयज्ञ में तपोबलवाले, वेद वेदाङ्ग-पारङ्गत एक आस्तीक नामक विप्र ने भयभीत हुए सर्पों की रक्षा की थी, यह सब कथा भी सुनो ॥ १७–१९ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥



बारहवाँ अध्याय

रुरुरुवाच ।

कथं हिंसितवान् सर्पान् स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥
किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच ।

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत्समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन् संश्रान्तो न्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥
स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ५ ॥

रुरु ने कहा—हे द्विजोत्तम ! जनमेजय राजा ने यज्ञ में सर्पों का वध करना क्यों आरम्भ किया ? ॥ १ ॥

और हे द्विजवर्य ! बुद्धिमान् आस्तीक ने उन सर्पों की रक्षा किस कारण की ? यह सब वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

ऋषि ने कहा—हे रुरो ! तुम विप्रों के मुख से आस्तीक का बड़ा भारी वृत्तान्त सुनोगे । ऐसा कहकर महर्षि सहस्रपाद अन्तर्धान हो गये ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर अन्तर्धान हुए उन ऋषि को खोजने के लिये रुरु उस बड़े भारी वन में चारों ओर घूमने लगा और अन्त में थक जाने से मूर्छित हो पागल सा बनकर भूमि पर गिर पड़ा । चेत होने पर रुरु सहस्रपाद

लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात्तदाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तथाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सर्पसत्रप्रस्तावनायां
पौलोमे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥
समाप्तश्च पौलोमपर्व ।

ऋषि के उपदेशमय वचनों का बार बार स्मरण करता हुआ अपने आश्रम में आ पहुँचा और अपने पिता से आस्तीक के विषय का वृत्तान्त पूछा । तब रुरु के पिता ने आस्तीक का सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४–६ ॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥



तेरहवाँ अध्याय

अथास्तीकपर्व

शौनक उवाच ।

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद्वदस्व मे ॥ १ ॥
निखिलेन यथातत्त्वं सौते सर्वमशेषतः ।
आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ।
मोक्षयामास भुजगान् प्रदीप्ताद्वसुरेतसः ॥ २ ॥
कस्य पुत्रः स राजासीत् सर्पसत्रं य आहरत् ।
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

महदाख्यानमास्तीकं यथैतत् प्रोच्यते द्विज ।
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ॥ ४ ॥

शौनक ने कहा—हे सूतपुत्र ! सिंह के समान राजा जनमेजय ने सर्पों का यज्ञ करके उनका नाश किस कारण से किया था ? यह सब मुझे पूर्ण रीति से सुनाओ ॥ १ ॥

विजय पानेवालों में श्रेष्ठ और द्विजोत्तम आस्तीक ने धधकती हुई अग्नि में सर्पों की रक्षा किस कारण से की थी ? यह सब वृत्तान्त जैसा हो वैसा मुझे सुनाओ। जिसने सर्पयज्ञ किया था वह राजा किसका पुत्र था और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आस्तीक किसका पुत्र था, यह भी मुझसे कहो ॥ २–३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—मुनिवर ! मैं तुमसे आस्तीक का बड़ा भारी वृत्तान्त जिस प्रकार है, वैसा ही कहता हूँ। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! उस सब को तुम सुनो ॥ ४ ॥

शौनक उवाच ।

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ।
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच ।

इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥ ६ ॥
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु ।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ॥ ७ ॥
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान् ।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ८ ॥
इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥
आस्तीकस्य पिता ह्यासीत् प्रजापतिसमः प्रभुः
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥१०॥

शौनक ने पूछा कि पुरातन ऋषि और यशस्वी आस्तीक की मनोहर कथा को मैं पूर्णरीति से सुनना चाहता हूँ, इस कारण मुझसे उनकी कथा कहिये ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा बोले-कृष्णद्वैपायन के कहे हुए इस इतिहास को ब्राह्मण पुराण कहते हैं ॥ ६ ॥

पहले व्यासजी के शिष्य और मेरे पिता बुद्धिमान् सूत लोमहर्षणजी ने नैमिषारण्य में रहनेवाले ब्राह्मणों के समीप उनके पूछने पर यह इतिहास कहा था। हे शौनक! मैंने उनसे जो कुछ सुना वह आप मुझसे पूछते हैं तो सकल पापों को हरनेवाले उस आस्तीकआख्यान को पूर्ण रीति से सुनाता हूँ ॥ ७-९ ॥

आस्तीक के पिता प्रजापति के समान शक्ति रखते थे, वे अविवाहित होते से नित्य वेद का स्वाध्याय करने में लगे रहते थे, सदा महातप में ही प्रेम रखते थे और नियमित भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी थे ॥ १० ॥

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥११॥
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्र सायंगृहो मुनिः ॥१२॥
तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः।
चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ॥१३॥
वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः।
इतस्ततः परिचरन्दीप्तपावकसप्रभः ॥१४॥
अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान्।
लम्बमानान्महागर्त्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥१५॥
तानब्रवीत्स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान्।
के भवन्तोऽवलवन्ते गर्त्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥१६॥

वे ऊर्ध्वरेता महातपस्वी जरत्कारु नाम से पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे, वे एक ग्राम में एक ही रात रहनेवाले यायावरों में श्रेष्ठ, धर्मज्ञ और दृढ़ व्रतधारी थे ॥ ११ ॥

वे तपोबलधारी महाभाग मुनि एक समय यात्रा के निमित्त सकल भूमण्डल में विचरने को चल दिये। जहाँ सायंकाल हो जाता था वहाँ ही वे ठहर जाते थे ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनेकों तीर्थों में स्नान करते और चारों ओर घूमते हुए वे तेजस्वी ब्राह्मण यात्रा में आत्मसंयमहीन पुरुषों से न हो सकनेवाले अनेकों कठिन नियमों का पालन करते थे ॥ १३ ॥

वे मुनि कभी वायु का भक्षण करके रह जाते थे और कभी निराहार ही रह जाते थे, उन्होंने निद्रा को जीत लिया था। प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी इन ऋषि ने एक दिन इधर उधर फिरते हुए एक स्थान पर अपने पितरों को उलटा शिर किये लटकते हुए देखा। वे एक गड्ढे में ऊपर को पैर और नीचे को सिर किये हुए लटक रहे थे। पितामहों को उलटे सिर लटकते हुए देखते ही जरत्कारु ने इनसे पूछा कि इस गड्ढे में उलटे सिर लटकनेवाले तुम कौन हो? ॥ १४-१६ ॥



जरत्कारु अपने पितरों से उल्टे लटकने का कारण पूछते हैं।

જરત્કારુ પોતાના પિતરોથી ઊંધા લટકાઈ રહ્યાનું કારણ પૂછે છે.

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते ।
मूषिकेण निगूढेन गर्त्तेऽस्मिन्नित्यवासिना ॥१७॥

पितर ऊचुः ।

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
सन्तानप्रक्षयाद् ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥१८॥
अस्माकं सन्ततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥१९॥
न स पुत्रान् जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्त्ते सन्तानस्य क्षयादिह ॥२०॥
अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥२१॥
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन् को भवानिह नः स्थितः ।
किमर्थञ्चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ॥२२॥

इस गढ़े में नित्य गुप्त रीति से रहनेवाले चूहों ने जिनकी जड़ों को चारों ओर से काट डाला है, ऐसे वीरण नामक तिनकों के झुण्ड को पकड़कर तुम उलटे सिर क्यों लटके हुए हो ? ॥ १७ ॥

पितरों ने कहा—हम यायावर नामक तीव्र व्रतधारी ऋषि हैं और हे ब्राह्मण ! सन्तान न होने से हम पृथ्वी पर नीचे गिर जायँगे। जरत्कारु नामक हमारा एक ही पुत्र है, परन्तु हमारे अभाग्य के कारण वह मन्दभाग्य पुत्र भी केवल तप का ही अवलम्बन किये हुए है ॥ १८-१९ ॥

उस मूर्ख को पुत्र उत्पन्न करने के निमित्त विवाह करने की इच्छा ही नहीं है, इस प्रकार अपुत्र होने के कारण हम गड्ढे में लटक रहे हैं ॥ २० ॥

वह हमारा वंशधर है, तो भी हम पापियों के समान अनाथ से होकर गिरे पड़ते हैं। हे सत्तम ! तू कौन है जो बांधव के समान हमारी चिन्ता करता है ? ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन् ! हमारे पास खड़ा हुआ तू कौन है ? हम यह जानना चाहते हैं। हे सत्पुरुष ! शोक करने योग्य हमारी चिन्ता तू क्यों करता है ? ॥ २२ ॥

जरत्कारुरुवाच ।

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥२३॥

पितर ऊचुः ।

यतस्व यत्नवांस्तात सन्तानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ॥२४॥
हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसञ्चितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥२५॥
तद्दारग्रहणे यत्नं संतत्याञ्च मनः कुरु ।
पुत्रकास्मन्नियोगात्त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥२६॥

जरत्कारुरुवाच ।

न दारान्वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थतः ।
भवतान्तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥२७॥

जरत्कारु ने कहा—मेरे पितामहों के सहित तुम मेरे पूर्वपुरुष हो और मैं ही जरत्कारु हूँ, इस कारण कहिए कि अब मुझे आप के निमित्त क्या करना चाहिए ॥ २३ ॥

पितर कहने लगे—तो हे तात ! तू अपने कुल की वृद्धि के लिये उद्योगी होकर परिश्रम कर। हे विभो ! ऐसा करने से तू अपने तथा हमारे लिये धर्मकार्य करनेवाला होगा ॥ २४ ॥

हे तात ! पुत्रवान् पुरुष जिस गति को पाते हैं, उस गति को धर्म के फलों से और उत्तम प्रकार से संग्रह किये हुए तप से मनुष्य नहीं पाते ॥ २५ ॥

इस कारण हे पुत्र ! हमारी आज्ञा से तू विवाह करने का उद्योग कर और पुत्र उत्पन्न करने की बात को अपने मन में रख। इतना करने से ही मानो तू हमारा परम हित कर सकेगा ॥ २६ ॥

जरत्कारु ने कहा—मैं अपने जीवन के सुखभोग के लिये स्त्री वा धन का संग्रह नहीं करूँगा, किन्तु केवल तुम्हारे हित के लिये विवाह कर लूँगा ॥ २७ ॥

समयेन च कर्त्ताहमनेन विधिपूर्वकम् ।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा ह्यहम् ॥२८॥
सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः ।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥२९॥
दरिद्रस्य हि भार्यां को मे दास्यति विशेषतः ।
प्रतिगृहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित् प्रदास्यति ॥३०॥
एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः ।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥३१॥
तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके जरत्कारुचरित्रे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥



अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यदि कोई कन्या मिलेगी तो उसके साथ ही मैं विधिपूर्वक विवाह करूँगा, जिससे मेरी धारणा सफल हो। परन्तु इस प्रकार से यदि कोई कन्या नहीं मिलेगी तो मैं विवाह नहीं करूँगा ॥ २८ ॥

उस कन्या का नाम मेरे नाम पर होगा और उसके कुटुम्बी यदि मुझे भिक्षारूप से उस कन्या को देंगे, तो मैं भी उसके साथ यथाविधि विवाह कर लूँगा ॥ २९ ॥

परन्तु मुझ जैसे दरिद्र को कन्या देगा ही कौन ? तथापि यदि कोई मुझे अपनी कन्या देगा तो मैं उसे भिक्षारूप में ग्रहण कर लूँगा ॥ ३० ॥

हे पितामहो ! इस विधि से विवाह करने का मैं नित्य उद्योग करूँगा, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार कन्या नहीं मिलेगी, तो मैं विवाह का उद्योग नहीं करूँगा ॥३१॥

हे पितरो ! मैं अपने वचन के अनुसार विवाह करने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। आपका उद्धार करने लायक संतान उस स्त्री से उत्पन्न होगी, जिससे आप लोग अविनाशी स्थान को पाकर आनन्द भोगोगे ॥ ३२ ॥

तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥



चौदहवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः ।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ १ ॥
स कदाचिद्वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन् ।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ॥ २ ॥
तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा ।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ॥ ३ ॥
सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि ।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ४ ॥
तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः ।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजङ्गम ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर तीक्ष्ण व्रतधारी वह जरत्कारु मुनि अपने ही नाम की स्त्री को पाने के लिये समस्त भूमण्डल में भ्रमण करने लगा। परन्तु उसको अपनी इच्छानुसार स्त्री कहीं भी नहीं मिली ॥ १ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण एक दिन वन में जाकर पितरों के वचन का स्मरण करके धीमे स्वर से तीन बार कन्या की भिक्षा माँगने लगा ॥ २ ॥

उसके भिक्षा के वाक्य को सुनकर नागराज वासुकि अपनी बहिन को लेकर जरत्कारु के सामने आया और उससे कहा कि आप इस कन्या को ग्रहण कर लीजिये। परन्तु जरत्कारु ने विचारा कि यह कन्या मेरे नाम की नहीं होगी, इस कारण उसको स्वीकार नहीं किया ॥ ३ ॥

क्योंकि महात्मा जरत्कारु प्रतिज्ञा कर चुका था कि यदि मेरे नाम की कन्या मिलेगी और उसके बन्धु बान्धव अपनी इच्छा से भिक्षारूप में उसे देंगे, तब ही मैं विवाह करूँगा। तदनन्तर महातपस्वी परमबुद्धिमान् जरत्कारु ने वासुकि से पूछा कि हे नागराज ! तुम सत्य कहो, तुम्हारी इस बहिन का नाम क्या है ? ॥ ४-५ ॥

वासुकिरुवाच ।

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम ।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम् ।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
एवमुक्त्वा ततः प्रादाद्भार्यार्थं वरवर्णिनीम् ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके जरुत्कारुविवाहे
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥



वासुकि ने कहा—हे जरत्कारु ! इस मेरी छोटी बहिन का नाम जरत्कारु है, यह कृशोदरी कन्या मैं आपको अर्पण करता हूँ। आप इसके साथ विवाह कर लें। हे द्विजोत्तम ! आपको अर्पण करने के लिये ही मैंने पहिले से इस कन्या को रख छोड़ा था। इस कारण आप स्वीकार कर लीजिये ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर वासुकि ने वह सुन्दराङ्गी कन्या जरत्कारु को विवाह के लिये अर्पण कर दी। जरत्कारु ने भी शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार उस जरत्कारु नामवाली कन्या के साथ विवाह कर लिया और गृहस्थाश्रमी बन गया ॥ ७ ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥



पंद्रहवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदांवर ।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ॥ १ ॥
तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः ।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने ॥ २ ॥
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महामनाः ॥ ३ ॥
तपस्वी च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः ।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः ।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ॥ ५ ॥
तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै ।
मोचयामास तान्नागानास्तीकः सुमहातपाः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा ने महर्षि शौनक को संबोधन करके कहा कि हे ब्रह्मज्ञान के पारदर्शी ! पहले सर्पों ने अपनी माता से यह शाप पाया था कि राजा जनमेजय के यज्ञ में अग्नि तुम्हें जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ १ ॥

उस शाप की शान्ति के लिये ही सर्पों में श्रेष्ठ वासुकि ने सदाचारी महात्मा जरत्कारु को अपनी बहिन दी थी ॥ २ ॥

जरत्कारु ने भी विधियुक्त क्रिया से उस कन्या को ग्रहण कर लिया। उस कन्या से उदार मनवाला आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। महात्मा आस्तीक वेद और वेद के अंगों को जाननेवाला, सबको समान दृष्टि से देखनेवाला और माता पिता दोनों के कुलों के भय को दूर करनेवाला था ॥ ३–४ ॥

तदनन्तर बहुत समय बीत जाने पर पाण्डववंश के राजा जनमेजय ने सर्पसत्र नाम का एक बड़ा भारी यज्ञ किया, ऐसा हमने सुना है ॥ ५ ॥

सर्पों का नाश करने के लिये ही आरम्भ हुए उस यज्ञ में से महातपस्वी

भ्रातॄंश्च मातुलांश्चैव तथैवान्यान् स पन्नगान्।
पितॄंश्च तारयामास सन्तत्या तपसा तथा ॥ ७ ॥
व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन् स्वाध्यायैश्चानृणोऽभवत्।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ ८ ॥
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण सन्तत्या च पितामहान्।
अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः ॥ ९ ॥
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः।
आस्तीकञ्च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः ॥१०॥
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमीयिवान्।
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत् कथितं मया।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत्कथयामि ते ॥११॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीको-
त्पत्तौ पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

आस्तीक ने भाई, मामा तथा अन्य सर्पों को बचाया था और सन्तान उत्पन्न करके तथा तप करके अपने पितरों का भी उद्धार किया था ॥ ६–७ ॥

हे ब्रह्मन्! वह नाना प्रकार के व्रत करके तथा स्वाध्याय करके ऋषियों के ऋण से मुक्त हुआ था, तथा उसने अनेक भाँति के दक्षिणावाले यज्ञ करके देवताओं को तृप्त किया था ॥ ८ ॥

इस प्रकार जरत्कारु ने ब्रह्मचर्य का पालन करके ऋषियों को सन्तुष्ट किया और संतान से पितरों को तृप्त किया था। इस रीति से पितरों के बड़े भारी ऋण को उतारकर तथा आस्तीक नामक पुत्र को इस लोक में छोड़कर श्रेष्ठ धर्म का संग्रह करके प्रशंसा के योग्य आचरणवाला जरत्कारु अपने पितामहों सहित कुछ काल में स्वर्ग को सिधार गया। यह आस्तीक की कथा मैंने जिस प्रकार सुनी थी वैसी ही आपको सुनाई है। हे भृगुकुलशार्दूल! कहिए अब मैं आपको कौन सी कथा सुनाऊँ? ॥ ९–११ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥
मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥
अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव ।
आचष्टैतद्यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते ।
यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद्वै पितुर्मया ॥ ४ ॥
पुरा देवयुगे ब्रह्मन् प्रजापतिसुते शुभे ।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ॥ ५ ॥

शौनक ने कहा—हे सूतनन्दन ! तुमने जो विद्वान् सज्जन आस्तीक की कथा सुनाई, इसको ही फिर विस्तार से सुनाओ, क्योंकि इसे सुनने की हमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ १ ॥

हे सौम्य ! तुम मधुर तथा कोमल अक्षरों और पदोंवाली वाणी से कथा कहते हो, इस कारण हे तात ! हम इस कथन से बड़े ही प्रसन्न हुए हैं। तुम अपने पिता के समान ही व्याख्या करते हो ॥ २ ॥

तुम्हारे पिता हमें कथा सुनाने में सदा तत्पर रहते थे, इस कारण तुम्हारे पिता ने यह आख्यान जिस प्रकार कहा हो वैसे ही तुम भी हमें सुनाओ ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे आयुष्मन् ! मैंने यह आस्तीक की कथा पिताजी से जैसी सुनी है, अविकल वैसी ही मैं तुम से कहता हूँ ॥ ४ ॥

हे निर्दोष ब्रह्मन् ! पहले देव (सत्य) युग में दक्ष प्रजापति की कद्रू और विनता नामवाली परमसुन्दरी और गुणवती दो कन्याएँ थीं। वे दोनों बहिन महर्षि कश्यप को विवाही गई थीं। एक समय प्रजापति के समान कश्यपजी ने उन

ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह ।
प्रादात्ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ॥ ६ ॥
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः ।
वरातिसर्गं श्रुत्वैव कश्यपादुत्तमञ्च ते ॥ ७ ॥
हर्षादभ्यधिकां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ ।
वव्रे कद्रूः सुतान्नागान् सहस्रं तुल्यवर्चसः ॥ ८ ॥
द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले ।
तेजसा वपुषा चैव 'विक्रमेणाधिकौ च तौ ॥ ९ ॥
तस्यै भर्त्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम् ।
एवमस्त्विति तां चाह कश्यपो विनतां तदा ॥१०॥
यथावत् प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाऽभवत्तदा ।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ॥११॥

दोनों गुणवती स्त्रियों के ऊपर परम प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देना चाहा। वे दोनों उत्तम स्त्रियाँ यह सुनकर कि कश्यपजी से उत्तम वरदान मिलेगा, परम प्रसन्न हुईं और अतुल आनन्द पाकर उनमें से कद्रू ने कहा कि मेरे एक समान बलवाले एक सहस्र नागपुत्र हों ॥ ५-८ ॥

विनता ने यह माँगा कि बल, तेज, शरीर और पराक्रम में कद्रू के हजार पुत्रों से भी अधिक बली मेरे दो पुत्र हों ॥ ९ ॥

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले भगवान् कश्यप ने विनता को उसकी इच्छानुसार कुल को पवित्र करनेवाले दो पुत्र होने का वरदान उस समय 'तथास्तु' कहकर दिया ॥ १० ॥

तब विनता अपनी प्रार्थना के अनुसार अधिक पराक्रमी दो पुत्रों का वरदान पाकर सन्तुष्ट और कृतकृत्य हुई ॥ ११ ॥

कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम् ।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ।
ते भार्ये वरसन्तुष्टे कश्यपो वनमाविशत् ॥१२॥

सौतिरुवाच ।

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ।
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाण्डे विनता तदा ॥१३॥
तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारिकाः ।
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च ॥१४॥
ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ।
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत ॥१५॥
ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ।
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत ॥१६॥

उधर कद्रू भी समान तेजवाले हजार पुत्र होने का वरदान पाकर बहुत ही प्रसन्न हुई। तपस्वी कश्यपजी, वरदान पाकर परम प्रसन्न हुईं अपनी दोनों स्त्रियों से ऐसा कहकर वन में चले गये कि तुम यत्न से अपने गर्भ की रक्षा करना ॥ १२ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे विप्रेन्द्र ! तदनन्तर कुछ समय बीत जाने पर कद्रू ने एक सहस्र अण्डे और विनता ने दो अण्डे उत्पन्न किये ॥ १३ ॥

फिर उनकी सेविकाओं ने प्रसन्न होकर उनके अण्डों को जुदे जुदे उष्णतायुक्त पात्रों में रख दिया। पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर कद्रू के बच्चे एक सहस्र अंडों को फोड़कर उनमें से बाहर निकले। परन्तु विनता के दोनों अण्डों में से बच्चे निकलते हुए देखने में नहीं आये ॥ १४-१५ ॥

यह देखकर पुत्र की इच्छावाली तपस्विनी विनता लज्जित हुई और उसने एक अंडे को फोड़कर देखा तो ऊपर के आधे भाग में परिपक्व अवयवोंवाला और नीचे के भाग में अपक्व अवयवोंवाला एक पुत्र अंडे में दीख पड़ा। अपने को अपक्व दशा में बाहर निकाल लेने से उस तत्काल जन्मे हुए पुत्र ने क्रोध के आवेश में आकर माता को शाप दिया कि हे मातः ! तूने असमय में मुझे लोभ से

पूर्वार्द्धकायसम्पन्नमितरेणाप्रकाशता ।
स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः ॥१७॥
योऽहमेवं कृते मातस्त्वया लोभपरीतया ।
शरीरेणासमग्रेण तस्माद्दासी भविष्यसि ॥१८॥
पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्द्धसे सह ।
एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति ॥१९॥
यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ।
न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वापि यशस्विनम् ॥२०॥
प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ।
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात्परः ॥२१॥
एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ।
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन् प्रभातसमये सदा ॥२२॥
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ।
गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः ॥२३॥

बाहर निकालकर मेरे शरीर को अधूरा रहने दिया। इस कारण तू जिस स्त्री के साथ सौतिया डाह करती है, पाँच सौ वर्ष तक तुझे उस स्त्री की दासी बनकर रहना पड़ेगा। परन्तु हे मातः! तूने जैसे अण्डे को फोड़कर मुझे अंगहीन कर दिया है, ऐसे ही इस दूसरे तपस्वी पुत्र को अण्डा फोड़कर अंगहीन वा अपूर्ण अङ्गवाला नहीं करेगी, तो यह पुत्र तुझे दासीभाव से छुड़ा देगा ॥ १६-२० ॥

यदि तुझे अधिक बलवान् पुत्र की इच्छा हो तो धीरज रखकर पाँच सौ वर्ष पर्यंत प्रतीक्षा कर। पाँच सौ वर्ष बीतने पर उसका जन्म होगा, तब ही तू शाप से छूटेगी ॥ २१ ॥

इस प्रकार विनता को शाप देकर उसका पुत्र आकाश में चढ़ गया। हे ब्रह्मन्! वह सूर्य के रथ के ऊपर बैठकर सूर्य का सारथीपना करने लगा, जो कि प्रातःकाल अरुण रूप से अब भी नित्य दर्शन देता है। पाँच सौ वर्ष पूरे होने पर दूसरे अण्डे में से सर्पों का भोजन करनेवाले गरुड़जी उत्पन्न हुए ॥ २२-२३ ॥

स जातमात्रो विनतां परिस्त्यज्य खमाविशत् ।
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पन्नगेश्वरः ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

हे भृगुशार्दूल ! विनता के पुत्र और सकल पक्षियों के राजा गरुडजी जन्म होते ही अपनी माता को त्यागकर भूख लगने के कारण विधाता द्वारा अपने लिये नियत अन्न को लेने के लिये आकाश में उड़ गये ॥ २४ ॥

सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥



सत्रहवाँ अध्याय

सूत उवाच ।

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायातमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥
यन्तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जगतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ ३ ॥

शौनक उवाच ।

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे ।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे तपोधन ! तदनन्तर एक समय वे दोनों बहनें इकट्ठी खड़ी थीं, वहाँ उन्होंने अपने समीप आते हुए उच्चैःश्रवा नामक एक दिव्य घोड़े को देखा ॥ १ ॥

वह संसार भर के घोड़ों में उत्तम, बड़ा बलवान्, शोभायमान, सदा तरुण, दिव्य और सकल श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त था। समुद्र को मथते समय उसमें से वह एक रत्नरूप में निकला था और सब देवता उस रूपवान् घोड़े की पूजा करते थे ॥ २ ॥

शौनक ने पूछा कि देवताओं ने किस प्रकार और किस स्थान पर समुद्र को मथकर अमृत निकाला था ? जिसमें से परमकान्तिमान् और महाशरीरवाला यह अश्वराज उत्पन्न हुआ ? इस कथा को कहिये ॥ ३-४ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—सुवर्ण के समान दमकते हुए अपने शिखरों से सूर्य की कान्ति का तिरस्कार करनेवाला, मानो सुवर्ण के आभूषण पहिने हो ऐसा एक महान्

कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥ ६ ॥
व्यालैरावारितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम् ।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥ ७ ॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम् ।
नानापतगसंघैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥ ८ ॥
तस्य शृङ्गमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम् ।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ ९ ॥
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः ।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः ॥१०॥
तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ॥११॥
देवैरसुरसंघैश्च मथ्यतां कलशोदधिः ।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ॥१२॥

मेरु पर्वत है। वह बड़ा आश्चर्यप्रद, देवता और गन्धर्वों से सेवित, असीम लंबा चौडा, अधर्मी मनुष्यों से न दीखने योग्य, भयानक सर्पों से भरा, दिव्य औषधियों से दमकता हुआ, ऊँचाई से स्वर्गलोक को घेरे हुए, दूसरों को मन से भी अगम्य, नदी और वृक्षों से परिपूर्ण, मनोहर नाना प्रकार के पक्षियों की ध्वनि से गुञ्जरित होता हुआ और तेज के समूह के समान है ॥ ५–८ ॥

अनेकों रत्नों से भरपूर और आकाश से कुछ ही कम ऊँचे उस पर्वत के शिखर पर चढ़कर तपस्वी और नियम से रहनेवाले परम बुद्धिमान् देवता इकट्ठे हो अमृत पाने के लिये विचार करने लगे ॥ ९–१० ॥

जब सब देवता विचार कर रहे थे, उस समय भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी से कहा कि तुम सुर और असुरों को साथ लेकर अमृत के लिये समुद्र का मन्थन करो, मथने पर उसमें से अमृत उत्पन्न होगा ॥ ११–१२ ॥

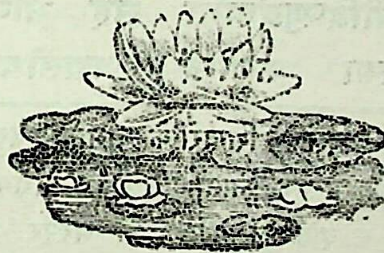
सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह ।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ॥१३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके अमृतमन्थने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥



हे देवताओ ! समुद्र को मथने पर उसमें से सब ओषधियाँ और रत्न मिलेंगे और उसके बाद फिर समुद्र मथने पर अमृत निकलेगा ॥ १३ ॥

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥



अठारहवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम् ॥ १ ॥
नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ॥ २ ॥
एकादशसहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधोभूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥
भवन्तावत्र कुर्वातां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियताञ्च हिताय नः ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच ।

तथेति चाब्रवीद्विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—बादलों के शिखरों के समान श्वेत शिखरों से शोभायमान, अनेकों लताजालों से भरपूर, नाना प्रकार के पक्षियों के मधुर स्वरों से गुञ्जरित, अनेकों प्रकार के दाढवाले पशुओं से भरपूर, किन्नर अप्सरा और देवताओं से सेवित, ग्यारह सहस्र योजन ऊँचा और उतना ही नीचे भूमि में गडा हुआ, पर्वतों में श्रेष्ठ मन्दर नाम का एक पर्वत है ॥ १–३ ॥

उसको सब देवता उखाड़ने लगे, परन्तु वह उखड़ नहीं सका। तब जहाँ विष्णु और ब्रह्माजी बैठे थे वहाँ जाकर देवता कहने लगे—॥ ४ ॥

हे प्रभो, आप दोनों इस कार्य में कल्याणकारिणी जो युक्ति हो उसको बताइये और हमारे हित के लिये मन्दराचल को उखाड़ने में सहायक होइये ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे शौनक! तदनन्तर ब्रह्माजी के पास बैठे हुए, कमल के समान नेत्रोंवाले, जिनके स्वरूप की तर्कना नहीं हो सकती ऐसे भगवान् विष्णु

ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन् कर्मणि वीर्यवान् ॥ ७॥
अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः।
उज्जहार बलाद् ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम् ॥ ८॥
ततस्तेन सुराः सार्द्धं समुद्रमुपतस्थिरे।
तमूचुरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ९॥
अपाम्पतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत्ततः।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥१०॥
ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति ॥ ११ ॥
कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम्।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं यन्त्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥ १२ ॥

ने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओं का काम बनाने के लिये सर्पों के राजा शेषजी को मन्दराचल उखाड़ने की प्रेरणा की। नारायण तथा ब्रह्माजी की प्रेरणा होने पर महाबली अनन्त भगवान् (शेष) उस काम के करने को तत्पर हुए और हे ब्रह्मन्! वन तथा वनवासियों सहित उस पर्वतराज को अपने बल से उखाड़ दिया ॥ ६–८ ॥

तदनन्तर शेषजी देवताओं के साथ समुद्र के तटपर आये। उस समय देवताओं ने समुद्र से कहा कि हे सागर! हम अमृत की प्राप्ति के लिये तुम्हारे जल को मथना चाहते हैं ॥ ९ ॥

समुद्र ने उत्तर दिया कि अच्छा मथ लो, परन्तु उसमें से मुझे भी भाग मिलना चाहिये, क्योंकि मन्दराचल के भ्रमण से मुझे बड़ा दुःख सहना पड़ेगा ॥ १० ॥

फिर देवता और दैत्य, समुद्र के गर्भ में जहाँ कूर्मराज थे वहाँ गये और उनसे कहने लगे कि हे कूर्मराज! तुम्हें अपनी पीठ पर इस पर्वत को धारण करना पड़ेगा। कूर्मराज ने बहुत अच्छा कहकर स्वीकार कर लिया और अपनी पीठ अर्पण की। तब इन्द्र ने मन्त्र पढ़कर मन्दराचल को कूर्मराज की पीठ पर रख दिया ॥ ११–१२ ॥

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रञ्च वासुकिम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ १३ ॥
अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ॥ १४ ॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ।
अनन्तो भगवान्देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १५ ॥
वासुकेरथ नागस्य सहसाक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् १६ ॥
ते धूमसंघाः संभूता मेघसङ्घाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन् सुरगणान् श्रमसंतापकर्षितान् ॥ १७ ॥
तस्माच्च गिरिकूटाग्रात् प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान् सर्वान् समन्तात्समवाकिरन् ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! तदनन्तर मन्दराचल को मथानी और वासुकि को रस्सी बनाकर देवता और दैत्य अमृत के लिये समुद्र को मथने लगे। उस समय असुरों ने मिलकर वासुकि के फन को और देवताओं ने पूँछ को पकड़ा था, भगवान् नारायण नाग का विष बार बार माथा ऊँचा करके पृथ्वी पर डालते जाते थे, अर्थात् उस के मुख में से झरते हुए विष को सहन करते थे ॥ १३–१५ ॥

देवता वासुकि नाग को एक साथ ऐसे जोर से खींचने लगे कि उसके मुख में से धुआँ और अग्नि की चिनगारियों सहित श्वासवायु बारंबार निकलने लगा ॥ १६ ॥

उस धूएँ का समूह बिजली सहित मेघ बनकर मथने के परिश्रम से व्याकुल हुए देवताओं की थकावट दूर करने के लिये उनके ऊपर बरसने लगा ॥ १७ ॥

दूसरी ओर मन्दराचल के शिखरों के वृक्षों में से देवता और दानवों के ऊपर चारों ओर से पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥ १८ ॥

तथा चात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥१९॥
तत्र नानाजलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥२०॥
वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥२१॥
तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ सङ्घृष्यन्तः परस्परम् ।
न्यपतन् पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥२२॥
तेषां सङ्घर्षजश्चाग्निरर्चिभिः प्रज्वलन्मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥२३॥
ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ॥२४॥

इस प्रकार देवता और असुर मन्दराचल से समुद्र को मथने लगे, उस समय मथे जाते हुए समुद्र में से घोर घनघटा के गम्भीर गर्जन के समान बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥ १९ ॥

मन्दराचल के घूमने से समुद्र में रहनेवाले नाना प्रकार के सहस्रों जन्तु पिसकर मर गये ॥ २० ॥

वरुणलोक तथा पाताल में रहनेवाले अनेकों प्राणियों को भी मन्दराचल ने कुचलकर चूर चूर कर डाला ॥ २१ ॥

वह पर्वत जिस समय समुद्र में घूमता था उस समय उसके ऊपर के वृक्ष आपस में टकराते हुए जड़ से उखड़ उखड़कर पक्षियों सहित समुद्र में गिरते थे ॥ २२ ॥

कितने ही वृक्षों की आपस की रगड़ से वारंवार लपटों के साथ अग्नि प्रज्वलित हो जाता था और जैसे बिजली मेघ की श्यामघटा को छा लेती है वैसे ही मन्दराचल को छा लेता था ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मणो ! प्रज्वलित हुआ वह अग्नि उस पर्वत में से बाहर निकले हुए सिंह, हाथी तथा अन्य प्राणरहित सकल जन्तुओं को भस्म किये डालता था ॥ २४ ॥

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ॥२५॥
ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥२६॥
तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निस्रवात् ॥२७॥
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रञ्च ततः क्षीरादभूद्घृतम् ॥२८॥
ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन्नोद्भवत्यमृतञ्च तत् ॥२९॥
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।
चिरारब्धमिदञ्चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥३०॥

तदनन्तर देवताओं के राजा इन्द्र ने जलवर्षा कर चारों ओर प्रज्वलित हुए अग्नि को शान्त कर दिया, तब जले हुए बड़े बड़े वृक्षों के गोंद और ओषधियों के रस निकलकर सागर में बहने लगे ॥ २५–२६ ॥

तदनन्तर हे ब्राह्मणो ! इन ओषधियों के अमृतमय बीजवाले रसों से मिला हुआ जो जल सुवर्णमय पर्वत में से बहने लगा, उस सुनहरी जल से देवता प्रसन्न हो गये ॥ २७ ॥

तदनन्तर ऊपर कही हुई अमृतमय वीर्यवाली ओषधियों का जल और सुवर्णमय पर्वत का जल सागर के जल में मिल गया, जिससे सागर का खारी जल दूध के समान हो गया और श्रेष्ठ रसों के साथ मिले हुए उस दूध से घी उत्पन्न हुआ, परन्तु अमृत देखने में नहीं आया ॥ २८ ॥

तब वर देनेवाले ब्रह्माजी के पास जाकर देवताओं ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! हम समुद्र को मथते मथते थक गये, तो भी अभी तक अमृत उत्पन्न नहीं हुआ ॥ २९ ॥

नारायण देव के बिना अब देवता और दानवों में से कोई भी बहुत समय से आरम्भ हुए समुद्रमन्थन की शक्ति नहीं रखता, अर्थात् अब एक नारायण ही उपाय हैं ॥ ३० ॥

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥३१॥
विष्णुरुवाच ।
बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद्ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥३२॥
सूत उवाच ।
नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥३३॥
ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥३४॥
श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डरवासिनी ।
सुरा देवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डरस्तथा ॥३५॥
कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसम्भवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान्नारायणउरोगतः ॥३६॥

तदनन्तर ब्रह्माजी ने नारायण के पास जाकर कहा कि हे विष्णो ! इस काम में देवताओं को आपका ही सहारा है, इस कारण आप इनको समुद्र मन्थन का बल दीजिये ॥ ३१ ॥

विष्णु भगवान् ने कहा—यदि तुम इस काम का आरम्भ कर ही बैठे हो, तो ऐसे तुम सबों को मैं बल देता हूँ। तुम सब मन्दराचल को घुमाकर समुद्र मथो ॥ ३२ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्राह्मणो ! नारायण का कथन सुनते ही बल को प्राप्त हुए देवता और दानव इकट्ठे होकर पहले से भी अधिक बल लगाकर सागर के जल को मथने लगे। इस प्रकार मथे जाते हुए सागर में से सहस्रों ठण्डी और स्वच्छ किरणोंवाला प्रसन्नात्मा (१) चन्द्रमा उत्पन्न हुआ ॥ ३३-३४ ॥

फिर समुद्र को मथने पर घृत में से श्वेत वस्त्रधारिणी (२) लक्ष्मी देवी, (३) सुरा अर्थात् मदिरा और (४) श्वेत घोड़ा उच्चैःश्रवा उत्पन्न हुआ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर सागर के घृत में से श्री नारायण के वक्षस्थल में शोभा पानेवाली, किरणों से चमकती हुई दिव्य (५) कौस्तुभमणि उत्पन्न हुई ॥ ३६ ॥

पारिजातस्तु तत्रैव सुरभिस्तु महामुने ।
अजायत तदा ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदे ॥३७॥
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥३८॥
धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥३९॥
एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥४०॥
श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम् ।
ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥४१॥
अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्तथा परः ।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥४२॥
त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥४३॥

हे ब्रह्मन् महामुने ! उसमें से ही सकल मनचाही कामनाओं को पूरी करनेवाले पारिजात और कामधेनु उत्पन्न हुए ॥ ३७ ॥

लक्ष्मी, सुरा, चन्द्रमा और मन के समान वेगवाला उच्चैःश्रवा घोड़ा ऊपर आकाश में जहाँ देवता रहते थे उस लोक की ओर चले गए ॥ ३८ ॥

फिर अमृत से भरा हुआ श्वेत कमण्डलु हाथ में लिये हुए देवशरीरधारी (६) धन्वन्तरि समुद्र में से निकले ॥ ३९ ॥

इन अति अद्भुत रूपधारी धन्वन्तरि को देखते ही बड़े आश्चर्य से अमृत के लिये कोलाहल करते हुए दानवों ने कहा कि यह हमारा है ॥ ४० ॥

तदनन्तर बड़े भारी शरीर और चार श्वेत दाँतोंवाला (७) ऐरावत गजराज निकला, जिसको वज्रधारी इन्द्र ने ले लिया ॥ ४१ ॥

फिर भी सब बड़े वेग से सागर को मथते ही रहे, तब उसमें से (८) कालकूट महाविष उत्पन्न हुआ, धूएँ सहित अग्नि के समान जलते हुए उस विष ने त्रिलोकी भर को बेहोश व्याकुल कर डाला ॥ ४२-४३ ॥

दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्त्तिर्महेश्वरः।
तदा प्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ॥४४॥
एतत्तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमास्थिताः ॥४५॥
ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥४६॥
ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीकेऽमृतमन्थने
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

जिसकी गन्ध को सूँघते ही त्रिलोकी के प्राणी मूर्छित हो गए; उस विष को ब्रह्माजी की विनय से त्रिलोकी की रक्षा के अर्थ शिवजी ने पी लिया और मन्त्रमूर्ति भगवान् महेश्वर ने उसको पीकर अपने कण्ठ में ही धारण कर लिया। सुना जाता है कि महादेवजी उस समय से ही नीलकण्ठ कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

इस सब व्यापार को देखकर दानव निराश होकर अमृत तथा लक्ष्मी के निमित्त देवताओं के साथ बड़ा भारी विग्रह करने लगे ॥ ४५ ॥

अनन्तर भगवान् नारायण ने मायामय मोहिनीरूप को धारण किया और वे उस आश्चर्यमय स्त्रीरूप को धारण करके दानवों के पास गए ॥ ४६ ॥

मोहिनी को देखते ही दानव उन पर मोहित हो गये। तब उन सब मूढ़ दैत्य दानवों ने अमृतपात्र मोहिनी के हाथ में दे दिया ॥ ४७ ॥

अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच।

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च।
प्रगृह्याभ्याद्रवन् देवान् सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥
ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान्।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा।
विष्णोः सकाशात् संप्राप्य संभ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥
ततः पिबत्सु तत्काले देवेष्वमृतमीप्सितम्।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत्तदा ॥ ४ ॥
तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—इसके अनन्तर दैत्य और दानव दृढ़ कवच और नाना प्रकार के शस्त्र धारण करके एक साथ देवताओं के साथ युद्ध करने को दौड़े ॥ १ ॥

इतने में ही नर के सहित पराक्रमी भगवान् विष्णु ने वह अमृत का पात्र दानवों से छीनकर अपने हाथ में ले लिया ॥ २ ॥

इस समय घोर संग्राम चल रहा था, यह अवसर देखकर देवताओं ने वह अमृत भगवान् विष्णु से लेकर पी लिया ॥ ३ ॥

जिस समय देवता अपने इच्छित अमृत को पी रहे थे, उस समय राहु नामक दैत्य भी देवरूप धारण कर उनमें मिलकर अमृत पीने लगा ॥ ४ ॥

वह अमृत अभी उस राहु के कण्ठ पर्यन्त ही पहुँचा था कि इतने में चन्द्रमा और सूर्य ने उसको पहिचानकर देवताओं का हित करने की इच्छा से यह बात उनको बता दी ॥ ५ ॥

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥
तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयङ्करम् ॥ ७ ॥
तत्कबन्धं पपातास्य विस्फुरद्धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याकम्पयन् महीम् ॥ ८ ॥
ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ॥ ९ ॥
विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान् समकम्पयत् ॥१०॥
ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणाञ्च सर्वघोरतरो महान् ॥११॥

तत्काल ही भगवान् नारायण ने शीघ्रता के साथ अमृत पीते हुए उस राहु का आभूषणों सहित मस्तक चक्र मारकर काट डाला ॥ ६ ॥

पर्वतशिखर के समान राहु का बड़ा भारी सिर भगवान् के चक्र से कटते ही आकाश में उड़ गया और वहाँ महाघोर शब्द करने लगा ॥ ७ ॥

तदनन्तर राहु का वह प्रकाशवान् धड़ पहाड़, वन और द्वीपों सहित पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ भूतल पर आ गिरा ॥ ८ ॥

उस समय से मुखरूप राहु ने चन्द्रमा और सूर्य के साथ चिरकाल के लिये वैरभाव बाँध लिया, इस कारण अब भी राहु चन्द्रमा और सूर्य को ग्रसता है (पीड़ा देता है) ॥ ९ ॥

भगवान् श्री हरि भी परमसुन्दर मोहिनी रूप को त्यागकर नाना प्रकार के भयानक शस्त्रों से दानवों को कंपायमान करने लगे ॥ १० ॥

तदनन्तर लवणसागर के तटपर देवता और दैत्यों का बहुत ही घोर संग्राम होने लगा ॥ ११ ॥

प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥१२॥
ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥१३॥
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकाञ्चनचित्राणि निपेतुरनिशं तदा ॥१४॥
रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥१५॥
हाहाकारः समभवत्तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥१६॥
परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः सन्निकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥१७॥

सहस्रों भाले, तीखी नोकवाली बड़ी बड़ी बरछियाँ, तोमर और नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र चल रहे थे ॥ १२ ॥

तलवार, शक्ति तथा गदाओं से कटते हुए असुर मुखों से रुधिर उगलते हुए टपाटप भूतल पर गिर रहे थे ॥ १३ ॥

उस समय दमकती हुई सुवर्ण की मालाओंवाले असुरों के मस्तक युद्ध में दुधारी तलवारों से कटते हुए रणभूमि में गिरने लगे ॥ १४ ॥

धातुओं के कारण लाल लाल दीखनेवाले, पर्वतशिखरों के समान रुधिर से सने हुए महाअसुरों के धड़ पृथ्वी पर गिर रहे थे। सहस्रों शस्त्रों से आपस में कटकर मरते हुए देवता और दानवों का बड़ा हाहाकार हो रहा था। इतना ही नहीं, सूर्य भी लाल लाल दीखने लगा था ॥ १५-१६ ॥

दूरघाती, तीक्ष्ण और लम्बे भालों से तथा समीप में मुष्टियों के प्रहारों से वे एक दूसरे के साथ युद्ध में भिड़ गए। उस समय उनका भयानक शब्द गगनमण्डल में गूँजने लगा ॥ १७ ॥

छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाभिसरेति च।
अश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥१८॥
एवं सुतुमुले युद्धे वर्त्तमाने महाभये।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥१९॥
तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥२०॥
ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं महाप्रभं चक्रममित्रतापनम्।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम् ॥२१॥
तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं भयङ्करं करिकरबाहुरच्युतः।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्महाप्रभं परनगरविदारणम् ॥२२॥
तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा।
विदारयद्दितिदनुजान् सहस्रशः करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥२३॥

'मारो, काटो, दौड़ो, गिराओ और आगे बढ़ो' ऐसे भयानक शब्द चारों ओर से सुनाई देने लगे ॥ १८ ॥

जिस समय ऐसा महाभयानक तुमुल युद्ध हो रहा था, उस समय नर और नारायण रणभूमि में आये ॥ १९ ॥

नर के हाथ में दिव्य धनुष देखकर भगवान् विष्णु ने भी दानवों का नाश करनेवाले अपने चक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही परम कान्तिमान्, शत्रुओं का संतापदायक, सूर्य के समान तेजस्वी, अखण्ड मण्डलवाला, युद्ध में भयानक है दर्शन जिसका, ऐसा सुदर्शन नामक चक्र संग्राम में आ पहुँचा ॥२०–२१॥

जिस समय जलते हुए अग्नि के समान प्रभाववाला भयानक चक्र आया, उसी समय हाथी की सूँड़ के समान बाहुवाले अच्युत भगवान् ने प्रबल पुरुष की तरह बड़े वेग से उसको हाथ में ले लिया और शत्रुओं के नगरों का नाश करने में समर्थ उस अतुल प्रभावशाली सुदर्शन चक्र को शत्रुओं के ऊपर छोड़ा ॥ २२ ॥

कालाग्नि के समान दमकता हुआ वह चक्र पुरुषोत्तम नारायण ने युद्ध

दहत् क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्
प्रसह्य तानसुरगणान्न्यकृन्तत ।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा
पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥२४॥

तथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा ।
महाबला विगलितमेघवर्चसः सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ॥२५॥

अथाम्बराद्भयजननाः प्रपेदिरे सपादपा बहुविधमेघरूपिणः ।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥२६॥

ततो मही प्रविचलिता सकानना महाद्रिपाताभिहता समन्ततः ।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू रणाजिरे भृशमभिसम्प्रवर्त्तिते ॥२७॥

में ज्यों ही छोड़ा कि वेग से दौड़ता हुआ वारंवार सहस्रों दैत्य और दानवों के ऊपर पड़कर वह उनका संहार करने लगा ॥ २३ ॥

असुरों के ऊपर छोड़ा हुआ वह चक्र किसी समय अग्नि की तरह प्रज्वलित होकर पृथ्वी पर असुरों को भस्म कर डालता था, और कभी आकाश में उड़कर बलपूर्वक दैत्य दानवों के समूहों को भस्म कर डालता था। इस प्रकार वारंवार रणभूमि में घूम घूमकर वह पिशाच के समान उनके रुधिर को पीता था ॥ २४ ॥

उधर झुके हुए मेघमण्डलों के समान वर्णवाले, उत्साही, महाबली, सहस्रों दानव आकाश में ऊपर चढ़कर वारंवार पर्वतों को गिराते हुए देवताओं को कुचलने लगे ॥ २५ ॥

वृक्षों से भरपूर, विचित्र वर्ण के मेघों की तरह अनेकों स्वरूपवाले, जिनके अगले शिखर नीचे गिरते थे ऐसे बड़े बड़े पर्वत आकाश से गिरते हुए परस्पर टकराकर भयानक शब्द करते और बड़ा भय देते थे ॥ २६ ॥

निरन्तर चलते हुए इस युद्ध के रणाङ्गण में शूरवीर योधा परस्पर घोर गर्जना करते थे, चारों ओर से पर्वतों की वर्षा करते थे। इस तरह चारों ओर से प्रहार होने के कारण वनों सहित पृथ्वी भी काँप उठी ॥ २७ ॥

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणै-
र्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत् ।
विदारयन् गिरिशिखराणि पत्रिभि-
र्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥२८॥
ततो महीं लवणजलञ्च सागरं
महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं
सुदर्शनं परिकुपितं निशम्य ते ॥२९॥
ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः
स्वमेव देशं गमितः सुरपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वश-
स्ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥३०॥

उस समय भगवान् नर ने असुरसमूह के महाभयंकर संग्राम में आकर सुवर्णपंखोंवाले बाणों से पर्वत शिखरों के टुकड़े टुकड़े कर डाले और उन बाणों से गगनमण्डल को छा दिया ॥ २८ ॥

प्रज्वलित अग्नि के समान कान्तिमान्, कोप से भरे सुदर्शन चक्र को आकाश में मँडराते हुए देखकर भयग्रस्त हुए असुरगण कोई पृथ्वी की दरारों में और कोई सागर के जल में जा छिपे ॥ २९ ॥

तदनन्तर देवता विजय पाकर योग्य आदर सत्कार तथा संमानपूर्वक मन्दराचल को उसके मूल स्थान पर फिर रख आये। तदनन्तर देवताओं ने अमृत पाकर हर्ष की ध्वनि से स्वर्ग और गगनमण्डल को गुँजा दिया और जैसे आये थे वैसे ही अपने स्थान को लौट गए ॥ ३० ॥

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे
सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिमनृतस्य रक्षितुं
किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णेऽमृतमन्थने
एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

स्वर्ग में पहुँचकर देवता अपार आनन्द को प्राप्त हुए और अमृत का पात्र इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने मिलकर नर भगवान् को सौंप दिया। उन्होंने उस अमृत को बहुत ही रक्षा में रक्खा ॥ ३१ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥



बीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एतत्ते कथितं सर्वममृतं मथितं तथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥
यं निशम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किंवर्णो भद्रे प्रब्रूहि मा चिरम् ॥ २ ॥

विनतोवाच ।

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच ।

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा ने कहा कि हे ऋषिवर ! इस प्रकार सागर में से अमृत किस प्रकार मथकर निकाला गया तथा अतुलपराक्रमी श्रीमान् उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा भी किस प्रकार उत्पन्न हुआ; यह सब समाचार मैंने आपसे कहा ॥ १ ॥

जिस उच्चैःश्रवा घोड़े को देखकर कद्रू ने विनता से पूछा कि हे बहिन ! इस उच्चैःश्रवा घोड़े का रङ्ग कैसा है, शीघ्र बता ? ॥ २ ॥

विनता ने कहा कि उच्चैःश्रवा श्वेत वर्ण का है, हे कल्याणि, तू इसको कैसे रंग का समझती है ? तू भी तो इसका रंग बता । आओ हम तुम इसके रंग के विषय में पण (शर्त) करें ॥ ३ ॥

कद्रू ने कहा कि हे पवित्र हास्यवाली विनता ! मुझे प्रतीत होता है, इस घोड़े की पूँछ के बाल काले हैं । हे भामिनी ! आओ इस विषय में मेरे साथ पण करो; हम में से जिसका अनुमान झूठा हो वह दूसरी की दासी होकर रहे ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥
ततः पुत्रसहस्रन्तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती ।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा ।
नावपद्यन्त ये वाक्यं तान् शशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥
सर्पसत्रे वर्त्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति ।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥
शापमेनन्तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः ।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥
सार्द्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत ।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥१०॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार जो हारे वह दासी हो, उन दोनों ने ऐसी परस्पर प्रतिज्ञा करके दूसरे दिन इस घोड़े को देखकर निश्चय करना ठहराया, और वे दोनों बहनें अपने अपने घर को चली गईं ॥ ५ ॥

तदनन्तर कपट करने की इच्छा से कद्रू ने अपने सहस्र पुत्रों को आज्ञा दी कि तुम काजल के समान काले रङ्ग के बाल बनकर शीघ्र ही घोड़े की पूँछ में जाकर लिपट जाओ, जिससे मुझे विनता की दासी न बनना पड़े। परन्तु उन सर्पों में से जिन्होंने उसका कहना नहीं माना उन सबको कद्रू ने यह शाप दिया—॥ ६-७ ॥

पांडववंश के बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजय के आगे चलकर होनेवाले सर्पयज्ञ में तुम्हें अग्नि भस्म कर डालेगा ॥ ८ ॥

कद्रू ने दैवयोग से ऐसा क्रूर शाप अपने पुत्रों को दिया, इस शाप को भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं सुना ॥ ९ ॥

तदनन्तर प्रजा का हित करने की इच्छा से ब्रह्माजी ने सर्पों की प्रजा की

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः ।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानाञ्च हिताय च ॥११॥
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम् ।
अन्येषामपि सत्त्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये ॥१२॥
तेषां प्राणान्तको दण्डो दैवेन विनिपात्यते ।
एवं सम्भाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूञ्च तां तदा ॥१३॥
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत् ।
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयानघ ॥१४॥
विषोल्वणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप ।
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्त्तव्यः कथञ्चन ॥१५॥

अधिकता देखकर सकल देवताओं सहित उस कद्रू के शापवचन का अनुमोदन किया ॥ १० ॥

वे कहने लगे कि ये सर्प बड़े ही विषैले और महाबलवान् हो गए हैं, इनका विष बड़ा तीखा है और ये दूसरों को दुःख देने के लिये नित्य ही प्रयत्न किया करते हैं। इस कारण इनकी माता ने प्रजा के हित के लिये ही इनको शाप दिया है सो ठीक ही काम किया है। जो नित्य दूसरे प्राणियों का निष्कारण अहित करते हैं, उनको दैव ही प्राणान्त दण्ड देता है। इस प्रकार परस्पर बातचीत करके ब्रह्माजी ने कद्रू की प्रशंसा की और उसी समय कश्यपजी को बुलाकर कहा कि हे दोषरहित परन्तप मुने! यह जो बड़े विषैले शरीरधारी और काटने के स्वभाववाले सर्प आप से उत्पन्न हुए हैं, इनको इनकी माता ने शाप दिया है। हे तात! आपको उस पर कुछ क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११-१५ ॥

दृष्टं पुरातनं ह्येतद्यज्ञे सर्पविनाशनम् ।
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद् देवस्तं प्रसाद्य प्रजापतिम् ।
प्रादाद्विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे कद्रूशापे
विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥



क्योंकि यज्ञ में सर्पों का नाश होगा यह प्रसङ्ग पुराणों में आप ने पढ़ा ही है। ऐसा कहकर सृष्टि के कर्त्ता ब्रह्माजी ने प्रजापति महात्मा कश्यप को प्रसन्न होकर विष उतारने की विद्या सिखा दी ॥ १६ ॥

बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २० ॥



इक्कीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच।

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥
ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम्।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ॥ ३ ॥
तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ॥ ४ ॥
भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं — कद्रू और विनता ने इस प्रकार परस्पर दासी होने की प्रतिज्ञा (शर्त्त) कर उसके लिये अत्यन्त क्रोध और आवेश में भरकर वह रात बितायी। दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होते ही वे दोनों, जो कि बहुत दूर नहीं था ऐसे उच्चैःश्रवा घोड़े को देखने की इच्छा से चल दीं ॥ १-२ ॥

मार्ग में जाते हुए उन्होंने अपार जल से भरपूर हिलोरें लेते हुए और बड़ी गर्जना करते हुए महासागर को देखा ॥ ३ ॥

जो सागर बड़े बड़े मच्छ, साधारण मच्छ, मगरमच्छ तथा अनेकों प्रकार के सहस्रों प्राणियों से भरा हुआ था ॥ ४ ॥

तथा अन्य कितने ही भयानक, चित्रविचित्र, घोर और उग्र जलचरों के कारण किसी समय कोई उसके समीप में न जा सके ऐसा तथा कछुओं और नाकों से भरा हुआ था ॥ ५ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ६ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणाञ्च बान्धवम्।
भयङ्करञ्च सत्त्वानां पयसां निधिमव्ययम् ॥ ७ ॥
शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम्।
अप्रमेयमचिन्त्यञ्च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ८ ॥
घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिःस्वनम्।
गम्भीरावर्त्तकलिलं सर्वभूतभयङ्करम् ॥ ९ ॥
वेलान्दोलानिलबलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम्।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥१०॥
चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम्।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥११॥

वह सकल रत्नों की खानरूप, वरुण का भवन, नागों का उत्तम और रमणीय निवासस्थान तथा नदियों का पति था ॥ ६ ॥

वडवानल अग्नि का निवास स्थान, असुरों का शरणरूप, प्राणियों को बड़ा भय देनेवाला और जल का एक निधि (खजाना) था ॥ ७ ॥

शुभ, दिव्य और देवताओं के अमृत का उत्पत्तिस्थान, अप्रमेय, अचिंतनीय और पवित्र जल से भरा हुआ था, उसके देखने पर आश्चर्य होता था ॥ ८ ॥

भयानक दीखनेवाला, जलचरों के शब्दों से भय उत्पन्न करनेवाला, घोर गर्जना करनेवाला, गम्भीर भँवरों से भयंकर और प्राणिमात्र को भयदायक था ॥ ९ ॥

किनारे से टकराकर उत्पन्न हुए पवन से चलायमान क्षोभ और उद्वेग से ऊपर को उछलता तथा तरङ्गरूपी हाथों को हिलाकर मानो चारों ओर को नृत्य कर रहा था ॥ १० ॥

चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय के कारण ऊपर को उछलनेवाली तरङ्गों के हिलोरे लेता हुआ, पाञ्चजन्य शङ्ख को उत्पन्न करनेवाला और रत्नों की बड़ी भारी खानरूप था ॥ ११ ॥

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥१२॥
ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमत्रिणा ।
अनासादितगाधश्च पातालतलमव्ययम् ॥१३॥
अध्यात्मयोगनिद्राञ्च पद्मनाभस्य सेवतः ।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥१४॥
वज्रपातनसन्त्रस्तमैनाकस्याभयप्रदम् ।
डिम्बाहवार्दितानाञ्च असुराणां परायणम् ॥१५॥
बडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥१६॥
महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्द्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ॥१७॥

परम तेजस्वी भगवान् ने वराहावतार में पृथ्वी को अधर उठाकर उसके भीतर के जल को हिलाया था इसी कारण वह अभी तक हिलोरें ले रहा था ॥ १२ ॥

उसके तल को व्रतधारी ब्रह्मर्षि अत्रि ऋषि ने सौ वर्ष पर्यन्त खोजा था, तो भी गहराई हाथ नहीं आई, ऐसा अगाध और अविनाशी उसका पाताल तल है ॥ १३ ॥

तथा युग के आदि और अन्त में अध्यात्मविद्या से योगनिद्रा लेनेवाले पद्मनाभ विष्णु भगवान् का वह शयनस्थानरूप था ॥ १४ ॥

वज्र के प्रहार से भयभीत हुए मैनाक को वह अभय देनेवाला, भयानक कोलाहलवाले युद्ध के समय पीडा पाते हुए असुरों का मुख्य आश्रय स्थान था ॥१५॥

धधकते हुए वड़वालन में अपने जल को हविरूप से अर्पण करनेवाला, कल्याणमूर्त्ति, विस्तीर्ण, अप्रमेय नदियों का पति था ॥ १६ ॥

वह परस्पर स्पर्धा से सहस्रों बड़ी बड़ी नदियों का नित्य आश्रय स्थान-

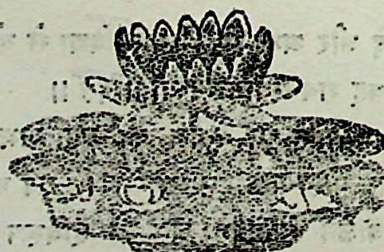
गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं
गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं
तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे
एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

रूप, चारों ओर से आते हुए जल से पूर्णतया भरा हुआ था। मानो तरङ्गों से नृत्य करता हो ऐसे उस उछलते हुए महासागर को दोनों बहिनों ने देखा ॥ १७ ॥

छोटे बड़े अनेकों प्रकार के भयानक मच्छ और मगर आदि से भरपूर, जलचरों के डरावने शब्दों से गजंते हुए, विस्तीर्ण आकाश के समान प्रकाशवान्, अगाध जल के बड़े भारी निधिरूप और ओर छोर रहित, ऊपर वर्णन किये हुए गम्भीर महासागर को दोनों बहिनों ने देखा ॥ १८ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥



बाईसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

नागाश्च संविदं कृत्वा कर्त्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असम्प्राप्तमनोरथा ॥ १ ॥
प्रसन्ना मोचयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ॥ २ ॥
तथा हि गत्वा ते तस्य पुच्छे बाला इति स्मृताः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ॥ ३ ॥
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ॥ ४ ॥
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—दूसरी ओर सर्पों ने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि हमें अपनी माता की आज्ञा के अनुसार काम करना चाहिये, क्योंकि यदि उसके मन की अभिलाषा सफल नहीं होगी तो प्रेमहीन हुई वह क्रोध में भरकर हमें भस्म कर डालेगी ॥ १ ॥

मनोवाञ्छा पूरी होने पर वह प्रसन्न हो जायगी तो हमें शाप से छुड़ा देगी। इस कारण चलो हम सब उस घोड़े की पूँछ के बालों को अवश्य ही काला करें ॥ २ ॥

ऐसा निश्चय करके वे नाग जिससे उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ के बाल काले दीखने लगें इस प्रकार उसके आस पास लिपटकर बैठ गए। इतने ही में हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! वे परस्पर पण करनेवाली सपत्नी (सौतें), दक्ष प्रजापति की पुत्री, कद्रू और विनता नामक दोनों बहिनें आकाशमार्ग से उड़कर किसी से भी क्षोभित न हो सकनेवाले, जल के भण्डाररूप महासागर को देखती हुई परम हर्ष से समुद्र के पार जाने को चल दीं ॥ ३-५ ॥

वायुनातीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।
तिमिङ्गिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ६ ॥
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ॥ ७ ॥
आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयञ्चापि सुरम्यं सरितां पतिम् ॥ ८ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणां तथालयम् ।
भयङ्कराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम् ॥ ९ ॥
शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यञ्च सुपुण्यजलसंमितम् ॥१०॥
महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ॥११॥

इस समय महासागर एकाएक वायु से विलोड़ित होकर बड़ी भारी गर्जना कर रहा था एवं बड़े बड़े मच्छ और मगरों से भरपूर था ॥ ६ ॥

वह भयङ्कर और अनेकों जाति के सहस्रों जलचरों से डरावना प्रतीत होता था, कोई भी उसके भीतर नहीं घुस सकता था, देखने में गंभीर और भयानक मालूम होता था ॥ ७ ॥

सकल रत्नों की खान, वरुण का मन्दिररूप, नागों का निवासस्थान और परम रमणीय दीखता था, उसमें नदियों का संगम होने के कारण वह नदियों का स्वामी था ॥ ८ ॥

वह पाताल में बसनेवाले बड़वानल का स्थानरूप, असुर और भयङ्कर प्राणियों का मन्दिररूप तथा पानी का अटूट भण्डार था ॥ ९ ॥

श्वेत वर्ण, दिव्य, देवताओं के अमृत का परमधाम, अप्रमेय, अचिन्तनीय, पवित्र जल से भरा हुआ था ॥ १० ॥

सहस्रों बड़ी बड़ी नदियों से चारों ओर से पूर्ण होता हुआ वह तरङ्गों से अत्यन्त नृत्य सा कर रहा था ॥ ११ ॥

इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं तं
गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम्।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं
गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते ॥१२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनं नाम
द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

चंचल तरङ्गों से भरपूर, गंभीर, आकाश के समान नीलवर्ण, बड़वानल अग्नि की ज्वालाओं से जिसका शरीर झिलमिल हो रहा था, ऐसे गरजते हुए उस महासागर को वे दोनों बहिनें शीघ्रता से लाँघकर परली पार चली गईं ॥ १२ ॥

बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥



तेईसवाँ अध्याय

सूत उवाच ।

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह ।
न्यपतत्तुरगाभ्यासे न चिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजवम् ।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालबालमुभे तदा ॥ २ ॥
निशम्य च बहून्बालान् कृष्णान् पुच्छसमाश्रितान् ।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ ३ ॥
ततः सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता ।
अभवद् दुःखसन्तप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे चापि गरुडः काल आगते ।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ५ ॥
महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन् दिशः ।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहङ्गमः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—समुद्र के पार पहुँचकर शीघ्रता से चलनेवाली कद्रू विनता के साथ झटपट उस घोड़े के समीप जाकर नीचे उतर पड़ी। तदनन्तर चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत शरीर और पूँछ में काले बालवाले, परम वेगवान्, अश्वों में श्रेष्ठ उच्चैःश्रवा को वे दोनों बहिनें देखने लगीं। उसकी पूँछ में अत्यन्त काले बाल देखकर विनता खिन्न हुई और कद्रू ने उसको अपनी दासी बनाकर सेवा में रख लिया। पण में हारी हुई विनता दुःख से संतप्त होकर दासीभाव को अंगीकार करके उसकी सेवा में उपस्थित रहने लगी ॥ १-४ ॥

इतने ही में समय आने पर महातेजस्वी गरुड़जी माता की सहायता के विना ही अण्डे को फोड़कर बाहर निकल आये ॥ ५ ॥

महाबलवान्, तेज से सब दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, चाहे जहाँ पहुँच सकनेवाले, यथेच्छ पराक्रमी, अग्नि के पुञ्ज

अग्निराशिरिवोद्भासन् समिद्धोऽतिभयङ्करः ।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७ ॥
प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवापर ॥ ८ ॥
तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम् ।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
अग्ने मा त्वं प्रवर्द्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि ।
असौ हि राशिः सुमहान् समिद्धस्तव सर्पति ॥१०॥

अग्निरुवाच ।

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ॥११॥
जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्द्धनः ।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान्मोहः समाविशत् ॥१२॥

जैसे भयंकर, प्रलयकाल की अग्नि के समान दमकते हुए और बिजली के समान पीले पीले नेत्रोंवाले, जन्म होते ही बढ़ हुई बहुत बड़ी कायावाले, भयानक गर्जना करते, दूसरे बडवानल के समान डरावने तथा रौद्र पक्षिराज गरुड़जी आकाश की ओर उड़े। यह देखकर देवता अग्नि की शरण में गए और आसन पर बैठे हुए विश्वरूप अग्नि को प्रणाम करके कहने लगे कि—हे अग्ने! तुम अपने शरीर को मत बढ़ाओ, क्या तुमने हमें भस्म कर डालना ही विचारा है? यह तुम्हारा बहुत ही बढ़ा हुआ तेज का समूह हमारी ओर को आ रहा है॥ ९-१० ॥

यह सुनकर अग्नि ने कहा, कि हे देवताओ! जैसा तुमने विचारा है सो बात नहीं है, किंतु यह तो मेरे समान तेजस्वी, विनता के आनन्द को बढ़ाने के निमित्त जन्मे हुए, महाबलवान् और परम तेजस्वी पक्षिराज गरुड़ हैं, तेज के पुञ्जरूप इन गरुड़जी को देखकर तुम भ्रम में पड़ गए हो ॥ ११-१२ ॥

नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः ।
देवानाञ्च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥१३॥
न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम ॥१४॥
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ।
ते दूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ॥१५॥

देवा ऊचुः ।

त्वमृषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ।
त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥१६॥
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शरस्त्वं जगत्पतिः ।
त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा ॥१७॥
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ।
त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद्यशः ॥१८॥

नागों का नाश करनेवाले, सदा देवताओं के हित में तत्पर, दैत्य और राक्षसों के शत्रु यह तो कश्यप के पुत्र महाबली गरुड़ हैं ॥ १३ ॥

इस कारण तुम्हें इनसे किसी प्रकार का भय नहीं मानना चाहिये। आओ मेरे साथ चलो और तुम इन गरुड़जी से मिलो। ऐसा कहने के अनन्तर ऋषियों सहित देवता गरुड़जी के पास गए और दूर से ही उनकी स्तुति करने लगे ॥ १४ ॥

देवता स्तुति करते हुए बोले कि हे पक्षिराज ! तुम ऋषि, महाभाग्यशाली, देवता, पक्षियों के राजा, प्रभु, परमेष्ठी और प्रजापति, इन्द्र, हयग्रीवावतार विष्णु, महादेवजी के द्वारा त्रिपुरासुर का वध होने के समय बाणरूप बननेवाले और जगत्पति हो ॥ १५–१६ ॥

तुम विष्णु के मुखरूप, ब्रह्मा, ब्राह्मण, अग्नि हो, तुम ही धाता, विधाता, विष्णु और उत्तम देव हो ॥ १७ ॥

तुम ही महत्तत्त्व, अहङ्कार और सदा अमृत हो, तुम महान् यशस्वी, परमात्मा हो, तुम सूर्यादि की प्रभा, बुद्धि वृत्ति और तुम ही हमारे उत्तम रक्षास्थान हो ॥ १८ ॥

त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नक्षत्राणमनुत्तमम् ।
बलोर्मिमान् साधुरदीनसत्त्वः समृद्धिमान् दुर्विषहस्त्वमेव ।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्तेह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥१९॥

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं
गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन् भानुमतः प्रभां मुहु-
स्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥२०॥

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्
प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभः ।
भयङ्करः प्रलय इवाग्निरुत्थितो
विनाशयन् युगपरिवर्त्तनान्तकृत् ॥२१॥

खगेश्वरं शरणमुपागता वयं
महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम् ।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥२२॥

तुम पुण्य के सागर और शुद्ध हो, तुम उदारचित्त और ऐश्वर्यवान् हो, तुम ही असह्य हो, हे उदारकीर्त्ति ! तुम में से अनागत और उपागत सब जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ १९ ॥

जैसे सूर्य अपनी किरणों से इस चराचर जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही मृत्युरूप तुम भी सूर्य की प्रभा को बारम्बार तेजोहीन करते हुए स्थावर जंगम, चर अचर सब जगत् को प्रकाशित करते हो ॥ २० ॥

हे अग्नि के समान कान्तिमान् ! जैसे महाक्रोध में भरा हुआ सूर्य प्रजा को तपाता है वैसे ही तुम सकल प्रजा को भस्म किये डालते हो, तुम प्रलयकाल में प्रज्वलित हुए भयानक अग्नि के समान सबका नाश करना चाहते हो और सहस्रों बार उत्पन्न होनेवाले जगत् के संहारकर्त्ता काल के भी काल हो ॥ २१ ॥

तुम महाबली, अग्नि के समान कान्तिमान्, बिजली के समान प्रकाशमय, अंधकाररहित, मेघों में घूमनेवाले, महाबलशाली, कारण और कार्यरूप,

परावरं वरदमजय्यविक्रमं
तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम्।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा
त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान्महात्मनः ॥२३॥
भयान्विता नभसि विमानगामिनो
विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते।
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो
महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ॥२४॥
स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां
त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते
दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियञ्च मेदिनी ॥२५॥
चलन्ति नः खग हृदयादि चानिशं
निगृह्यतां वपुरिदमग्निसन्निभम्।
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसन्निभां
निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम्।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां
शिवश्च नो भव भगवन् सुखावहः ॥२६॥

वरदाता, अजेय, पराक्रमी और पक्षियों के राजा हो। हे जगदीश! तपाये हुए सुवर्ण के समान तुम्हारे तेज से सब जगत् तप्त हो गया है, इस कारण तुम सब देवताओं की रक्षा करो, रक्षा करो। हम तुम्हारी शरण में आये हैं ॥२२–२३॥

भय के कारण तुम्हारी कान्ति से पराजित हुए देवगण अपने विमानों में बैठकर तुम से दूर अन्य मार्ग से आकाश में घूम रहे हैं, हे पक्षिराज! हे प्रभो! तुम दयालु और महात्मा कश्यप ऋषि के पुत्र हो ॥ २४ ॥

इस कारण क्रोध न करके जगत् के ऊपर परम दया करो, तुम ईश्वर हो, शान्त हो जाओ और हमारी रक्षा करो। हे पक्षिराज! तुम्हारी वज्र घोष के

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥२७॥

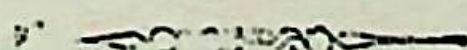
इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे नाम
त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥



समान भयानक गर्जना से दसों दिशा, आकाश, स्वर्ग, यह पृथ्वी और हमारा हृदय निरन्तर कंपायमान हो रहा है। इस कारण हे पक्षिराज! अपने इस अग्नि के समान शरीर को सकुचित कर लो, क्रोधी यमराज के समान तुम्हारे तेज को देखकर हमारा चलायमान हुआ चित्त बड़ा ही व्याकुल हो रहा है, इस कारण हे पक्षिराज! प्रार्थना करनेवाले हम पर प्रसन्न होइये और हे भगवन्! हमारा कल्याण करके प्रसन्न होइये ॥ २५–२६ ॥

इस प्रकार देवता और ऋषियों ने प्रार्थना की, तब सुन्दर पंखोंवाले गरुड़जी ने अपने तेज और स्वरूप को सङ्कुचित कर लिया ॥ २७ ॥

तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥



चौबीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

स श्रुत्वाथात्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम् ।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः संप्रचक्रमे ॥ १ ॥

सुपर्ण उवाच ।

न मे सर्वाणि भूतानि बिभियुर्देहदर्शनात् ।
भीमरूपात्समुद्विग्नास्तस्मात्तेजस्तु संहरे ॥ २ ॥

सौतिरुवाच ।

ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहङ्गमः ।
अरुणं चात्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात् ॥ ३ ॥
मातुरन्तिकमागच्छत्परं तीरं महोदधेः ।
तत्रारुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः ।
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान्दग्धुमना यदा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—सुन्दर परोंवाले गरुड़जी ने देवताओं के मुख से अपने शरीर का स्वरूप सुनकर तथा स्वयं अपने शरीर को देखकर उसको समेट लिया ॥ १ ॥

फिर ·रुड़जी ने सोचा कि मेरे भयङ्कर शरीर को देखकर लोक घबड़ा गए हैं, वे सब प्राणी अब मेरे शरीर को देखकर भयभीत न हों, इस लिये मैं अपने शरीर के तेज को समेटे लेता हूँ ॥ २ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर यथेच्छगति तथा यथेच्छ पराक्रमी पक्षिराज गरुड़जी अरुण को अपनी पीठ पर बैठाकर पिता के घर से महासागर की परली पार जहाँ उनकी माता थी वहाँ उसके पास गये। इसी समय सूर्य नारायण क्रोध के कारण अपनी अतिप्रचण्ड किरणों से त्रिलोकी को भस्म करने का विचार कर रहे थे, इस कारण परम कान्तिमान् भाई अरुण को गरुड़ ने पूर्व दिशा में सूर्य के सामने लाकर रख दिया ॥ ३–४ ॥

रुरुरुवाच ।

किमर्थं भगवान् सूर्यो लोकान् दग्धुमनास्तदा ।
किमस्यापकृतं देवैर्येनेमं मन्युराविशत् ॥ ५ ॥

प्रमतिरुवाच ।

चन्द्रादित्यैर्यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन् ।
वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्ये तदानघ ॥ ६ ॥
बध्यमाने ग्रहेणाथ आदित्ये मन्युराविशत् ।
सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति ॥ ७ ॥
बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ।
सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ॥ ८ ॥
पश्यन्ति ग्रस्यमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः ।
तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ॥ ९ ॥

रुरु ने पूछा—हे निर्दोष मुने ! किस कारण से भगवान् सूर्यनारायण ने जगत् को भस्म करना चाहा था ? देवताओं ने उनका ऐसा कौन सा अपराध किया था कि जिससे उनको ऐसा क्रोध आया ॥ ५ ॥

प्रमति ने कहा—हे निष्पाप ! जिस समय चन्द्रमा और सूर्य ने देवताओं को अमृत पीते हुए राहु को बताया, तब से ही वह चन्द्रमा और सूर्य के ऊपर वैरभाव रखता है। इस कारण जब राहु सूर्य को ग्रसकर पीड़ा देने लगा, तब उन्होंने क्रोध में भरकर विचार किया कि—अहो ! मेरे ऊपर राहु का क्रोध केवल देवताओं का हित करने के निमित्त से ही उत्पन्न हुआ है ॥ ६–७ ॥

और देवताओं के कारण से ही महाअनर्थ कारी यह पाप मुझ अकेले को ही भोगना पड़ता है। कार्यों में सब सहायता करते हैं, परन्तु संकट के समय में मेरी कोई भी सहायता नहीं करता ॥ ८ ॥

इतना ही नहीं, किन्तु राहु मुझे ग्रस लेता है, तो भी इस घटना को देवता चुपचाप देखते रहते हैं, इस कारण अब मैं निःसन्देह जगत् का विनाश कर डालता हूँ ॥ ९ ॥

एवं कृतमतिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद् गिरिम् ।
तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ॥१०॥
ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेनं महर्षयः ।
अद्यार्द्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।
उत्पत्स्यते महान्दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः ॥११॥
ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन् किमिवेहाद्य महद्दाहकृतं भयम् ॥१२॥
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन् भानौ कथमेतद्भविष्यति ॥१३॥

पितामह उवाच ।

एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान् स भस्मराशीकरिष्यति ॥१४॥

ऐसा विचार करके सूर्य अस्ताचल पर्वत पर गए और वहाँ से त्रिलोकी का विनाश करने के लिये अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाने लगे ॥ १० ॥

यह देख महर्षिगण देवताओं के पास जाकर इस प्रकार कहने लगे कि हे देवताओ ! आज आधी रात के समय त्रिलोकी का नाश करनेवाला और सब प्राणियों को भय उत्पन्न करनेवाला महादाह उत्पन्न होनेवाला है ॥ ११ ॥

यह सुनकर महर्षियों के सहित देवता पितामह ब्रह्माजी के पास जाकर कहने लगे कि हे पितामह ब्रह्माजी ! आज रात का किस कारण यह बड़ा भारी दाहकारी भय आनेवाला है ॥ १२ ॥

अभी तो सूर्य उदय भी नहीं हुआ, अभी से ऐसा प्रतीत होता है कि जगत् का क्षय हो जायगा, सो हे भगवन् ! सूर्य के उदय होने पर तो न जाने क्या ही दशा होगी ॥ १३ ॥

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा कि वास्तव में आज जगत् का संहार करने के निमित्त ही सूर्य का उदय हुआ प्रतीत होता है और वह उदय होते ही लोकों को जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ १४ ॥

तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ॥१५॥
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ।
महाकायो महातेजाः स स्थास्यति पुरो रवेः ॥१६॥
करिष्यति च सारथ्यं तेजश्चास्य हरिष्यति ।
लोकानां स्वस्ति चैव स्यादृषीणाञ्च दिवौकसाम् ॥१७॥

प्रमतिरुवाच ।

ततः पितामहाज्ज्ञातः सर्वं चक्रे तदारुणः ।
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृतः ॥१८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् सूर्यं मन्युराविशत् ।
अरुणश्च यथैवास्य सारथ्यमकरोत्प्रभुः ।
भूय एवापरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे चतु-
र्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥



परन्तु मैंने इसका उपाय पहिले से ही कर रक्खा है ॥ १५ ॥

कश्यपजी का बुद्धिमान् और प्रसिद्ध अरुण नामक एक पुत्र है, उसका शरीर बहुत बड़ा और परम तेजस्वी है । वह सूर्य के आगे खड़ा रहेगा ॥ १६ ॥

वह उसके सारथी का काम करेगा तथा उसका तेज हर लेगा । ऐसा होने से लोकों का, ऋषियों का और स्वर्गवासियों का भला होगा ॥ १७ ॥

प्रमति कहता है—तदनन्तर ब्रह्माजी की आज्ञा से अरुण ने ऐसा ही किया और सूर्य अरुण से ढका हुआ उदय हुआ । सूर्य ने जिस कारण से क्रोध किया था और जिस कारण से शक्तिमान् अरुण सूर्य का सारथी बना था, सो सब मैंने निवेदन किया, अब तुम पहिले पूछे हुए अपने दूसरे प्रश्न का उत्तर सुनो ॥ १८-१९ ॥

चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥



पचीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः ।
मातुरन्तिकमागच्छत्परं पारं महोदधेः ॥ १ ॥
यत्र सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता ।
अतीव दुःखसन्तप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥
ततः कदाचिद्विनतां प्रणतां पुत्रसन्निधौ ।
काले चाहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥
नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम् ।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ॥ ४ ॥
ततः सुपर्णमाता तामवहत्सर्पमातरम् ।
पन्नगान् गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥
स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहङ्गमः ।
सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्छिताः पन्नगाभवन् ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—फिर मनमाफिक चाहे जहाँ विचरनेवाले महाबली परमपराक्रमी गरुड़जी, जहाँ उनकी माता प्रतिज्ञा में हार जाने के कारण दासी-भाव को पाकर अत्यन्त दुःखित हो महासागर के परले पार रहती थी, वहाँ उसके पास आये ॥ १–२ ॥

दासी बनकर रहनेवाली विनता एक दिन अपने पुत्र के पास बैठी थी, उस समय कद्रू ने उसको अपने पास बुलाकर कहा—हे कल्याणी विनता! समुद्र के भीतर एकान्त में एक सुन्दर दीखनेवाला रमणीय द्वीप है, उसमें नाग रहते हैं, वहाँ तू मुझे ले चल ॥ ३–४ ॥

यह सुनकर गरुड़जी की माता ने सर्पों की माता को और गरुड़जी ने माता की आज्ञा से सर्पों को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया और दोनों जने चल दिये ॥ ५ ॥

विनतानन्दन गरुड़जी सूर्य के पास होकर चलते थे, इस कारण सूर्य की प्रचण्ड किरणों से व्याकुल होकर सर्प मूर्छित हो गए ॥ ६ ॥

तदवस्थान् सुतान् दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत्।
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ॥ ७॥
नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ॥ ८॥
त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम।
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरन्दर ॥ ९॥
त्वमेव वायुस्त्वं मेघस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे।
त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः।
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्त्ता चापराजितः ॥११॥
त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः।
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः ॥१२॥

कद्रू अपने पुत्रों की ऐसी दुर्दशा देख इन्द्र की स्तुति करने लगी कि हे सकल देवताओं के ईश्वर! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ, हे बलसूदन! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ ॥ ७ ॥

हे शचीपते! सहस्राक्ष नमुचिनाशन! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ, सूर्य से संताप पानेवाले सर्पों की तुम वर्षा के जल द्वारा रक्षा करो ॥ ८ ॥

हे सुरपते! इस समय तुम्हारे सिवा मेरी प्राणरक्षा का और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि हे पुरन्दर! तुम बहुत सा जल बरसा सकते हो ॥ ९ ॥

तुम ही मेघ और तुम ही अग्नि हो और हे इन्द्र! तुम ही गगनमण्डल में बिजलीरूप से प्रकाश करते हो, तुम ही मेघमाला को प्रेरणा करते हो और लोक तुम्हें ही महामेघ कहते हैं ॥ १० ॥

तुम ही अतुल और घोर बज्र हो, गरजते हुए मेघ भी तुम ही हो, सब लोकों की रचना और संहार तुम ही करते हो। तुम्हें कोई भी नहीं जीत सकता ॥ ११ ॥

तुम ही सब प्राणियों में ज्योतिरूप हो और तुम आदित्य हो, तुम विभावसु हो, तुम महाभूतरूप हो, आश्चर्य भी तुम ही हो, तुम राजा हो, तुम देवताओं

त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणः ।
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ॥१३॥

त्वं मुहूर्त्तस्तिथिश्च त्वं लवश्च त्वं पुनः क्षणः ।
शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा ।
संवत्सरर्त्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥१४॥

त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुन्धरा
सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा ।
महोदधिः सतिमितिमिङ्गिलस्तथा
महोर्मिमान्बहुमकरो झषाकुलः ॥१५॥

महायशास्त्वमिति सदाभिपूज्यसे
मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः ।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥१६॥

के अधिपति हो, तुम विष्णु हो, तुम सहस्राक्ष हो, तुम देव हो और तुम ही अन्तकाल के आश्रय हो। हे देव ! तुम सर्वरूप मोक्षमूर्त्ति हो, श्रेष्ठ पुरुषों के पूज्य सोम हो, मुहूर्त्त, तिथि, लव (मिनिट) और क्षण भी तुम ही हो शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष हो, कला, काष्ठा और त्रुटि भी तुम ही हो, संवत्सर, ऋतु मास, रात्रि, और दिन भी तुम ही हो ॥ १२-१४ ॥

पर्वत और वनसहित उत्तम पृथिवी भी तुम ही हो, तुम उज्ज्वल आकाश में सूर्यरूप हो, मत्स्य, महामत्स्य, बड़ी बड़ी तरङ्गें, अनेकों मगर और मच्छोंवाले महासागर भी तुम ही हो ॥ १५ ॥

तुम बड़े यशस्वी हो, इसी कारण ब्राह्मण नित्य तुम्हारी पूजा करते हैं, प्रसन्न मनवाले महर्षि नित्य तुम्हारी स्तुति करते हैं, तुम यज्ञ में सोमरस पीते हो, लोकों के हित के लिये ही तुम्हें वषट्कार से हवि अर्पण किया जाता है ॥ १६ ॥

त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं
वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च ।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा
वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥



पारलौकिक शुभ फल की इच्छा से ब्राह्मण यज्ञ में तुम्हारी ही उपासना करते हैं, हे अमोघवीर्य ! सकल वेद और वेदाङ्ग तुम्हारी ही अचिन्त्य और अनन्त महिमा का कीर्त्तन करते हैं और इसी कारण से यज्ञपरायण बड़े बड़े ब्राह्मण सब प्रकार के यत्न से तुमको पाने के निमित्त वेद के छः अंगों का (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त का) अभ्यास करते हैं ॥ १७ ॥

पचीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥



छब्बीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एवं स्तुतस्तदा कद्र्वा भगवान् हरिवाहनः ।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ।
मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम् ॥ १ ॥
ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ।
परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि ॥ २ ॥
संवर्त्तितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ।
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ॥ ३ ॥
संप्रवृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ।
मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः ॥ ४ ॥
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशन्तदा ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—उत्तम घोड़े पर बैठे हुए भगवान् इन्द्र की कद्रू ने इस प्रकार स्तुति की, तब इन्द्र ने आकाश को काले काले मेघमण्डलों से ढक दिया ॥ १ ॥

इन्द्र ने मेघों को आज्ञा दी कि तुम पृथ्वी पर उत्तम जल को बरसाओ। उसी समय बिजली से प्रकाशवान् मेघ भूमि पर बहुत सा जल बरसाने लगे ॥ २ ॥

आकाश में परस्पर टकराकर बारम्बार अत्यन्त गर्जना करके घनघटाएँ छाने लगीं, आश्चर्य में डालनेवाली बड़ी भारी गड़गड़ाहट करके बारम्बार बहुत सा जल बरसाने वाले मेघों ने आकाश को चारों तरफ से छा लिया। इस समय असंख्य जलधाराओं की तरङ्गों से आकाश मानो नाचता हुआ सा प्रतीत होता था ॥ ३–४ ॥

बड़ी भारी गड़गड़ाहट करते हुए बिजली और पवन से कम्पायमान तथा तलवार की धारा जैसा जल बरसानेवाले मेघों से उस समय आकाश ढका हुआ था,

नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत ।
नागानामुत्तमो हर्षस्तदा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥
आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः ।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ।
तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः ॥ ७ ॥
रामणीयकमागच्छन्मात्रा सह भुजङ्गमाः ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे
षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस कारण आकाश में चन्द्रमा और सूर्य की किरणें तक भी नहीं दीखती थीं। इस प्रकार मेघराज बरसने लगा, इससे सर्पों को बड़ा हर्ष हुआ ॥ ५–६ ॥

सब पृथ्वी चारों ओर से जलमयी हो गई और शीतल तथा निर्मल जल रसातल पर्यन्त पहुँच गया ॥ ७ ॥

उस समय पृथ्वी जल के झकोरों से पूर्ण रूप से ढक गई और सर्प अपनी माता के साथ रामणीयक द्वीप में पहुँच गए ॥ ८ ॥

छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

सम्प्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा ।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥
तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥
सुपर्णसहिताः सर्पाः काननञ्च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसङ्घनिनादितम् ॥ ३ ॥
विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजीभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥
प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥

सौति कहते हैं—जलधाराओं से भीगे हुए सर्प बड़े आनन्दित हुए और गरुड़जी के ऊपर चढ़े हुए वे सब तुरन्त रामणीयक नामक द्वीप में जा पहुँचे ॥ १ ॥

विश्वकर्मा के रचे हुए और मकरों के निवास उस द्वीप में आते ही उन्होंने पहिले महाघोर लवणासुर को देखा था ॥ २ ॥

गरुड़जी के साथ फिर वहाँ आकर सर्पों ने सागर के जल से धुलते हुए और पक्षियों के समूह से शब्दायमान एक मनोहर वन को देखा ॥ ३ ॥

वह वन नाना प्रकार के फल फूलों से भरपूर था, रमणीय मन्दिरों से तथा कमलोंवाले सरोवरों से घिरा हुआ था ॥ ४ ॥

वह स्वच्छ जलवाले दिव्य सरोवरों से शोभायमान था तथा दिव्य सुगन्ध को लानेवाला पवित्र पवन वहाँ चारों ओर चल रहा था ॥ ५ ॥

उत्पतद्भिरिवाकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥
वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथान्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान्नागान् पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥
मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥
रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥
तत्ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥१०॥
वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।
त्वं हि देशान् बहून् रम्यान् व्रजन् पश्यसि खेचर ॥११॥

वह वन मानो आकाश में उड़ रहे हों ऐसे प्रतीत होनेवाले और पवन के झोकों से कंपायमान होकर फूलों की वर्षा करनेवाले मलयाचल के वृक्षों से अर्थात् चन्दन के वृक्षों से शोभायमान था तथा अन्य वृक्षों पर से भी पवन चलने के कारण फूल गिर रहे थे। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो वहाँ के रहनेवाले नागों के ऊपर फूलों की और जल की वर्षा हो रही है ॥ ६–७ ॥

प्रजापति के मानसिक उल्लास से उत्पन्न हुए, गन्धर्व और अप्सराओं के प्रिय, दिव्य मधु को पीनेवाले भौंरों से गुञ्जारते हुए, मनोहर आकार-वाले,—॥ ८ ॥

रमणीय, शुभ, पुण्यकारी, सकल प्राणियों के मन को हरनेवाले गुणों से शोभित, नाना प्रकार के पक्षियों के शब्द से कूजित, मनोहर तथा कद्रू के पुत्रों को आनन्द देनेवाले उस वन में आकर वे सर्प उस समय क्रीड़ा करने लगे। तदनन्तर महापराक्रमी पक्षियों के राजा गरुड़जी से बोले—॥ ९–१० ॥

इससे भी अधिक मनोहर निर्मल जलवाले किसी दूसरे द्वीप में हमें ले चलो। हे खगेश ! तुमने तो आकाश में उड़ते हुए और भी बड़े बड़े मनोहर द्वीप देखे होंगे ॥ ११ ॥

स विचिन्त्याब्रवीत्पक्षी मातरं विनतां तदा।
किं कारणं मया मातः कर्त्तव्यं सर्पभाषितम् ॥१२॥

विनतोवाच।

दासीभूतास्मि दुर्योगात्सपत्न्याः पतगोत्तम।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ॥१३॥
तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ॥१४॥
किमाहृत्य विदित्वा वा किंवा कृत्वेह पौरुषम्।
दास्याद्वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ॥१५॥

सौतिरुवाच।

श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतमोजसा।
ततो दास्याद्विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे
सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

उस समय क्षणभर कुछ विचार करके गरुड़जी ने अपनी माता विनता से पूछा कि हे मातः! यह बताओ कि मुझे सर्पों की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिये? ॥ १२ ॥

विनता ने कहा—हे बेटा! मैं दुर्भाग्यवश सौत की दासी हो गई हूँ, सर्पों ने घोड़े की पूँछ में लिपटकर छल पूर्वक मेरे प्रण को झूठा कर दिया था ॥ १३ ॥

आकाशचारी गरुड़ को जब उनकी माता ने दुःख का कारण कह सुनाया, तब उन्होंने अपनी माता के दुःख से दुःखित होकर सर्पों से कहा—॥ १४ ॥

हे सर्पों! कोई वस्तु लाकर देने से, किसी ज्ञान को प्राप्त करने से अथवा कुछ पुरुषार्थ दिखाने से यदि हम तुम्हारे दासपने से छूट सकते हों तो उसको हमें सत्य सत्य बताओ ॥ १५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—यह सुनकर सर्पों ने गरुड़जी से कहा कि तुम पराक्रम करके अमृत लाओ तो हे खेचर! तभी दासपने से छूट सकते हो ॥ १६ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

विनतोवाच ।

समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम् ।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय ॥ २ ॥

न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्त्तितः ।
एवमादिभी रूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—सर्पों के ऐसे उत्तर को सुनकर गरुड़जी ने अपनी माता से कहा कि मैं अमृत लेने को जाता हूँ। परन्तु वहाँ मैं खाऊँगा क्या यह जानना चाहता हूँ, यह तू मुझे बता ॥ १ ॥

विनता बोली कि समुद्र के भीतर एकान्त स्थान में निषादों का उत्तम निवासस्थान है, वहाँ सहस्रों निषाद रहते हैं, उनका भक्षण करो और अमृत ले आओ ॥ २ ॥

परन्तु देखो बेटा! ब्राह्मण के वध का कभी मन में विचार भी मत करना, क्योंकि सब प्राणियों में ब्राह्मण अवध्य (न मारने योग्य) और अग्नि के समान है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण जब कोप में भर जाता है तब अग्नि, सूर्य, विष और शस्त्र के समान हो जाता है और शास्त्र में ब्राह्मण को सकल प्राणिमात्र का गुरु कहा है ॥ ४ ॥

स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा।
ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्त्तव्यः कथञ्चन ॥ ५ ॥
न ह्येवमग्निर्नादित्यो भस्म कुर्यात्तथानघ।
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ ६ ॥
तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तम।
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ॥ ७ ॥

गरुड उवाच।

किंरूपो ब्राह्मणो मातः किंशीलः किंपराक्रमः।
किंस्विदग्निनिभो भाति किंस्वित्सौम्यप्रदर्शनः ॥ ८ ॥
यथाहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः।
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

इस कारण से तथा ऐसे ही और भी कितने ही कारणों से महापुरुष ब्राह्मण का आदर करते हैं। इस कारण हे बेटा! क्रोध आ जाने पर भी ब्राह्मण को कभी न मारना ॥ ५ ॥

हे बेटा! किसी प्रकार से ब्राह्मण का द्रोह भी न करना। अग्नि और सूर्य जिसको नहीं जला सकते उसको भी तलवार की धार के समान व्रत पालनेवाला ब्राह्मण क्रोध चढ़ने पर जलाकर भस्म कर डालता है। इस कारण अनेकों चिन्हों से द्विजों में उत्तम ब्राह्मण को पहिचान लेना चाहिये। ब्राह्मण सब प्राणियों में प्रथम उत्पन्न हुआ है, सब प्राणियों में श्रेष्ठ, सब का पिता और सब का गुरु है ॥ ६–७ ॥

गरुड़जी ने पूछा, कि हे मातः! ब्राह्मण कैसे रूप का, कैसे स्वभाव का और कैसे पराक्रमवाला होता है? वह अग्नि के समान चमकता रहता है या चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन होता है ॥ ८ ॥

हे मातः! मैं जिस प्रकार शुभ लक्षणों से ब्राह्मण को सहज में ही पहिचान सकूँ, वह रीति और ब्राह्मण के शुभ लक्षण पूछता हूँ, बताओ ॥ ९ ॥

विनतोवाच ।

यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ।
दहेदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद् ब्राह्मणर्षभम् ॥१०॥
विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वदा ।
प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ॥११॥
जठरे न च जीर्येद्यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ।
पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ॥१२॥
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ।
प्रीता परमदुःखार्त्ता नागैर्विप्रकृता सती ॥१३॥

विनतोवाच ।

पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ।
शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम् ॥१४॥

विनता ने कहा कि हे बेटा ! मछली पकड़ने का निगला हुआ काँटा गले में जाकर महावेदना करता है, वैसे ही जो तेरे कण्ठ में आकर धहकते हुए अंगार के समान दाह करे उसको तू उत्तम ब्राह्मण जानना और उसको तू क्रोध आ जाने पर भी कदापि न मारना ॥ १०–११ ॥

पुत्र के ऊपर प्रेम होने के कारग विनता ने फिर कहा कि बेटा, जो तेरे पेट में पचे नहीं, उसको भी तू श्रेष्ठ ब्राह्मण जानना ॥ १२ ॥

तदनन्तर पुत्र के पराक्रम को जानती हुई भी सर्पों के छल से धोखा खानेवाली अत्यन्त दुःखिता विनता ने प्रसन्न होकर अपने पुत्र के ऊपर प्रेम होने के कारण पुत्र को आशीर्वाद दिया और इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

भगवान् वायु तेरे परों की रक्षा करें, सूर्य और चन्द्रमा तेरी पीठ की रक्षा करें, अग्नि देवता तेरे मस्तक की रक्षा करें और वसु देवता तेरे सब शरीर की रक्षा करें ॥ १४ ॥

अहञ्च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ।
इहासीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा ।
रिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ॥१५॥

सौतिरुवाच ।

ततः स मातुर्वचनं निशम्य
वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात ।
ततो निषादान् बलवानुपागतो
बुभुक्षितः काल इवान्तकोऽपरः ॥१६॥
स तान्निषादानुपसंहरंस्तदा
रजः समुद्धूत नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन् पयः
समीपजान् भूधरजान् विचालयन् ॥१७॥
ततः स चक्रे महदाननं तदा
निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजु-
र्यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥१८॥

और हे बेटा ! मैं भी यहाँ ही रहती हुई तुझे शान्ति और कल्याण देनेवाले कार्य में प्रवृत्त रहूँगी, अब तू कार्यसिद्धि के लिये निर्विघ्नरूप से मार्ग में चला जा ॥ १५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—माता के ऐसे वचन सुनकर महाबलवान् गरुड़जी अपने दोनों पर फैलाकर आकाश में उड़े और भूख से व्याकुल होने के कारण अन्त करनेवाले, भूखे दूसरे यमराज के समान निषादों के ऊपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

निषादों का संहार करने में तत्पर हुए गरुड़जी ने उस समय नभोमण्डल को छा देनेवाली बहुत सी धूल उड़ाई, समुद्र का जल सोख लिया और परों के सपाटे से आस पास के पर्वतों पर ऊगे हुए वृक्षों को भी कँपा डाला ॥ १७ ॥

तदनन्तर पक्षिराज गरुड़जी ने अपने मुख को फैलाकर निषादों के भागने

तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्
समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता
यथानिलप्रचलितपादपे वने ॥१९॥
ततः खगो वदनममित्रतापनः
समाहरत्परिचपलो महाबलः ।
निषूदयन्बहुविधमत्स्यजीविनो
बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे गरुडचरित्रे
अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

के मार्ग को घेर लिया, उस समय घबड़ाकर शीघ्रता से भागते हुए निषाद, सर्पों का भोजन करनेवाले उन गरुड़जी का जिधर को मुख था उस ओर को ही चल दिये ॥ १८ ॥

जैसे पवन से कंपायमान हुए वन के वृक्षों से पवन और धूलि के कारण घबड़ाये हुए सहस्रों पक्षी आकाश में उड़ जाते हैं, वैसे ही गरुड़जी की उड़ाई हुई धूलि और पवन से अंधे हुए निषाद भी गरुड़जी की फैली हुई विशाल चोंच में आ पड़े ॥ १९ ॥

उसी समय महाबली और शत्रुओं को संताप देनेवाले, भूख से आतुर हुए गरुड़जी ने उनको पकड़ने के लिये चारों ओर फिरकर अनेकों प्रकार की मछलियों से आजीविका करनेवाले उन निषादों का नाश करने के लिये अपना मुख बन्द कर लिया ॥ २० ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥

उन्तीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया ।
दहन्दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः ॥ १ ॥
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात् ।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥ २ ॥
ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ॥ ३ ॥

गरुड उवाच ।

एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत ।
तूर्णं सम्भावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा ।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे शौनक ! निषादों का भक्षण करते समय स्त्री सहित एक ब्राह्मण गरुड़जी के कण्ठ में चला गया और वह उनके कण्ठ को अग्नि के समान जलाने लगा । यह देखकर आकाशचारी गरुड़ ने उससे कहा—॥ १ ॥

हे द्विजोत्तम ! इस मेरे खुले हुए मुख में से तू बाहर निकल जा, क्योंकि ब्राह्मण चाहे सदा पापों में मग्न रहता हो, परन्तु मैं उसका वध नहीं कर सकता ॥२॥

इस प्रकार कहते हुए गरुड़जी से ब्राह्मण ने कहा कि मेरे साथ निषाद ज़ाति की मेरी स्त्री को भी बाहर आने दो ॥ ३ ॥

गरुड़ ने कहा कि तू इस निषादी को भी साथ लेकर शीघ्र ही बाहर निकल जा, तू अभी मेरे पेट की अग्नि में पचा नहीं है, इस कारण शीघ्र ही निकलकर अपने शरीर की रक्षा कर ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—उस समय निषादी सहित वह ब्राह्मण तुरत ही गरुड़ के मुख में से बाहर निकल आया और उनको आशीर्वाद देकर अपने अनुकूल स्थान में चला गया ॥ ५ ॥

सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन् विप्रे च पक्षिराट् ।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ॥ ६ ॥
ततोऽपश्यत्स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान् पितुः ।
यथान्यायममेयात्मा तञ्चोवाच महानृषिः ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच ।

कच्चिद्वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत ।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवान्नं विद्यते बहु ॥ ८ ॥

गरुड उवाच ।

माता कुशला शश्वत्तथा भ्राता तथा ह्यहम् ।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा ॥ ९ ॥
अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम् ।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै ॥१०॥

स्त्री-सहित उस ब्राह्मण के बाहर निकल जाने पर पक्षिराज गरुड़ पंख फैलाकर मन के समान वेग से आकाश में उड़े ॥ ६ ॥

आकाश में उड़ते हुए उन्होंने अपने पिता कश्यपजी को देखा, उनके पूछने पर गरुड़जी ने उचित रीति से अपना कार्य निवेदन किया। तदनन्तर उदारमन महर्षि कश्यपजी ने उनसे पूछा ॥ ७ ॥

कश्यप बोले कि पुत्र! तू कुशल से तो है? तुझे नित्य जितना चाहिये उतना भोजन तो मिल जाता है? क्या मनुष्यलोक में तेरे लिये बहुत सा भोजन है? ॥ ८ ॥

गरुड़ ने कहा—हे पिताजी! मेरी माता नित्य कुशल से रहती है, मेरे भाई और मैं भी नित्य कुशल से हूँ, परन्तु चाहना के अनुसार भोजन न मिलने से मैं सदा दुःखी रहता हूँ ॥ ९ ॥

सर्पों ने मुझे उत्तम अमृत लाने को भेजा है, सो मैं अपनी माता को दासी-पने से छुड़ाने के लिये आज ही अमृत लेकर आऊँगा ॥ १० ॥

मात्रा चात्र समादिष्टो निषादान् भक्षयेति ह ।
न च मे तृप्तिरभवद्भक्षयित्वा सहस्रशः ॥११॥
तस्माद्भक्ष्यं त्वमपरं भगवन् प्रदिशस्व मे ।
यद्भुक्त्वामृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ।
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान् ॥१२॥

कश्यप उवाच ।

इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम् ।
यत्र कूर्माग्रजो हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः ॥१३॥
तयोर्जन्मान्तरे वैरं सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।
तन्मे तत्त्वं निबोधस्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ ॥१४॥
आसीद्विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ।
भ्राता तस्यानुजश्चासीत् सुप्रतीको महातपाः ॥१५॥

मेरी माता ने मुझे आज्ञा दी थी कि तू निषादों का भक्षण करना, इस कारण मैंने निषादों के निवासस्थान पर जाकर सहस्रों निषादों का भक्षण किया है, तो भी मेरा पेट नहीं भरा ॥ ११ ॥

इस कारण हे भगवन्! आप मुझे कोई दूसरा खाने का पदार्थ बताइये, जिसको खाकर मैं अमृत लाने में समर्थ होऊँ। हे भगवन्! बड़ी भारी भूख प्यास से मैं व्याकुल हो रहा हूँ, उसको दूर करने के लिये मुझे कुछ खाने पीने की सामग्री बताइये ॥ १२ ॥

कश्यपजी ने कहा—देवलोक तक प्रसिद्धि पाया हुआ यह एक बड़ा पवित्र और पुण्यदायक सरोवर पास ही है, उसमें एक हाथी अपना मुख नीचे को करके सूँड से अपने बड़े भाई कछुए को खींचा करता है ॥ १३ ॥

इनका पहिले जन्म में किसी कारण से वैर हो गया था, उसका पूरा पूरा वृत्तान्त मैं तुझ से कहता हूँ तथा ये दोनों कितने ऊँचे हैं, इस विषय में भी तुझ से ठीक ठीक कहता हूँ, उसको तू सुन ॥ १४ ॥

पहिले समय में एक विभावसु नामक बड़े क्रोधी स्वभाव के ऋषि थे, और सुप्रतीक नामक बड़ा तपस्वी उनका छोटा भाई था ॥ १५ ॥

स नेच्छति धनं भ्रात्रा सहैकस्थं महामुनिः ।
विभागं कीर्त्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः ॥१६॥
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ।
विभागं बहवो मोहात्कर्त्तुमिच्छन्ति नित्यशः ॥१७॥
ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ।
ततः स्वार्थपरान्मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः ॥१८॥
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ।
विदित्वा चापरे मित्रानन्तरेषु पतन्त्यथ ॥१६॥
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्त्तते ।
तस्माद्विभागं भ्रातणां न प्रशंसन्ति साधवः ॥२०॥

तपस्वी सुप्रतीक बड़े भाई के धन के साथ अपना धन रखना नहीं चाहता था, किन्तु वह नित्य ही धन को बाँट लेने के लिये कहा करता था ॥ १६ ॥

कुछ दिनों के अनन्तर विभावसु ने अपने भाई सुप्रतीक से कहा कि धन के ऊपर मोह होने से बहुत से लोग नित्य अपना भाग बाँट लेना चाहते हैं ॥ १७ ॥

धन से मोहित हुए लोग विभाग करने में भी एक दूसरे के साथ परस्पर क्रोध में होकर लड़ाई झगड़ा कर लिया करते हैं। ऐसे स्वार्थपरायण, मूढ़ और अपने धन को लेकर अलग हुए लोगों के भेद को जानकर शत्रु उनके मित्र से बन जाते हैं और भाई बन्धुओं में भेद डलवा देते हैं। भेद पड़ते ही मन फट जाते हैं और मन फटते ही मित्ररूप बने हुए शत्रु एक दूसरे को परस्पर के छिद्र दिखाकर वैरभाव बढ़ा देते हैं, इससे उदारमना भाइयों को बड़ी भारी हानि पहुँचने का अवसर आ जाता है। भाई धन का विभाग करते समय एक दूसरे की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रखते। अर्थात् छोटे भाइयों को चाहिये कि बड़े भाइयों को पिता के समान मानकर उनकी आज्ञा में रहें, परन्तु वे उलटा बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। इस कारण विद्वान् पुरुष भाइयों के विभाग कर लेने की बात को ठीक नहीं मानते ॥ १८-२० ॥

गुरुशास्त्रेऽनिबद्धानामन्योन्येनाभिशङ्किनाम् ।
नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ॥२१॥
यस्मात्तस्मात् सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ।
शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत् ॥२२॥
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः संभविष्यसि ।
एवमन्योन्यशापात्तौ सुप्रतीकविभावसू ॥२३॥
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ।
रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ ॥२४॥
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ।
सरस्यस्मिन्महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ॥२५॥
तयोरन्यतरः श्रीमान् समुपैति महागजः ।
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ॥२६॥

गुरु और शास्त्र के उपदेश पर जमे न रहनेवाले तथा परस्पर सन्देह की दृष्टि रखनेवाले भाइयों में विरोध होता है । तू मेरे कहने में नहीं रहना चाहता, तू वारंवार भेदभाव से धन ही लेना चाहता है ॥ २१ ॥

हे सुप्रतीक ! तू मेरे वारण (निषेध) करने पर भी ध्यान नहीं देता, इस कारण तू वारण (हाथी) की योनि को प्राप्त होगा। इस प्रकार शाप को पाने के अनन्तर सुप्रतीक भी विभावसु से कहने लगा,—॥ २२ ॥

तू भी जल के भीतर रहनेवाला कछुआ होगा। इस प्रकार धन की इच्छा से मूढ़ हुए मनवाले सुप्रतीक और विभावसु परस्पर शाप देकर क्रम से हाथी और कछुए की योनि को प्राप्त हो गए । इस प्रकार वह दोनों क्रोध और द्वेष के कारण पशुयोनि में पहुँच गए ॥ २३–२४ ॥

वे अपने शरीर के प्रमाण तथा बल के अनुसार घमंड रखकर परस्पर वैरभाव ठानकर इस सरोवर में बैठे हैं, दोनों बड़ी कायावाले हाथी और कछुआ पूर्व जन्म के वैर के अनुसार अपना काम किया करते हैं ॥ २५ ॥

उन दोनों में से हाथी सुन्दर और बड़े शरीरवाला है, वह हुंकार करके जब कछुए के सामने पहुँचता है तब वह बड़े शरीरवाला जलचर कछुआ

उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन् सरः ।
यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ॥२७॥
दन्तहस्ताग्रलाङ्गूलपादवेगेन वीर्यवान् ।
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुझषाकुलम् ॥२८॥
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान् ।
षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ॥२६॥
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ।
तावुभौ युद्धसम्मत्तौ परस्परवधैषिणौ ॥३०॥
उपयुज्याशु कर्मेदं साधये हितमात्मनः ।
महाभ्रघनसङ्काशं तं भुक्त्वामृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपञ्च हस्तिनम् ॥३१॥

(जो कि नित्य जल के भीतर सोया रहता है) उठकर सब सरोवर को गदला करता हुआ उसके सामने आता है। उसको सामने आता हुआ देखकर पराक्रमी हाथी, सूँड़ को दाँतों में लपेट कर दाँत, सूँड़, पूँछ और पैरों का आघात करता हुआ आवेश में अनेकों मच्छों से भरे हुए सरोवर के जल में घुसता है और बड़े क्रोध से सकल सरोवर को मथ डालता है। यह देखकर वीर्यवान् कछुआ भी अपना माथा ऊँचा करके युद्ध करने को सामने आता है। वह हाथी छः योजन ऊँचा और बारह योजन लम्बा है ॥ २६–२६ ॥

कछुआ तीन योजन ऊँचा तथा दस योजन घेरेवाला है। ये दोनों युद्ध करने के लिये मदमत्त होकर एक दूसरे के प्राण लेने की इच्छा से भयानक संग्राम मचाते हैं ॥ ३० ॥

इस कारण तू उन दोनों को शीघ्र भक्षण करके अपना हितकारी काम पूरा कर। बड़े भारी मेघमण्डल के समान घनी कायावाले घोररूप कछुए को तथा बड़े भारी पर्वत के समान भयंकर रूपधारी उस हाथी को खाकर तू अमृत ले आ ॥ ३१ ॥

सौतिरुवाच ।

इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत्तदा ॥३२॥
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ।
पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चान्यत्किञ्चिदुत्तमम् ॥३३॥
शुभं स्वस्त्ययनं चापि भविष्यति तवाण्डज ।
युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्द्धं महाबल ॥३४॥
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ।
रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ॥३५॥
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमन्तिकात् ।
अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ॥३६॥
स तत् स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः ।
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ॥३७॥

उग्रश्रवा कहते हैं—गरुड़ से कश्यप ने ऐसा कहकर फिर उनको यह आशीर्वाद दिया—॥ ३२ ॥

देवताओं के साथ युद्ध करने में तेरी विजय हो, भरा हुआ कलश, ब्राह्मण, गौ तथा अन्य जो मङ्गलिक पदार्थ हैं, हे गरुड़! यह सब तेरा कल्याण करें। हे महाबली गरुड़! देवताओं के साथ युद्ध करते हुए संग्राम में ऋक्, यजु, साम—वेद, यज्ञ की पवित्र हवि और रहस्यों सहित सब शास्त्र तेरा बल बढ़ावें ॥ ३३–३५ ॥

इस प्रकार पिता के आशीर्वाद देने पर गरुड़जी अनेकों प्रकार के पक्षियों से सेवित, निर्मल जलवाले, उस पास के ही सरोवर की ओर गए और उसको देखा ॥ ३६ ॥

उस समय तुरन्त ही भयंकर वेगवाले आकाशचारी गरुड़जी ने पिता की बात को स्मरण करके एक नख से हाथी को और दूसरे नख से कछुए को ग्रहण कर लिया ॥ ३७ ॥

समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहङ्गमः।
सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ॥३८॥
ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः।
न नो भञ्ज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ॥३९॥
प्रचलाङ्गान् स तान् दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान्।
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ॥४०॥
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान् भ्राजमानान्महाद्रुमान् ॥४१॥
तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥४२॥
यैषा मम महाशाखा शतयोजनमायता।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेतौ गजकच्छपौ ॥४३॥

फिर गरुड़जी आकाश में बहुत ऊँचे उड़ गए और उड़ते उड़ते अलम्ब नामक तीर्थ में आ पहुँचे तथा वहाँ बहुत से देववृक्षों को देखा ॥ ३८ ॥

कनकाचल के ऊपर ऊगे हुए देववृक्ष 'अपने परों के पवन के वेग से गरुड़जी इस समय हमें तोड़ें नहीं तो अच्छा है' ऐसा चाहते हुए भय से काँपने लगे ॥ ३९ ॥

मनोरथ के अनुसार फल देनेवाले उन दिव्य वृक्षों को बहुत ही काँपते हुए देखकर आकाशचारी गरुड़जी परमोत्तम रूप रंगवाले दूसरे वृक्षों की ओर गए ॥ ४० ॥

वे बड़े बड़े वृक्ष सुवर्ण और चाँदी के फलों से शोभा पा रहे थे, उनकी डालें वैदूर्य मणि की थीं और समुद्र के जल की हिलोरें उनको भिगोया करती थीं ॥ ४१ ॥

उन बड़े वृक्षों में एक बहुत ही बड़ा वट का वृक्ष था, उसने मन के समान वेग से अपनी ओर उड़कर आते हुए गरुड़जी को देखकर कहा—॥ ४२ ॥

यह जो मेरी सौ योजन लम्बी बड़ी भारी शाखा है, इसके ऊपर बैठकर तुम हाथी और कछुए को खाओ ॥ ४३ ॥

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं
महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन्।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्
बभञ्ज तामविरलपत्रसञ्चयाम् ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे
ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥



यह सुनकर वेग में भरे हुए पक्षिराज गरुड़जी, जिसके ऊपर सहस्रों पक्षी रहते थे उस पर्वत के समान कायावाले वटवृक्ष को कँपाते हुए, उसकी शाखा पर वेग के साथ आकर बैठे ही थे कि तत्काल पत्तों से भरी हुई वह टूटकर चूर चूर हो गई ॥ ४४ ॥

उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥



तीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ॥ १ ॥
तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन् ।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद् बालखिल्यानधोमुखान् ॥ २ ॥
ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।
तपोरतान् लम्बमानान् ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ॥ ३ ॥
हन्यादेतान् सम्पतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः ।
नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ॥ ४ ॥
स तद्विनाशसन्त्रासादभिपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—महाबली गरुड़जी के केवल पैर रखते ही उस वृक्ष की वह शाखा टूट गई, परन्तु टूटने के साथ ही गरुड़जी ने उसको पकड़ लिया ॥ १ ॥

उस वृक्ष की बड़ी भारी शाखा को तोड़कर उन्होंने अचम्भे के साथ देखा कि उसमें नीचे को सिर किये हुए बालखिल्य ऋषि लटक रहे हैं ॥ २ ॥

तपस्या में मग्न हुए उन ब्रह्मऋषियों को उलटे लटकते हुए देखकर गरुड़जी ने अपने मन में विचार किया कि इस शाखा में लटकते हुए ऋषियों का मेरे हाथ से घात नहीं होना चाहिये ॥ ३ ॥

परन्तु शाखा नीचे गिरते ही इन ऋषियों का नाश कर डालेगी, ऐसा विचार होने से उस वीर ने हाथी और कछुए को अपने पंजों से दृढ़ता के साथ पकड़ लिया,—॥ ४ ॥

कहीं ऋषियों के प्राण न चले जायँ, इस बात से भयभीत होकर ऋषियों की रक्षा के लिये गरुड़जी ने झपटकर उस गिरती हुई शाखा को अपनी चोंच से ले लिया ॥ ५ ॥

अतिदैवं तु तत्तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः ।
विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥
गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहङ्गमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात्पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥
ततः शनैः पर्यपतत्पक्षैः शैलान् प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद्देशान् बहून् सगजकच्छपः ॥ ८ ॥
दयार्थं बालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ।
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ॥ ९ ॥
ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ।
ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहङ्गमम् ॥१०॥
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ।
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥११॥

(वे फिर आकाश में उड़ने लगे।) देवताओं से भी न हो सके ऐसे गरुड़जी के साहस को देखकर महर्षियों का हृदय अचरज से काँप उठा और इन पक्षिराज का नाम रखते हुए वे कहने लगे—॥ ६ ॥

यह पक्षी बड़े भारी भार को लेकर आकाश में उड़ा है, इस कारण यह श्रेष्ठ पक्षी सर्पों का भक्षण करनेवाला और गरुड़ नामधारी होगा ॥ ७ ॥

तदनन्तर हाथी, कछुआ और उस शाखा के सहित गरुड़जी धीरे धीरे ऊँचे उड़ने लगे। वे पंखों की पवन से पर्वतों को कँपाते और बालखिल्य ऋषियों के ऊपर दया आने के कारण घूमते हुए बहुत से स्थानों पर बैठने को गए, परन्तु बैठने के योग्य स्थान कहीं नहीं मिला। इस कारण वे विना परिश्रम ही पर्वतों में श्रेष्ठ गन्धमादन नामक पर्वत की ओर गए ॥ ८-९ ॥

वहाँ उन्होंने अपने पिता कश्यपजी को तपस्या में बैठे हुए देखा और कश्यपजी ने भी उन दिव्यस्वरूप पक्षिरूपधारी गरुड़जी को देखा ॥ १० ॥

वे तेज, वीरता और बल से युक्त थे, उनका वेग मन और वायु के समान था, उनकी काया पर्वतशिखर के समान बड़ी भारी थी और वे उठे हुए ब्रह्मदण्ड के समान दीखते थे ॥ ११ ॥

अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयङ्करम् ।
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ॥१२॥
अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ।
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम् ॥१३॥
लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान् कश्यपस्तदा ।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

कश्यप उवाच ।

पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा बालखिल्या मरीचिपाः ॥१५॥

अचिन्तनीय, अकथनीय, प्राणियों को भयदायक, महापराक्रमी और रुद्र-रूपधारी गरुड़जी इस समय साक्षात् प्रज्वलित अग्नि के समान प्रतीत हो रहे थे ॥ १२ ॥

देवता, दानव और राक्षसों के भी जीतने में न आनेवाले गरुड़जी का कोई भी तिरस्कार नहीं कर सकता था, किन्तु वे पर्वतों के शिखरों का नाश कर सकते थे और समुद्र के जल को सुखा सकते थे ॥ १३ ॥

जगत् का नाश कर सकनेवाले, घोरमूर्ति गरुड़जी उस समय यमराज के समान भयानक दीखते थे। पर्वत के बड़े भारी शिखर के समान उन दिव्य पक्षिराज गरुड़ को आते हुए देखकर भगवान् कश्यपजी ने उनके संकल्प को जानते हुए इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

कश्यपजी बोले—हे पुत्र ! तू एकाएक साहस का काम न करना, ऐसा करने से तुझे तुरन्त ही महादुःख उठाना पड़ेगा। क्योंकि, सूर्य की किरण-मात्र पीकर रहनेवाले बालखिल्य ऋषि तेरे अनुचित साहस से क्रोध में भरकर तुझे भस्म कर डालेंगे ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच ।

ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात् ।
बालखिल्यान्महाभागांस्तपसा हतकल्मषान् ॥१६॥

कश्यप उवाच ।

प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ ॥१७॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः ॥१८॥
ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः ।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ॥१९॥
भगवन् क्व विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम् ।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान्मम ॥२०॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार पुत्र को समझाकर फिर तपस्या से निष्पाप बने हुए महाभाग बालखिल्य महर्षियों को पुत्रप्रेम के कारण कश्यप ऋषि शान्त करने लगे ॥ १६ ॥

कश्यपजी ने कहा—हे तपोधनो ! गरुड़ का यह काम प्रजा के हित के लिये है और यह जिस काम को करना चाहता है वह कुछ छोटासा नहीं है, बड़ा भारी काम है, इस कारण आपको इसे आज्ञा देनी चाहिये ॥ १७ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—कश्यपजी के इस प्रकार कहने पर तुरन्त ही बालखिल्य महर्षि वृक्ष की शाखा को छोड़कर तप करने के लिये पवित्र हिमालय पर्वत पर चले गए ॥ १८ ॥

उन ऋषियों के चले जाने पर चोंच में शाखा होने से जिनका मुख बन्द हो रहा था ऐसे विनतापुत्र गरुड़जी ने अपने पिता से कहा—॥ १९ ॥

हे भगवन् ! यह जो वृक्ष की बड़ी भारी शाखा मेरे मुख में है, इस को मैं कहाँ डालूँ ? जहाँ मनुष्यों की वस्ती न हो ऐसा कोई स्थान मुझे बताइये ॥ २० ॥

ततो निष्पुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकन्दरम् ।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः ॥२१॥
तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः ।
जवेनाभ्यपतत्तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः ॥२२॥
न तां बध्री परिणहेच्छतचर्मा महातनुम् ।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः ॥२३॥
स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः ।
कालेन नातिमहता गरुडः पतगेश्वरः ॥२४॥
स तु गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात्पितुः ।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः ॥२५॥
पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट् ।
मुमोच पुष्पवर्षञ्च समागलितपादपः ॥२६॥

तदनन्तर कश्यपजी ने निरन्तर हिम से ढकी हुई गुफावाले, साधारण पुरुषों का जहाँ मन भी न पहुँच सके ऐसे एक निर्जन पर्वत का स्थान गरुड़जी को बताया ॥ २१ ॥

पक्षिराज गरुड़जी उस शाखा, हाथी और कछुए सहित बड़ी भारी गुफा-वाले उस पर्वत की ओर बड़े वेग से चल दिये ॥ २२ ॥

सौ पशुओं के चमड़े से बनाई हुई रस्सी से भी जिसको न लपेटा जा सके ऐसी बड़ी मोटी उस शाखा को चोंच में लेकर पक्षिराज गरुड़जी थोड़े ही समय में लाखों योजन दूर उस पर्वत पर आ पहुँचे ॥ २३–२४ ॥

क्षणमात्र में ही वहाँ आकर तत्काल पिता के कहने के अनुसार उन्होंने उस बड़ी भारी शाखा को पर्वत पर डाल दिया ॥ २५ ॥

गरुड़जी के पंखों की पवन के झपेटे से वह पर्वतराज काँप उठा और उस महापर्वत ने अपने टूटते हुए वृक्षों में से फूलों की वर्षा की ॥ २६ ॥

श्रृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम् ॥२७॥
शाखिनो बहवश्चापि शाखया निहतास्तया ।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः ॥२८॥
ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः ।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः ॥२९॥
ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः ।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥३०॥
तावुभौ भक्षयित्वा तु स तार्क्ष्यः कूर्मकुञ्जरौ ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः ॥३१॥
प्रावर्त्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः ।
इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात्ततः ॥३२॥

उस महापर्वत के मणि और सुवर्ण से शोभायमान विचित्र शिखर भी पर्वत के काँपने से इधर उधर लुढक गये ॥ २७ ॥

गरुड़जी की चोंच में से नीचे गिरी हुई शाखा के धमाके से सुवर्ण के समान फूलोंवाले अनेकों वृक्ष टूट कर गिर गए, जो कि बिजलीयुक्त मेघों की सी शोभा दे रहे थे ॥ २८ ॥

सुवर्ण की सी कान्तिवाले वे वृक्ष पृथ्वी पर गिरने पर पर्वत की रङ्ग-विरङ्गी धातुओं से रङ्गीन होकर ऐसे प्रतीत होते थे मानो सूर्य की किरणों से रँगे गए हैं ॥ २९ ॥

फिर उस पर्वत के शिखर पर बैठकर पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़जी उस हाथी और कछुए को भक्षण करने लगे ॥ ३० ॥

हाथी तथा कछुआ दोनों को खा लेने पर गरुड़जी उस पर्वत के शिखर से बड़े ही वेग के साथ ऊपर को उड़े ॥ ३१ ॥

उस समय देवताओं को भय देनेवाले उत्पात दीखने लगे, तदनन्तर इन्द्र का प्यारा वज्र भी भय से जल उठा ॥ ३२ ॥

सधूमा न्यपतत्सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानाञ्च सर्वशः ॥३३॥
साध्यानां मरुताञ्चैव ये चान्ये देवतागणाः।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत् ॥३४॥
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः ॥३५॥
निरभ्रमेव चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम्।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ॥३६॥
मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृषुः शोणितं बहु ॥३७॥
रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन्।
ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः।
उत्पातान्दारुणान् पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ॥३८॥

दिन में ही जलती हुई और धुएँवाली उल्का आकाश से गिरने लगीं, वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुत् तथा दूसरे सकल देवताओं के आयुध भी पहिले देवासुरसंग्राम में जैसे लड़े और परस्पर उपद्रव मचाने लगे थे, वैसे ही परस्पर लड़कर उपद्रव करने लगे। सहस्रों उल्काएँ गिरने लगीं, उनके साथ गर्जना करता हुआ भयानक पवन चलने लगा और देवों का भी देव मेघ रुधिर की वर्षा करने लगा ॥ ३३–३६ ॥

देवताओं के कण्ठों की पुष्पमालाएँ कुह्मला गईं और उनके तेज फीके पड़ गए तथा भयानक उत्पात करनेवाले मेघ आवेश में भरकर बहुत सा रुधिर बरसाने लगे ॥ ३७ ॥

पवन की उड़ाई हुई रज से देवताओं के मस्तकों के मुकुटों की प्रभा फीकी पड़ गई। ऐसे महादारुण उत्पातों को देखकर भयभीत तथा व्याकुल हुए इन्द्र ने देवताओं को साथ में लिये हुए बृहस्पतिजी के पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ३८ ॥

इन्द्र उवाच ।

किमर्थं भगवन् घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः ।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ॥३९॥

बृहस्पतिरुवाच ।

तवापराधाद्देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो ।
तपसा बालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम् ॥४०॥
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः ।
हर्त्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान् कामरूपधृक् ॥४१॥
समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्त्तुं सोमं विहङ्गमः ।
सर्वं सम्भावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ॥४२॥

सौतिरुवाच ।

श्रुत्वैतद्वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः ।
महावीर्यबलः पक्षी हर्त्तुं सोममिहोद्यतः ॥४३॥

इन्द्र ने कहा—हे भगवन् ! ये महाघोर उत्पात एकाएक क्यों होने लगे हैं ? मैं ऐसे किसी शत्रु को नहीं देखता हूँ, जो मुझे संग्राम में हरा सके ॥ ३९ ॥

बृहस्पति बोले कि हे देवेंद्र शतक्रतो ! तुम्हारे अपराध से तथा प्रमाद से और महात्मा बालखिल्य महर्षियों के तप से इच्छानुकूल रूप धारण कर सकनेवाला, कश्यप तथा विनता का पुत्र आकाशचारी गरुड़ अमृत लेने को यहाँ आ रहा है। वह सकल बलवानों में श्रेष्ठ पक्षी है, इच्छानुसार रूप धर सकता है और अमृत हरकर ले जाने की शक्ति रखता है। मैं समझता हूँ, उसमें सब प्रकार की शक्ति है और वह असाध्य काम को भी साध सकता है, ऐसा शक्तिमान् है ॥ ४०–४२ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—बृहस्पतिजी के इन वचनों को सुनकर इन्द्र ने अमृत की रक्षा करनेवालों से कहा कि महाबलवान् और वीर पक्षिराज गरुड़ अमृत का हरण करने को आ रहा है ॥ ४३ ॥

युष्मान् सम्बोधयाम्येष यथा न स हरेद् बलात् ।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ॥४४॥
तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः ।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ॥४५॥
धारयन्तो विचित्राणि काञ्चनानि मनस्विनः ।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ॥४६॥
चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च ।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ॥४७॥
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः ।
सविस्फुलिङ्गज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ॥४८॥
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ।
शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥४९॥

देखो, मैं तुम्हें पहिले से ही चेतावनी दिये देता हूँ कि वह बलपूर्वक इस अमृत को हरकर न ले जाय, क्योंकि मुझ से बृहस्पतिजी ने कहा है कि इस गरुड़ पक्षी का बल अतुल है ॥ ४४ ॥

यह बात सुनकर सब देवताओं ने अचरज माना और अमृत की रक्षा करने को सावधान हो गए। वे शरीर को शोभा देनेवाले, विचित्र प्रकार के सुवर्ण के बने और वैदूर्यमणियों से जड़े हुए, बहुमूल्य, दृढ़ और दमकते हुए कवचों को (बख्तरों को) धारण करके हाथ में चमड़े के मोजे पहनकर भयानक दीखनेवाले, तैयार किये हुए और बड़ी तीखी धारवाले शस्त्रों को उठाने लगे। जिनमें से चिनगारियाँ, लपटें और धुआँ निकल रहा था ऐसे भयानक, तीखी धारवाले चक्र, त्रिशूल, नाना प्रकार की तीखी बरछियाँ, तीक्ष्ण शक्तियाँ तथा झिलमिलाती हुई तलवार आदि शस्त्रों को लेकर और भयानक गदाओं को पकड़कर प्रतापी इन्द्र सहित सब धैर्यधारी देवता अमृत को आगे पीछे से घेरकर उसकी रक्षा करने के लिये खड़े हो गए ॥ ४५-४९ ॥

तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥५०॥
अनुपमबलवीर्यतेजसो धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।
असुरपुरविदारणाः सुरा ज्वलनसमिद्धवपुःप्रकाशिनः ॥५१॥
इति समरवरं सुराः स्थितास्ते परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाम्बरान्तरं तपनमरीचिविकासितं बभासे ॥५२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

दिव्य आभूषणों से शोभायमान, नाना प्रकार के तेजस्वी चमकदार शस्त्रोंवाले और पापरहित देवता अमृत के आगे पीछे खड़े हो गए ॥ ५० ॥

अनुपम बल, वीरता और तेजवाले, जिन्होंने अमृत की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है ऐसे. और असुरों का नाश करनेवाले देवता जब इकट्ठे हुए तो उनके शरीर प्रज्वलित हुए अग्नि के समान दीप्तिसहित प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५१ ॥

इस प्रकार परिघ आदि सहस्रों शस्त्रों को लेकर खड़े हुए देवताओं से व्याप्त वह रणाङ्गण सूर्य की किरणों से झिलमिलाता हुआ ऐसा प्रतीत होता था मानो दूसरा आकाशमण्डल टूटकर नीचे गिर पड़ा है ॥ ५२ ॥

तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा बालखिल्यानां संभूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥
कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत्कथम् ॥ २ ॥
कथञ्च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

विषयोऽयं पुराणस्थो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत् संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥
यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥

शौनक पूछते हैं—हे सूतपुत्र ! इन्द्र का क्या अपराध था ? और प्रमाद क्या था ? बालखिल्य महर्षियों के तप से गरुड़ की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? ॥ १ ॥

महर्षि कश्यपजी द्विज थे, तो उनका पुत्र पक्षिराज गरुड़ कैसे हुआ ? और वह किसी से भी तिरस्कार न पानेवाला तथा सकल प्राणियों का अवध्य कैसे हुआ ? ॥ २ ॥

वह पक्षी कामचारी और अपनी इच्छानुसार पराक्रमी कैसे हुआ ? यह सब बात यदि पुराणों में कही गई हो तो मैं उसको सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्राह्मण ! तुमने जो मुझसे पूछा है, यह पुराणों का ही विषय है और हे द्विज ! यह सब मैं संक्षेप से कहता हूँ, इसको तुम सुनो ॥ ४ ॥

एक समय प्रजापति कश्यप महर्षि ने पुत्र उत्पन्न करने की कामना से यज्ञ करना चाहा, उस समय देवताओं, ऋषियों और गन्धर्वों ने उनको सहायता दी ॥ ५ ॥

तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो बालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥
शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम् ।
समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिव प्रभुः ॥ ७ ॥
अथापश्यदृषीन् ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरवर्ष्मणः ।
पलाशवृन्तिकामेकां वहतः संहतान् पथि ॥ ८ ॥
प्रलीनान् स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान् ।
क्लिश्यमानान्मन्दबलान् गोष्पदे संप्लुतोदके ॥ ६ ॥
तान् सर्वान् विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरन्दरः ।
अवहस्याभ्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ॥१०॥
तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः ।
आरेभिरे महत्कर्म तदा शक्रभयङ्करम् ॥११॥

उस यज्ञ के कार्य में बालखिल्य ऋषि, देवता तथा इन्द्र को कश्यप ऋषि ने यज्ञ की समिधाएँ लाने को भेजा ॥ ६ ॥

इन्द्र तो अपने बल के अनुसार पर्वत के समान बहुत बड़ा काठ का बोझा शिर पर उठाकर विना परिश्रम के ही ले आता था ॥ ७ ॥

ऐसा करते हुए एक दिन उसने मार्ग में अँगूठे के मध्य भाग के समान शरीरवाले, तप ही जिनका धन है ऐसे, शरीर से दुर्बल, निराहार रहनेवाले, थोड़े बलवाले और गौ के एक जलपूर्ण चरणचिन्ह में ही गोवा खा जानेवाले, अंगों में ही समाये हुए अर्थात् बहुत ठिंगने बालखिल्य ऋषियों को देखा। वे सब इकट्ठे होकर ढाक की एक शाखा को लिये हुए चले आ रहे थे ॥ ८–६ ॥

उन सब को देखकर पराक्रम के मद से मत्त हुआ इन्द्र अचरज में पड़ गया और उनकी हँसी की। इतना ही नहीं, किन्तु तुरन्त उन्ह को लाँघकर उनका तिरस्कार करके प्रजापति कश्यप के पास चला गया। इन्द्र की ऐसी करतूत से बालखिल्य ऋषियों को क्रोध चढ़ आया और उन्होंने रोष के वश में होकर इन्द्र को भय देनेवाला बड़ा कार्य आरम्भ किया ॥ १०–११ ॥

जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम् ।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥१२॥
कामवीर्यः कामगामी देवराजभयप्रदः ।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥१३॥
इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः ।
तपसां नः फलेनाद्य दारुणः सम्भवत्विति ॥१४॥
तद्बुद्ध्वा भृशसन्तप्तो देवराजः शतक्रतुः ।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
बालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥१६॥
एवमस्त्विति तच्चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः ।
तान् कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥१७॥

उन महातपस्वी बालखिल्य ब्राह्मणों ने छोटे बड़े मन्त्र पढ़कर जिस कामना से होम किया था उसको सुनो। नियम के साथ व्रत का पालन करनेवाले बालखिल्यों ने कर्म का आरम्भ करते समय यह सङ्कल्प किया कि इच्छानुकूल पराक्रम करनेवाला, जहाँ जी चाहे वहाँ जा सकनेवाला, शूरता तथा वीरता में इन्द्र को भी भय देनेवाला, इन्द्र से भी सौ गुना अधिक बलवान्, मन के समान वेगवाला, बड़ा ही दारुण, सकल देवताओं का दूसरा इन्द्र हमारे तप के बल से आज ही उत्पन्न हो ॥ १२–१४ ॥

यह बात देवराज इन्द्र को मालूम हुई तो उसको बड़ा खेद हुआ, वह भयभीत होकर श्रेष्ठ व्रतवाले कश्यपऋषि की शरण में गया और उनसे सब वृत्तान्त निवेदन किया ॥ १५ ॥

इन्द्र के कहने से प्रजापति कश्यपजी बालखिल्य ऋषियों के पास गए और उनसे तपःसिद्धि की बात पूछी, अर्थात् उनसे कहा कि तुम्हारा काम सिद्ध हुआ या नहीं? सत्यवादी बालखिल्यों ने कश्यपजी से कहा कि आपने जो कहा सो कार्य सिद्ध हो जायगा। फिर प्रजापति कश्यपजी ने उन ऋषियों को शान्त करते हुए इस प्रकार कहा—॥ १६–१७ ॥

अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद् ब्रह्मणः कृतः ।
इन्द्रार्थं च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ॥१८॥
न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्त्तुमर्हथ सत्तमाः ।
भवतां हि न मिथ्यायं सङ्कल्पो वै चिकीर्षितः ॥१९॥
भवत्वेष पतत्त्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान् ।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ॥२०॥
एवमुक्ताः कश्यपेन बालखिल्यास्तपोधनाः ।
प्रत्यूचुरभिसम्पूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥२१॥

बालखिल्या ऊचुः ।

इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते ।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ॥२२॥
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम् ।
तथा चैवं विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ॥२३॥

हे तपोधनो ! भगवान् ब्रह्माजी की आज्ञा से ही यह इन्द्र त्रिलोकी के लिये रचा गया है और तुम दूसरा इन्द्र बनाने के लिये उद्योग करते हो ॥ १८ ॥

इस कारण हे श्रेष्ठ ऋषियो ! ब्रह्माजी की बात को झूठा करना आपको शोभा नहीं देता, और आपका किया हुआ संकल्प भी मिथ्या नहीं होना चाहिये ॥ १९ ॥

सो यह आपका अतिबली और वीर इन्द्र पक्षियों का इन्द्र हो। देवताओं का राजा इन्द्र इस प्रकार आपकी प्रार्थना करता है, सो उसके उपर कृपा करिये ॥२०॥

कश्यपजी ने तपोधन बालखिल्यों से इस प्रकार कहा, तब मुनिवर प्रजापति का सत्कार करके वे इस प्रकार बोले ॥ २१ ॥

बालखिल्य ऋषि कहते हैं—हे प्रजापति ! हम सबों का यह कार्यारम्भ केवल इन्द्र के लिये ही नहीं है, किन्तु आपके संतान हो इस लिये भी इस कर्म का आरम्भ है और आपको भी इस बात की इच्छा है ही ॥ २२ ॥

अब आप ही इस प्रारम्भ होते हुए कार्य का फल स्वीकार करिये और जिस प्रकार अन्त में कल्याण देखने में आवे, उस प्रकार आप इसको पूरा कीजिये ॥२३॥

सौतिरुवाच ।

एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा ।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ॥२४॥
तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः ।
उपचक्राम भर्त्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ॥२५॥
आरम्भः सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः ।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥२६॥
तपसा बालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा ।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ॥२७॥
उवाच चैनां भगवान् कश्यपः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रदानेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥२८॥
एतौ सर्वपतत्त्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः ।
लोकसम्भावितौ वीरौ कामरूपौ विहङ्गमौ ॥२९॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस समय कीर्तिमती. दक्षप्रजापति की कन्या कल्याणी विनता देवी, पुत्र की इच्छा से तप करती हुई व्रत में लगी थी, वह मासिकधर्म के समय स्नान से शुद्ध हो अपने पति कश्यपजी के पास गई । उस समय कश्यपजी ने उससे इस प्रकार कहा—॥ २४–२५ ॥

हे देवि ! तूने अपने मन में जो विचार किया है वह विचार सफल होगा, बालखिल्य ऋषियों के तप से और मेरे संकल्प से तेरे शूरवीर और महाभाग्यशाली दो पुत्र उत्पन्न होंगे, जो कि तीनों लोकों के स्वामी और पूजनीय होंगे ॥ २६–२७ ॥

भगवान् कश्यपजी ने उससे यह बात भी विशेष रूप से कह दी कि परिणाम में सुख देनेवाले इस गर्भ को तू सावधानी से धारण करना ॥ २८ ॥

यह तेरे दोनों पुत्र पक्षियों के इन्द्र (राजा) होंगे, इनका लोक में मान होगा, ये मन में आवे वैसा रूप धारण कर सकेंगे, शक्तिमान् होंगे और आकाशचारी पक्षिजाति में इनका जन्म होगा ॥ २९ ॥

शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥३०॥
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात्ते पुरन्दर।
व्येतु ते शक्र सन्तापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥३१॥
न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः।
न चावमान्या दर्पात्ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥३२॥
एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम्।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ॥३३॥
जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा।
विकलाङ्गोऽरुणस्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ॥३४॥
पतत्त्रीणाञ्च गरुड इन्द्रत्वेनाभ्यषिच्यत।
तस्यैतत्कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥३५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

विनता से इस प्रकार कहकर दक्ष प्रजापति प्रसन्नता के साथ इन्द्र से कहने लगे कि ये महापराक्रमी दोनों भाई तेरे सहायक होंगे ॥ ३० ॥

हे पुरन्दर! इन दोनों से तेरी कुछ हानि नहीं होगी, इस कारण अब शोक को त्याग दे, तू इन्द्र रहेगा ॥ ३१ ॥

परन्तु तुझे भी अब से आगे ब्रह्मवादी ब्राह्मणों का परिहास वा अपमान घमण्ड में भरकर किसी समय भी न करना चाहिये, क्यों कि ये वाणीरूपी वज्रवाले और तीक्ष्ण कोपवाले होते हैं ॥ ३२ ॥

कश्यप ऋषि के ऐसे वचन सुनकर इन्द्र निःशङ्क हो स्वर्गलोक को चला गया और विनता की मनःकामना पूरी हुई, इस कारण वह भी आनन्द को प्राप्त हुई ॥३३॥

फिर समय आने पर विनता ने अरुण और गरुड़ इन दो पुत्रों को उत्पन्न किया, उनमें हीन अंगवाला अरुण सूर्य का सारथी हुआ ॥ ३४ ॥

गरुड़ ने भी पक्षियों का इन्द्रपद पाया। हे भृगुनन्दन! उन गरुड़जी के इस बड़े भारी चरित्र को सुनो ॥ ३५ ॥

इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ततस्तस्मिन् द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे ।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं सम्प्राप्तो विबुधान् प्रति ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वातिबलञ्चैव प्राकम्पन्त सुरास्ततः ।
परस्परञ्च प्रत्यघ्नन् सर्वप्रहरणान्युत ॥ २ ॥
तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः ।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ॥ ३ ॥
स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः ।
मुहूर्त्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ॥ ४ ॥
रजश्चोद्धूय सुमहत्पक्षवातेन खेचरः ।
कृत्वा लोकान्निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ॥ ५ ॥
तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन् ।
न चैव ददृशुश्छन्ना रजसामृतरक्षिणः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे द्विजवर ! तदनन्तर देवसेना अनेकों प्रकार के शस्त्रों को लेकर संग्राम करने के लिये तैयार हो गई, इतने में ही तुरन्त पक्षिराज गरुड़ देवताओं के आगे आ पहुँचे ॥ १ ॥

गरुड़ को बड़ा बलवान् देखकर सब देवता थर थर काँपने लगे और उनके हथियार भी परस्पर लड़ने लगे ॥ २ ॥

इस समय वहाँ महापराक्रमी, अग्नि तथा बिजली के समान महातेजस्वी, अगाध मनवाला, महाबली विश्वकर्मा अमृत की रक्षा कर रहा था। उसने गरुड़ के साथ एक मुहूर्त्त तक युद्ध किया, उस युद्ध में पंखों के झपाटे से, चोंच के प्रहार से और नखों के बकोटने से विश्वकर्मा को घायल करके उन्होंने अधमरा कर डाला ॥ ३–४ ॥

तदनन्तर गरुड़ ने अपने बड़े बड़े पङ्खों के पवन से बहुत सी धूल देवताओं के ऊपर को उड़ाकर सबों को अन्धा कर दिया और धूल से देवताओं

एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम् ।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान् स विददार ह ॥ ७ ॥
ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत् ।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत ॥ ८ ॥
अथ वायुरपोवाह तद् रजस्तरसा बली ।
ततो वितिमिरे जाते देवा शकुनिमार्दयन् ॥ ९ ॥
ननादोच्चैः स बलवान्महामेघ इवाम्बरे ।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ॥ १० ॥
उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा ।
समुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरि स्थितम् ॥ ११ ॥

को ढक दिया। देवता धूलि से ढके जाकर मूढ से हो गए और अमृत की रक्षा करनेवाले भी धूल से आच्छादित होकर अन्धे तथा भयभीत हो गए, इस कारण गरुडजी को देख भी नहीं सके ॥ ५-६ ॥

इस प्रकार गरुड़ ने धूल से स्वर्ग को क्षुब्ध कर डाला और पंखों के झपाटे से तथा चोंच के प्रहारों से देवताओं के शरीरों को चीर डाला ॥ ७ ॥

फिर इन्द्रदेव ने वायु को आज्ञा दी कि हे वायो! इस धूल के आवरण को उड़ा दो, क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है ॥ ८ ॥

ऐसा कहते ही बलवान् वायु ने बड़े वेग से धूल के आवरण को तोड़ दिया, उसी समय उजाला हो गया और देवता सावधान हो गए तथा गरुड़जी के ऊपर प्रहार करके पीड़ित करने लगे ॥ ९ ॥

परन्तु महाबली गरुड़जी ने आकाश में फिरते फिरते महामेघ के समान ऊँचे स्वर से गर्जना की और देवताओं के प्रहार सहते हुए सकल प्राणियों को भयभीत कर डाला ॥ १० ॥

तदनन्तर बड़ी वीरतावाले, शत्रुओं के नाशक गरुड़जी आकाश में ऊँचे उड़ गए और देवताओं के ऊपर आकर खड़े हो गए। तब तो आकाश में उड़के

वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन्।
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ॥१२॥
क्षुरैः प्रज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः।
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः ॥१३॥
कुर्वन् सुतुमुलं युद्धं पक्षिराड् न व्यकम्पत।
निर्दहन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान्।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद् व्यक्षिपत् सुरान् ॥१४॥
ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुगरुडार्दिताः।
नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रवुः शोणितं बहु ॥१५॥
साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम्।
प्रजग्मुः सहिता रुद्रैः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ॥१६॥
दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्याबुत्तरां दिशम्।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः ॥१७॥

हुए गरुड़जी के ऊपर सकल कवचधारी देवता इन्द्र के साथ रहकर अनेकों शस्त्र, परिघ, त्रिशूल, गदा और तीखी धारवाले छुरों के समान चक्रों तथा सूर्य के समान चमकते हुए नाना प्रकार के आयुधों से चारों ओर से गरुड़जी को मारने लगे ॥ ११-१३ ॥

परन्तु घोर युद्ध करते हुए गरुड़ इससे जरा भी विचलित नहीं हुए, किन्तु विनता के प्रतापी पुत्र गरुड़जी आकाश में फिरते हुए अपने दोनों पंख और हृदय से मानो देवताओं को जलाते हों इस प्रकार चारों ओर से उनको मारने लगे ॥ १४ ॥

गरुड़ के नख और चोंच से घायल हो जाने के कारण देवताओं के शरीरों से रुधिर की बहुत सी धार बहने लगी और गरुड़ से हारकर देवता पीछे को हटते हुए रण में से भागने लगे ॥ १५ ॥

उनमें गरुड़ से पराजय पाये हुए साध्य और गन्धर्व पूर्व दिशा को भागने लगे, रुद्रों सहित वसु देवता दक्षिण दिशा में जा छिपे, आदित्य पश्चिम दिशा

अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट् ।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ॥१८॥
उलूकश्वसनाभ्याञ्च निमेषेण च पक्षिराट् ।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च ॥१९॥
तान् पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद्विनतासुतः ।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परन्तपः ॥२०॥
महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः ।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥२१॥
तान् कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान् ।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ॥२२॥
आवृण्वानं महाज्वालमर्चिभिः सर्वतोऽम्बरे ।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम् ॥२३॥

को भाग गए और अश्विनीकुमार उत्तर दिशा में चले गये। ये महाबली योद्धा वारंवार संग्राम की ओर को देखते और लड़ते लड़ते भागने लगे ॥ १६-१७ ॥

हे परन्तप ! महापराक्रमी गरुड़ ने पराक्रमी अश्वक्रन्द, रेणुक, वीरवर क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमेष, प्ररुज और पुलिन इन नौ यक्षों के साथ घोर युद्ध करके प्रलय के समय कोप में भरे हुए पिनाकपाणि शिव के समान पंख, नख और चोंच की तीक्ष्णता से ने उनको चीर डाला ॥ १८-२० ॥

इस प्रकार गरुड़जी ने महाबली और परम उत्साही बहुत से देवताओं को अनेकों प्रकार से घायल कर डाला, जो कि रुधिर के समूह को बरसाते हुए घने मेघों के समान शोभा पा रहे थे ॥ २१ ॥

इस प्रकार पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़जी देवताओं का संहार करके अमृत लेने को आगे बढ़े, तो उन्होंने अमृत के चारों ओर अग्नि को जलता हुआ देखा ॥ २२ ॥

उसकी बड़ी बड़ी लपटें थीं, वह अपनी लपटों से सकल आकाश को ढके देता था, दूर से जलते हुए सूर्य के समान दीखता था और प्रचण्ड वायु से बढ़ रहा था ॥ २३ ॥

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां कृत्वा महात्मा गरुडस्तरस्वी ।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तै सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन ॥२४॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः ।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे गरुडयुद्धे
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

उस अग्नि को देखते ही महापराक्रमी, शत्रुओं को ताप देनेवाले तथा पंखरूपी रथ पर बैठनेवाले तपस्वी महात्मा गरुड़जी अपने आठ सहस्र एक सौ मुख करके उनसे नदियों का जल पी गए और तुरन्त वेग के साथ आकर भकभक जलते हुए उस अग्नि में नदियों का जल उगलकर उस जलते हुए अग्नि को ढक दिया। इस प्रकार अग्नि को शान्त करने के बाद, अमृत के पास जाने की इच्छा से उन्होंने अपने बड़े भारी शरीर को संकुचित कर दूसरा छोटा सा शरीर धारण किया ॥ २४–२५ ॥

बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥



तेतीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः ।
प्रविवेश बलात्पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ॥ १ ॥
स चक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥
ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदस्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥
तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणावपतत् संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥
अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर गरुड़जी सूर्यकिरणों के समान उज्ज्वल सुवर्णमय शरीर को धारण करके जैसे जल का प्रवाह वेग के साथ समुद्र में घुसता है वैसे ही जहाँ अमृत था उस स्थान में घुस गए ॥ १ ॥

वहाँ उन्होंने लोहे का एक चक्र अमृत के आस पास निरन्तर घूमता हुआ देखा, उसकी धार बड़ी ही तीखी थी, कदम्ब के मुकुल के समान सहस्रों छुरे उसमें लगे हुए थे ॥ २ ॥

उसकी कान्ति अग्नि और सूर्य के समान थी, उसका रूप महाघोर था, वह अमृत हर ले जानेवाले को काटने के लिये था और उस चक्र को देवताओं ने बनाया था ॥ ३ ॥

गरुड़ उस चक्र के बीच का मार्ग देखते हुए खड़े रहे और फिर क्षणभर में अपने शरीर को संकुचित करके उस चक्र के अरे के मध्य भाग में होकर उसके भीतर पहुँच गए ॥ ४ ॥

वहाँ उन्होंने उस चक्र के नीचे जलते हुए अग्नि के समान कान्तिवाले, बिजली के समान लपलपाती हुई जीभवाले, बड़े पराक्रमी, तेजस्वी मुखवाले, विष

चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥
सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत्स तूर्णम्भस्मसाद्भवेत् ॥ ७ ॥
तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसावृणोत्।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत् ॥ ८ ॥
तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः।
आच्छिनत्तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत्ततः ॥ ९ ॥
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ॥१०॥
अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशु निःसृतः।
आगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां ततः ॥११॥

से भरी हुई चमकीली आँखोंवाले, महाभयानक, नित्य क्रोध में भरे रहनेवाले बड़े वेग में भरे हुए दो महासर्पों को उस अमृत की ही रक्षा करने को उद्यत हुए देखा ॥ ५-६ ॥

उनकी आखें पल भर को भी वन्द नहीं होती थीं और हर समय क्रोध से ही भरी रहती थीं। उनमें से एक भी यदि किसी को दृष्टि से देख ले तो वह जलकर भस्म हो जाय ॥ ७ ॥

सुन्दर परोंवाले गरुड़जी ने एकाएक उनकी आँखों में धूल झोंककर बन्द कर दिया और फिर वह दोनों देख न सकें इस प्रकार चारों ओर से उनको मारने लगे ॥ ८ ॥

फिर आकाशचारी, विनता के पुत्र गरुड़जी उन दोनों के शरीर पर चढ़ वैठे और अपने शरीर के वल से कुचल डाला, फिर झपटकर अमृत के पास गए ॥ ९ ॥

तदनन्तर आस पास फिरकर उस चक्र को तोड़ डाला और उस अमृत-के पात्र को लेकर वीर पक्षी गरुड़जी वहाँ से बड़े ही वेग के साथ ऊपर को उड़े ॥ १० ॥

गरुड़जी अमृत को पिये बिना ही उस अमृत के पात्र को लेकर बाहर

विष्णुना च तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान् ।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ॥१२॥
तमुवाचाव्ययो देवो वरदोस्मीति खेचरम् ।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥१३॥
उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम् ॥१४॥
एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ॥१५॥
भवतेऽपि वरन्दद्यां वृणोतु भगवानपि ।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ॥१६॥
ध्वजञ्च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यतीति तम् ।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ॥१७॥

निकल आये और विना ही थके सूर्य की कान्ति को मन्दी करते हुए आकाश में उड़ने लगे ॥ ११ ॥

आकाश में विनता के पुत्र गरुड़जी को विष्णु भगवान् मिले। अमृत को पीने के लालच से रहित उनके इस कार्य से प्रसन्न होकर अविनाशी भगवान् नारायण गरुड़जी से कहने लगे कि मैं वरदान देनेवाला हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। ऐसा कहने पर आकाश में उड़नेवाले गरुड़जी ने वर माँगा कि आप मुझे अपनी ध्वजा में रखिये। फिर उन्होंने नारायण से यह भी कहा कि हे महाराज ! मैं अमृत विना पिये ही अजर और अमर हो जाऊँ ॥ १२-१४ ॥

भगवान् ने विनता के पुत्र गरुड़जी से कहा कि अच्छा, ऐसा ही होगा। इस प्रकार वरदान पाकर गरुड़ ने विष्णु से कहा—॥ १५ ॥

मैं भी आप को वरदान देता हूँ, सो आप मुझसे वरदान माँग लीजिये। इस पर विष्णु भगवान् ने उन महाबलवान् गरुड़जी से अपना वाहन बनने की याचना की ॥ १६ ॥

एवं भगवान् ने 'मेरे रथ की ध्वजा पर बैठो' ऐसा कहकर उनको अपने रथ की ध्वजारूप में मान लिया। 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' इस प्रकार नारायण

वव्राज तरसा वेगाद्वायुं स्पर्द्धन्महाजवः।
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ॥१८॥
हरन्तममृतं रोषाद् गरुडं पक्षिणां वरम्।
तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ॥१९॥
प्रहसन् श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः।
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसम्भवम् ॥२०॥
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो।
एतत्पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे ॥२१॥
न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन।
एवमुक्त्वा ततः पत्रमुत्ससर्ज स पक्षिराट् ॥२२॥
तदुत्सृष्टमभिप्रेक्ष्य तस्य पर्णमनुत्तमम्।
हृष्टानि सर्वभूतानि नाम चक्रुर्गरुत्मतः ॥२३॥

देव से कहकर महाबली गरुड़जी बड़े वेग से वायु के साथ स्पर्धा करते हुए आकाशमार्ग में उड़ने लगे। इस समय सकल पक्षियों में श्रेष्ठ और अमृत का हरण करके आकाश में उड़ते हुए गरुड़जी को देखकर इन्द्र क्रोध में भर गया और उसने वज्र का प्रहार किया। तब पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़जी ने अपने ऊपर वज्र का प्रहार होने पर कोलाहल के साथ हँसते हुए कोमल वाणी में इन्द्र से कहा—हे देवेश! जिनकी हड्डी से यह वज्र बना है उन ऋषि का मैं सन्मान करूँगा ॥ १७–२० ॥

मैं वज्र का भी सन्मान करूँगा, परन्तु हे इन्द्र! मैं अपने एक पंख को छोड़े देता है, उस का तुम अन्त नहीं पा सकोगे ॥ २१ ॥

तुम्हारे वज्र के प्रहार से मुझे जरा भी पीड़ा नहीं हुई है। इस प्रकार कह-कर पक्षियों के राजा गरुड़जी ने अपना एक पंख इन्द्र की ओर को फेंक दिया ॥ २२ ॥

उस फेंके हुए उत्तम पंख को देखकर सब लोकों को बड़ा आनन्द हुआ और उस की सुन्दरता से मोहित हो 'इस पक्षी का 'सुपर्ण' नाम हो' ऐसा कह-

सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति ।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाभ्यभाषत ॥२४॥

शक्र उवाच ।

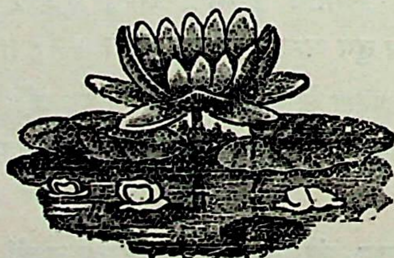
बलं विज्ञातुमिच्छामि तत्ते परमनुत्तमम् ।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

कर उनका सुपर्ण नाम रक्खा। इस बड़े अचरज को देखकर सहस्र नेत्रवाला पुरन्दर इन्द्र, यह पक्षी कोई बड़ा पराक्रमी प्राणी है ऐसा समझता हुआ कहने लगा ॥ २३–२४ ॥

इन्द्र ने कहा—हे पक्षियों में श्रेष्ठ! तुम्हारा जो उत्तम बल है उसको जानना चाहता हूँ और मैं यह भी चाहता हूँ कि तुम्हारे साथ मेरी अटूट मित्रता हो ॥ २५ ॥

तेतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥



चौंतीसवाँ अध्याय

गरुड उवाच ।

सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरन्दर ।
बलन्तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च ॥ १ ॥
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
गुणसंकीर्त्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ॥ २ ॥
सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया ।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः ॥ ३ ॥
सपर्वतवनामुर्वीं ससागरजलामिमाम् ।
वहे पक्षेण वै शक्र त्वामप्यत्रावलम्बिनम् ॥ ४ ॥
सर्वान् संपीडितान्वापि लोकान् सस्थाणुजङ्गमान् ।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद् बलम् ॥ ५ ॥

गरुड़ ने कहा—हे इन्द्रदेव ! आप जैसा चाहते हो ऐसा ही हो, मेरी और आपकी मित्रता हो, मैं आपको बताये देता हूँ कि मेरा बल बहुत अधिक और असह्य है ॥ १ ॥

हे सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र ! स्वयं ही अपने गुण गाना अथवा अपने बल की प्रशंसा करना, इस बात को सत्पुरुष बहुधा अच्छा नहीं बताते ॥ २ ॥

परन्तु हे मित्र ! तुम मुझे मित्र मानकर पूछते हो तो अच्छा, मैं तुम्हें मित्र गिनकर कहे देता हूँ, तथापि विना कारण के अपनी प्रशंसा की बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ३ ॥

हे शक्र ! पर्वत, वन, समुद्र और जल सहित इस पृथ्वी को और इसके ऊपर रहनेवाले तुमको अथवा इकट्ठे ही इन स्थावर जङ्गमरूप सब लोकों को मैं अपने एक पंख के ऊपर उठाकर विना परिश्रम ही उड़ सकता हूँ। आप समझ लो कि मेरा ऐसा बड़ा भारी बल है ॥ ४-५ ॥

सौतिरुवाच ।

इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः ।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ ६ ॥
एवमेव यथात्थ त्वं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ।
संगृह्यतामिदानीं मे सख्यमत्यन्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥
न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम् ।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद्भवानिमम् ॥ ८ ॥

गरुड उवाच ।

किञ्चित्कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया ।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ॥ ६ ॥
यत्रेमन्तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम् ।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदिवेश्वर ॥१०॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे शौनक ! शूरवीर गरुड़जी के इस प्रकार कहे हुए वचनों को सुनकर सब लोकों के हितैषी, मुकुटधारी, देवताओं के राजा, महालक्ष्मीवान इन्द्र उनसे कहने लगे—॥ ६ ॥

तुम जो कुछ कहते हो, यह सब सत्य है, तुम में यह सब सम्भव है, अब तुम मेरी परमोत्तम मित्रता को अङ्गीकार करो ॥ ७ ॥

तुमको यदि इस अमृत की आवश्यकता न हो तो मुझे दे दो, क्योंकि यह अमृत तुम जिनको दोगे, वह हमें दुखी करेंगे ॥ ८ ॥

गरुड़ ने कहा—मैं इस अमृत को किसी कारणवश लिये जाता हूँ, मैं इसे पीने के लिये किसी को नहीं दूँगा ॥ ६ ॥

हे सहस्राक्ष ! मैं स्वयं इस अमृत को ले जाकर केवल एक स्थान पर रक्खा रहने दूँगा, हे स्वर्गपति ! वहाँ से आप इसको तुरन्त ले जाना ॥ १० ॥

शक्र उवाच ।

वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत्त्वयोक्तमिहाण्डज ।
यमिच्छसि वरं मत्तस्तं गृहाण खगोत्तम ॥११॥

सौतिरुवाच ।

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन् ।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥१२॥
ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थितम् ।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥१३॥
तथेत्युक्त्वान्वगच्छत्तं ततो दानवसूदनः ।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ॥१४॥
स चान्वमोदत्तं चार्थं यथोक्तं गरुडेन वै ।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ॥१५॥

इन्द्र ने कहा—हे गरुड़ ! तुम्हारे इस कथन से मुझे संतोष हो गया, इस कारण हे पक्षियों में श्रेष्ठ ! तुम्हें जिस वरदान की आवश्यकता हो मुझसे माँग लो ॥ ११ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार इन्द्र ने कहा, तब कद्रू के पुत्रों की करतूत, जिसमें उन्होंने इन्द्र के घोड़े की पूँछ को काला बनाकर गरुड़जी की माता को दासी बना दिया था, उसका स्मरण करके गरुड़ ने कहा—यद्यपि मैं सब का स्वामी हूँ तो भी आपकी याचना को मान्य करता हूँ, अर्थात् किसी दूसरे को अमृत नहीं दूँगा। अब हे इन्द्र ! मैं आपसे वर माँगता हूँ कि महाबलवान् सर्प मेरे भोजन हों ॥ १२–१३ ॥

दानवों को मारनेवाले इन्द्र ने कहा—अच्छा ऐसा ही होगा। इस प्रकार गरुड़ को वर देकर इन्द्र देवों के देव और योगियों के ईश्वर महात्मा श्री हरि के पास चला गया ॥ १४ ॥

श्री हरि ने भी गरुड़ के कथन की सराहना की, तब देवराज इन्द्र ने गरुड़ से कहा कि तुम जिस समय इस अमृत को नीचे धरोगे मैं उसी समय

हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम्।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिके ॥१६॥
अथ सर्वानुवाचेदं सर्पान् परमहृष्टवत्।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ॥१७॥
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ॥१८॥
अदासी चैव मातेयमद्य प्रभृति चास्तु मे।
यथोक्तं भवतामेतद्वचो मे प्रतिपादितम् ॥१९॥
ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥२०॥
अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥२१॥

इसको हर कर ले आऊँगा। इस प्रकार गरुड़ से कहकर इन्द्र चला गया। फिर सुपर्ण (गरुड़) बड़े वेग से तुरन्त जहाँ उनकी माता थी वहाँ उसके पास आ पहुँचे ॥ १५–१६ ॥

वहाँ नकली प्रसन्नता प्रकट कर गरुड़ ने इस प्रकार सब सर्पों से कहा कि लो, मैं यह अमृत ले आया हूँ, परन्तु अभी तुम रुको और मुझे इसे कुशों के ऊपर रखने दो तथा तुम स्नान और मङ्गल कर्म करके पवित्र हो जाओ। तब हे सर्पों! तुम यहाँ बैठकर इसको पीना। अब तुम्हारे कहने के अनुसार मेरी माता भी आज से दासीपन से छूट गई, क्योंकि मैंने तुम्हारे कहने के अनुसार तुम्हारे वचन का सब प्रकार से पालन किया है ॥ १७–१९ ॥

तदनन्तर सर्प गरुड़जी से 'तथास्तु' कहकर स्नान करने चले गए, इतने ही में इन्द्र भी कुशों के ऊपर रक्खे हुए उस अमृत को लेकर स्वर्ग में चला गया ॥ २० ॥

जब नहा धोकर, जप तथा मङ्गल कर्म करके प्रसन्न होते हुए सर्प अमृत पीने को उस स्थान पर आये तो उन्हें प्रतीत हुआ कि जहाँ अमृत रक्खा था,

यत्रैतदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे।
तद्विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ॥२२॥
सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा।
ततो द्विधा कृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ॥२३॥
अभवंश्चामृतस्पर्शाद्दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः।
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च।
द्विजिह्वाश्च कृताः सर्पा गरुडेन महात्मना ॥२४॥
ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्
विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगै-
रहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥२५॥

वहाँ से उसको कोई हर ले गया, सर्पों ने सोचा कि हमने जैसे विनता को दासी बनाने के लिये कपट किया था, वैसे ही गरुड़ ने हमारे साथ कपट किया है॥ २१-२२॥

ऐसा समझकर जहाँ पहिले अमृत रखा गया था उस स्थान की खोज करके सर्प वहाँ के कुशों को चाटने लगे, ऐसा करने से उन सर्पों की जीभ के चिर जाने से दो भाग हो गए॥ २३॥

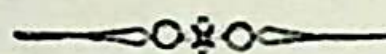
उस दिन से ही अमृत का स्पर्श होने से कुश पवित्र माने जाने लगे। इस प्रकार गरुड़ स्वर्ग में से अमृत लाये, इन्द्र उसको फिर हरकर ले गया और महात्मा गरुड़ ने सर्पों की जीभ के दो भाग कर दिये॥ २४॥

उस दिन से गरुड़जी परम आनन्द पाकर अपनी माता सहित उस वन में विहार करने लगे और सकल पक्षियों से परम सन्मान पाते हुए पूर्ण कीर्त्ति के साथ सर्पों का भक्षण करके माता को आनन्द देने लगे॥ २५॥

इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा
पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात्स पुण्यभाग्
महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्त्तनात् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सौपर्णे आस्तीके
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

सौपर्णं समाप्तम् ।



जो मनुष्य इस कथा को उत्तम ब्राह्मणों की सभा में ब्राह्मणों के मुख से सुनता है तथा पढ़ता है, वह महात्मा गरुड़ के चरित्र को गाने से पुण्यवान् होकर अवश्य ही स्वर्ग में जाता है ॥ २६ ॥

चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥



पैंतीसवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥
वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥
पन्नगानां तु नामानि न कीर्त्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन ।
न कीर्त्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ॥ ४ ॥
शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ ५ ॥

शौनक पूछते हैं—हे सूतपुत्र ! सर्पों को उनकी माता का और विनता को उसके पुत्र का शाप हुआ; इसका कारण तो तुम ने हम से कहा ॥ १ ॥

कद्रू तथा विनता को उनके स्वामी ने जो वरदान दिये वह कथा तथा उसके दो पक्षी पुत्रों के नाम भी तुमने हमसे कहे ॥ २ ॥

परन्तु हे सूतपुत्र ! तुमने सर्पों के नाम हमसे नहीं कहे, इस लिये हम मुख्य मुख्य सर्पों के नाम सुनना चाहते हैं ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं कि हे तपोधन ! सर्प बहुत से हैं, इस कारण मैं तुमसे सब के नाम नहीं कहूँगा, परन्तु बड़े बड़े सर्पों के नाम कहता हूँ, उनको तुम सुनो ॥ ४ ॥

पहिले शेषजी उत्पन्न हुए, फिर वासुकि, ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनञ्जय ॥ ५ ॥

कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ॥ ७ ॥
सुरामुखो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो बालिशिखस्तथा ॥ ८ ॥
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥
कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा ।
वृत्तसंवर्त्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥१०॥
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः ।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥११॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो बिल्वको बिल्वपाण्डरः ।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ॥१२॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ॥१३॥

कालिय, मणिनाग, आपूरण, पिञ्जरक, एलापत्र, वामन ॥ ६ ॥

नील, अनील, कल्माष, शबल, आर्यक, उग्रक, कलशपोतक ॥ ७ ॥

सुरामुख, दधिमुख, विमलपिण्डक, आप्त, कर्कोटक, शङ्ख, बालिशिख ॥ ८ ॥

निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिङ्गल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिण्डक ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, कालीयक, वृत्त, संवर्त्तक, पद्म नाम के दो सर्प ॥ १० ॥

शंखमुख, कूष्माण्डक, क्षेमक, पिण्डारक ॥ ११ ॥

करवीर, पुष्पदंष्ट्र, बिल्वक, बिल्वपाण्डर, मूषकाद, शंखशिर, पूर्णभद्र, हरिद्रक ॥ १२ ॥

अपराजित, ज्योतिक, श्रीवह, कौरव्य, धृतराष्ट्र, वीर्यवान् शङ्खपिण्ड ॥ १३ ॥

विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान् ।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ॥१४॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ॥१५॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः ।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥१६॥
एते प्राधान्यतो नागाः कीर्त्तिता द्विजसत्तम ।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ॥१७॥
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च सन्ततिः ।
असंख्येयेति मत्वा तान्न ब्रवीमि तपोधन ॥१८॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके सर्पनामवर्णने
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

विरजा, सुबाहु, वीर्यवान् शालिपिण्ड, हस्तिपिंड, पिठरक, सुमुख, कौण-पाशन ॥ १४ ॥

कुठर, कुञ्जर, प्रभाकर, कुमुद, कुमुदाक्ष, तित्तिरि, हलिक ॥ १५ ॥

महानाग कर्दम, बहुमूलक, कर्कर, अकर्कर, कुण्डोदर और महोदर ॥ १६ ॥

हे द्विजवर ! यह प्रधान प्रधान सर्पों के नाम मैंने तुमसे कहे, परन्तु और भी बहुत से नाम हैं, इस कारण अन्य सर्पों के नाम यहाँ नहीं गिनाये हैं ॥ १७ ॥

इन नागों की सन्तान तथा सन्तान की सन्तान अनगिनती हैं, ऐसा समझकर हे तपोधन ! मैं उनके नाम नहीं कहता हूँ ॥ १८ ॥

हे तपोधन ! सर्पों को संख्या सहस्रों, लाखों और पद्मों की है, उनकी गिनती हो ही नहीं सकती ॥ १९ ॥

पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः ।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ॥ १ ॥

सूत उवाच ।

तेषान्तु भगवाञ्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः ।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥
गन्धमादनमासाद्य बदर्यांश्च तपोरतः ।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च ।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥
तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः ।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम् ॥ ५ ॥
तमब्रवीत् सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः ।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥

शौनक पूछते हैं—हे तात! पराक्रमी और दुरासद सर्पों के नाम तुम ने मुझसे कहे; परन्तु उन्होंने कद्रू के शाप को सुनने के बाद क्या किया यह भी तो कहिये ॥ १ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—ऊपर कहे गये सर्पों में बड़े यशवाले भगवान् शेष-नाग कद्रू को त्याग कर व्रत धारणपूर्वक वायु का भक्षण करते हुए कठिन तप करने लगे ॥ २ ॥

गंधमादन, बदरिकाश्रम, गोकर्ण, पुष्करारण्य और हिमालय की तलहटी में तथा और भी बहुत से पवित्र तीर्थों और धामों में शेषनाग एकान्तवासी और सर्वदा जितेंद्रिय रहकर भयंकर तपस्या करने लगे। घोर तप करते हुए उन मुनिव्रती को पितामह ब्रह्माजी ने देखा कि उनके शरीर का मांस, त्वचा और नाड़ियाँ सूख गई थीं, वे शरीर पर वृक्षों की छाल के वस्त्र और शिर पर जटा धारण

त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ ।
ब्रूहि कामञ्च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

शेष उवाच ।

सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥
अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठं नैतान् पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥
न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनताञ्च ते ।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥१०॥
तञ्च द्विषन्ति सततं स चापि बलवत्तरः ।
वरप्रदानात्स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥११॥

किये हुए थे। सत्य के आधार पर ऐसा तप करनेवाले उन शेष भगवान् से पितामह ब्रह्माजी ने कहा कि हे शेष! तू यह क्या कर रहा है, प्रजाओं का कल्याण कर ॥ ३–६ ॥

हे निर्दोष शेष! तू अपने तीव्र तप से प्रजाओं को तपा रहा है, तेरे मन में जो इच्छा हो वह मुझसे कथन कर ॥ ७ ॥

शेष ने कहा कि मेरे सब सगे भाई मन्दबुद्धि हैं, इस कारण मैं उनके साथ रहना नहीं चाहता। सो आप इस बात को मान लीजिये ॥ ८ ॥

वे शत्रु के समान नित्य एक दूसरे को देख नहीं सकते हैं, इस कारण मैं ऊबकर इस तपश्चर्या में लगा हूँ कि जिससे मैं उनको नहीं देखूँ ॥ ९ ॥

वे नित्य विनता को और उसके पुत्रों को नहीं देख सकते किन्तु उनके साथ वैरभाव रखते हैं, विनता का पुत्र आकाशचारी गरुड़ निःसंदेह हमारा दूसरा भाई है ॥ १० ॥

वे उसके साथ भी सदा वैरभाव रखते हैं, और हमारे पिता महात्मा कश्यपजी के वरदान से गरुड़ बड़ा ही बलवान् है ॥ ११ ॥

सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
यथा मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात्सह सङ्गमः ॥१२॥
तमेवं वादिनं शेषं पितामह उवाच ह ।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातृणां ते विचेष्टितम् ॥१३॥
मातुश्चाप्यपराधाद्वै भ्रातृणां ते महद्भयम् ।
कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ॥१४॥
भ्रातृणां तव सर्वेषां न शोकं कर्त्तुमर्हसि ।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत्तेऽभिकांक्षितम् ॥१५॥
दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम ।
भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥१६॥

शेष उवाच ।

एष एव वरो देव कांक्षितो मे पितामह ।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥१७॥

इन सब कारणों से ही मैं तप करके अपने इस शरीर को त्याग दूँगा, जिससे मरने के बाद भी मेरा और उनका समागम न हो ॥ १२ ॥

इस प्रकार कहते हुए शेषजी से भगवान् ब्रह्माजी ने कहा कि हे शेष ! मैं तेरे सब भाइयों के चरित्र को जानता हूँ ॥ १३ ॥

तेरी माता के अपराध से तेरे भाइयों को बड़ा भय उत्पन्न हुआ है, परन्तु हे शेष ! उसका उपाय मैंने पहिले से ही ठीक कर रक्खा है ॥ १४ ॥

इस कारण अपने सब भाइयों के लिये तुझे अधिक शोक करना उचित नहीं है, हे शेष ! तुझे इच्छा हो तो तू मुझसे वरदान माँग ले ॥ १५ ॥

तेरे ऊपर मेरा बहुत प्रेम है, इस कारण मैं आज तुझे वरदान दूँगा। हे सर्पों में श्रेष्ठ ! तेरी बुद्धि धर्म पर ठहरी हुई है, यह बड़ी अच्छी बात है, वारंवार तेरी बुद्धि धर्म पर ही ठहरी रहे ॥ १६ ॥

शेषजी ने कहा कि हे ब्रह्मदेव ! मैं यही वर चाहता हूँ कि हे ईश्वर ! मेरी बुद्धि धर्म में, शान्ति में और तप में ही लगी रहे ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच ।

प्रीतोस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात् प्रजाहितम् ॥१८॥
इमां महीं शैलवनोपपन्नां ससागरग्रामविहारपत्तनाम् ।
त्वं शेष सम्यक् चलितां यथावत्संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात् ॥१९॥

शेष उवाच ।

यथाह देवो वरदः प्रजापतिर्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयितास्मि निश्चलां प्रयच्छ तां मे शिरसि प्रजापते ॥२०॥

ब्रह्मोवाच ।

अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।
इमां धरां धारयता त्वया हि मे महत् प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥२१॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे शेष ! तेरे इस दम (बाहरी इन्द्रियों को वश में रखने) और शम (भीतरी इन्द्रियों को वश में रखने) से ही मैं प्रसन्न हुआ हूँ, परन्तु मेरी आज्ञा से तुझे प्रजा के हितार्थ आगे बताया गया काम करना चाहिये, वह काम यह है ॥ १८ ॥

पर्वत, वन, सागर, ग्राम, विहार और नगरों सहित यह पृथिवी चलायमान हुआ करती है, हे शेष ! इसको तू उत्तम रीति से धारण कर ले जिससे कि यह अचल और स्थिर खड़ी रहे ॥ १९ ॥

शेषजी ने कहा कि—वरदान देनेवाले प्रजापति, महीपति, भूतपति और संक्षेप में सब जगत् के पति आप जैसा कहते हैं, उसके अनुसार ही मैं जैसे यह पृथ्वी डगमगायेगी नहीं उसी प्रकार धारण करूँगा । हे प्रजापति ! आप पृथिवी को मेरे मस्तक पर रख दो ॥ २० ॥

ब्रह्मा ने कहा—हे श्रेष्ठ सर्प ! तू पृथिवी के भीतर घुस जा, वहाँ जाने के लिये पृथिवी तुझे स्वयं ही मार्ग दे देगी । हे शेष ! इस पृथिवी को धारण करने से तू मेरा परमप्रिय काम करनेवाला कहलायेगा ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच ।

तथेति कृत्वा विवरं प्रविश्य स प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।
बिभर्त्ति देवीं शिरसा महीमिमां समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥२२॥

ब्रह्मोवाच ।

शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो महीमिमां धारयसे यदेकः ।
अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां यथाहमेवं बलभिद्यथा वा ॥२३॥

सौतिरुवाच ।

अधोभूमौ वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।
धारयन्वसुधामेकः शासनाद् ब्रह्मणो विभुः ॥२४॥
सुपर्णश्च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके शेषतपस्यायां
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर बड़े बड़े सर्पों के बड़े भाई समर्थ शेषनागजी ब्रह्माजी के कहने के अनुसार पृथिवी के दिये हुए मार्ग में प्रवेश करके नीचे चले गए और समुद्र जिसका सिरा है ऐसी इस पृथ्वी देवी को चारों ओर से पकड़कर अपने मस्तक पर धारण कर लिया ॥ २२ ॥

फिर ब्रह्माजी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि हे नागों में उत्तम ! तू शेष है, तू धर्मदेव है, क्योंकि तू अकेला ही अपने अनन्त फणों से इस सारी पृथ्वी को जैसे मैं या इन्द्र धारण करते हैं वैसे ही धारण करता है ॥ २३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से प्रतापी शेषनाग पाताल में रहकर अकेले ही पृथ्वी को धारण करते हैं। इसी प्रकार देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् पितामह ने विनता के पुत्र गरुड़ को शेषजी की सहायता में नियुक्त किया, अर्थात् उनको परस्पर मित्र बना दिया ॥ २४–२५ ॥

छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच

मातुः सकाशात्तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत्कथम् ॥ १ ॥
ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वैर्धर्मपरायणैः ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच।

अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथानघाः।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥
सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ॥ ४ ॥
अव्ययस्याप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाग्रतः।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—सर्पों में श्रेष्ठ वासुकि नाग ने माता के (पहिले दिये हुए) शाप को सुनकर, यह शाप कैसे दूर हो, इस विषय का विचार किया ॥ १ ॥

उसने ऐरावत आदि धर्मपरायण सब भाइयों के साथ इस शाप के विषय में विचार किया ॥ २ ॥

वासुकि ने कहा कि हे निर्दोष सर्पो! यह शाप जिस प्रकार दिया गया है सो तुम जानते ही हो। अब उस शाप से छूटने के लिये हम को विचार करके प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥

सब प्रकार के शापों की निवृत्ति का उपाय है, परन्तु माता के दिये हुए शाप से छूटने का कोई भी उपाय नहीं दीखता ॥ ४ ॥

यह शाप सब के स्वामी, अप्रमेय, अजर, अमर, ब्रह्माजी के सामने ही हमारी माता ने हमें दिया था, इस बात का स्मरण आते ही हमारा हृदय काँप उठता है ॥ ५ ॥

नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः ।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥
तस्मात्संमन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम् ।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ॥ ७ ॥
सर्वे एव हि नस्तावद् बुद्धिमन्तो विचक्षणाः ।
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ॥ ८ ॥
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम् ।
यथा स यज्ञो न भवेद्यथा वापि पराभवः ।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच ।

तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः ।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ॥१०॥

वास्तव में यह हम सबों का विनाशकाल ही आ पहुँचा है, नहीं तो क्या अविनाशी ब्रह्मदेव ऐसा शाप देते समय हमारी माता को रोकते नहीं ? ॥ ६ ॥

इस कारण अब हमें कोई ऐसा उपाय विचारना चाहिये, जिसमें सब सर्पों का नाश न हो, किन्तु हमारा हित हो। यह समय वृथा नहीं जाना चाहिये ॥ ७ ॥

हम सब चतुर और विचारशील हैं. इस कारण हम को विचार करके इस शाप से छूटने का उपाय निकालना चाहिये ॥ ८ ॥

पूर्वकाल में जैसे गुहा में गुप्त रहनेवाले खोये हुए अग्नि को देवताओं ने ढूँढ़ निकाला था, वैसे ही हमें भी कोई ऐसा उपाय खोजकर निकालना चाहिये, जिसमें जनमेजय का यज्ञ न हो और सर्पों का नाश होने से बच जाय ॥ ९ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तब 'बहुत अच्छा' कहकर कद्रू के सब पुत्र एक स्थान पर इकट्ठे हो गए और विचार करने में चतुर वे सब अपना अपना विचार एक दूसरे को बताने लगे ॥ १० ॥

एके तत्राब्रुवन्नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः ।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ॥११॥
अपरे त्वब्रुवन्नागास्तत्र पण्डितमानिनः ।
मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसम्मताः ॥१२॥
स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम् ।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो यथा यज्ञो निवर्त्स्यति ॥१३॥
स नो बहुमतान् राजा बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरः ।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥१४॥
दर्शयन्तो बहून् दोषान् प्रेत्य चेह च दारुणान् ।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥१५॥
अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति ।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥१६॥

उनमें सब से पहिले कितने ही सर्पों ने कहा कि हम उत्तम ब्राह्मण का स्वरूप धारण कर जनमेजय से यह माँगेंगे कि तुम इस यज्ञ को मत करो ॥ ११ ॥

तब दूसरे कितने ही नाग, जो अपने को बुद्धिमान् समझते थे, कहने लगे कि हम सब उसके माननीय मन्त्री बन जायँगे, तो वह हर एक काम में हमारी ही संमति लिया करेगा। उस समय हम उसको ऐसी सम्मति देंगे कि जिससे यज्ञ न हो सकेगा ॥ १२–१३ ॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ वह राजा हम को बड़ा मान्य समझकर यज्ञ करने के लिये पूछेगा, तब हम उसको यज्ञ करने का निषेध कर देंगे ॥ १४ ॥

हेतु तथा कारणों से इस लोक में तथा मरण के पीछे होनेवाले यज्ञ के दारुण दोषों को दिखावेंगे, जिससे वह सर्पयज्ञ नहीं होगा ॥ १५ ॥

अथवा वहाँ जो कोई सर्पयज्ञ की विधि का यथार्थ ज्ञाता और राजकार्य का हितैषी हो उस उपाध्याय को एक साँप जाकर डसे ले,—जिससे वह

तं गत्वा दशतां कश्चिद् भुजङ्गः स मरिष्यति ।
तस्मिन्मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ॥१७॥
ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः ।
तांश्च सर्वान् दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥१८॥
अपरे त्वब्रुवन्नागा धर्मात्मानो दयालवः ।
अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ॥१९॥
सम्यक् सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा ।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥२०॥
अपरे त्वब्रुवन्नागाः समिद्धं जातवेदसम् ।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ॥२१॥
स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः ।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्नमेवं भविष्यति ॥२२॥

मर जाय। इस प्रकार यज्ञ करानेवाले के मर जाने पर यज्ञ बन्द हो जायगा ॥ १६–१७ ॥

इतना ही नहीं, किन्तु जो सर्पयज्ञ के ज्ञाता और ऋत्विज होने योग्य हों उन सब को हम डस लेंगे, ऐसा करने से भी हमारा काम सिद्ध हो जायगा ॥ १८ ॥

इस सम्मति को सुनकर दूसरे सर्प, जो अधिक धर्मात्मा और दयालु थे, वे कहने लगे कि यह तुम्हारी सम्मति खोटी है, क्योंकि ब्रह्महत्या करना अच्छा नहीं है ॥ १९ ॥

सङ्कट के समय में सर्वथा श्रेष्ठ धर्म के अनुसार उत्तम उपायों को ग्रहण करना ही अच्छा है, किन्तु अधर्म का मार्ग अन्त में सब जगत् का नाश कर डालता है ॥ २० ॥

दूसरे नाग कहने लगे कि हम बिजलीवाले मेघ बनकर यज्ञ में प्रज्वलित हुए अग्नि को वर्षा की झड़ियों से ठण्डा कर डालेंगे ॥ २१ ॥

दूसरे बड़े बड़े सर्पों ने कहा कि हम रात में जाकर यज्ञ कार्य में

यज्ञे वा भुजगास्तस्मिन् शतशोऽथ सहस्रशः ।
जनान् दशन्तु वै सर्वानेवं त्रासो भविष्यति ॥२३॥
अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः ।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥२४॥
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे ।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ॥२५॥
वश्यताञ्च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम् ।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ॥२६॥
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः ।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ॥२७॥

लगे हुए ब्राह्मणों के स्रुवा आदि यज्ञपात्रों का हरण कर लावेंगे, ऐसा होने पर यज्ञकार्य में विघ्न पड़ जायगा ॥ २२ ॥

अथवा उस यज्ञ के समय हम सब, सहस्रों और लाखों पुरुषों को डस लेंगे—जिससे सर्वत्र त्राहि त्राहि होने लगेगी ॥ २३ ॥

अथवा हम बड़े बड़े नाग उनके शुद्ध किये हुए भोजन के पदार्थों को अपने विष्ठा और मूत्र से अपवित्र कर देंगे, जिससे उनका सब भोजन खराब हो जायगा ॥ २४ ॥

दूसरे सर्प कहने लगे कि हम उस राजा के ऋत्विज बन जायँगे और फिर 'दक्षिणा दो' ऐसा कहकर यज्ञ में विघ्न डालेंगे ॥ २५ ॥

क्योंकि राजा उस समय हमारे वश में होगा, इस कारण वह हमारी इच्छानुसार ही कार्य को करेगा। सर्पों की विचारसभा में बैठे हुए दूसरे बली सर्प कहने लगे कि राजा जिस समय जङ्गल में जलाशय में स्नान करने को आयेगा—॥ २६ ॥

तब हम उसको अपने घर में खींच लावेंगे, और फिर बाँध लेंगे। ऐसा करने से भी वह यज्ञ बन्द हो जायगा। इतने ही में दूसरे कितने ही पण्डितपने का अभिमान रखनेवाले नाग बोल उठे कि उसको तुरत पकड़कर डस लो,

दशामस्तं प्रगृह्याशु कृतमेवं भविष्यति ।
छिन्नमूलमनर्थानामृते तस्मिन् भविष्यति ॥२८॥
एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः ।
अथ यन्मन्यसे राजन् द्रुतं तत् संविधीयताम् ॥२९॥
इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
वासुकिश्चापि सञ्चिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥३०॥
नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्त्तुं भुजङ्गमाः ।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥३१॥
किं तत्र संविधातव्यम् भवतां स्याद्धितं तु यत् ।
श्रेयः प्रसादनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ॥३२॥

जिससे हमारा विचार सफल हो जाय, क्योंकि—उसके मरने से अनर्थों की जड़ ही उखड़ जायगी ॥ २८-२८ ॥

हे नेत्रों से सुननेवाले वासुकि ! यह हम सर्पों का निश्चित अभिप्राय है, अब हे राजन ! इसमें से जो उपाय आप को ठीक मालूम पड़े उसको शीघ्र ही करो ॥ २९ ॥

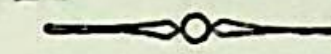
ऐसा कहकर सब सर्प पन्नगों में श्रेष्ठ वासुकि के मुख को ओर देखने लगे, वासुकि भी क्षण-मात्र विचार करके उन महासर्पों से कहने लगा—॥ ३० ॥

हे सर्पों ! तुम्हारी यह निश्चित बुद्धि मेरी संमति में करने योग्य नहीं है, क्योंकि तुम सब सर्पों का यह विचार मुझे ठीक नहीं मालूम होता ॥ ३१ ॥

सो अब क्या उपाय किया जाय—जिससे तुम सब का कल्याण हो ? मेरा तो यह विचार है कि महात्मा कश्यप ऋषि को प्रसन्न करना चाहिये, इससे ही हमारा कल्याण होगा ॥ ३२ ॥

ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः ।
न च जानाति मे बुद्धिः किञ्चित् कर्त्तुं वचो हि वः ॥३३॥
मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत् ।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके सर्पमन्त्रणायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥



हे सर्पों ! अपनी जाति का और मेरा अपना कल्याण हो, इसके लिये तुम्हारी बताई हुई बातों में से कुछ भी करना मेरा समझ में नहीं आता ॥ ३३ ॥

तो भी मुझे तो जिसमें तुम्हारा हित हो वही काम करना है। तथापि गुण दोष और भलाई बुराई मेरे सिर होगी, इस कारण मुझे बड़ा ही संताप हो रहा है, अर्थात् इसके लिये मुझे बड़ी चिन्ता रहती है ॥ ३४ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥



अड़तीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च ।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः ।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद्भयम् ॥ २ ॥
दैवेनोपहतो राजन् यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत्तत्र परायणम् ॥ ३ ॥
तदिदं चैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम ॥ ४ ॥
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात्पन्नगसत्तमाः ॥ ५ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—सब सर्पों के वचन को और वासुकि के भी कथन को सुनकर एलापत्र नामक नाग इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

वह यज्ञ ऐसा नहीं है कि न हो और पाण्डववंश का राजा जनमेजय, जिसका आपको बड़ा भारी भय है, वह भी ऐसा नहीं है कि जिसका हम कुछ कर सकें ॥ २ ॥

हे राजन्! जो पुरुष इस लोक में भाग्य (होनहार) का मारा हुआ होता है, उसका आश्रय भी भाग्य (दैव) के ऊपर ही होता है, उसमें दूसरा कोई बड़ा भारी आश्रय काम नहीं देता ॥ ३ ॥

हे सर्पों में श्रेष्ठ! इस हमारे भय का मूल भी दैव ही है, इस कारण इस विषय में हमें केवल दैव का ही आश्रय लेना चाहिये। अतः जो मैं कहता हूँ, उसको आप सुनिये ॥ ४ ॥

हे श्रेष्ठ सर्पों! जिस समय हमारी माता ने हमें शाप दिया था, उस समय मैं माता के पास ही था और शाप से भय पाकर उसकी गोद में दुबक गया था। शाप मिलते समय स्त्रियों के साथियों को भी दुःख होता

देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो।
पितामहमुपागम्य दुःखार्त्तानां महाद्युते ॥ ६ ॥

देवा ऊचुः।

का हि लब्ध्वा प्रियान् पुत्रान् शपेदेवं पितामह।
ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देवदेव तवाग्रतः ॥ ७ ॥
तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाप्युक्तं पितामह।
एतदिच्छाम विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच।

बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्वणाः।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा ॥ ९ ॥
ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्वणाः।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ॥१०॥

है, ऐसी चिन्ता से उदास होकर देवता पितामह भगवान् ब्रह्मा के पास गए और कहने लगे कि हे महाकान्तिवाले ब्रह्मदेव ! स्त्रियाँ बड़े तीखे स्वभाव की होती हैं ॥ ५-६ ॥

देवताओं ने कहा—हे पितामह ! हे देवों के देव ! कद्रू से अधिक क्रूर कौन स्त्री होगी ? जिसने प्रीतिपात्र पुत्रों को महादुःख से पाकर भी आपके सामने ही ऐसा शाप दिया ॥ ७ ॥

हे पितामह ! आपने भी उसके शाप को सुनकर कह दिया कि—अच्छा ऐसा ही हो, और उस स्त्री को शाप देते समय आपने रोका नहीं। इसका क्या कारण है ? यह हम जानना चाहते हैं ॥ ८ ॥

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—इस जगत् में सर्प बहुत बढ़ गए हैं, वे बड़े क्रूर, भयङ्कर और प्रचण्ड विष से भरे हुए हैं। इस कारण मैंने अपनी प्रजा की भलाई के लिये कद्रू को शाप देते समय नहीं रोका ॥ ९ ॥

जो सर्प बड़े ही विषैले हैं और दूसरों को डसने को उद्यत रहते हैं, जो थोड़े से अपराध में भी डसे बिना नहीं रहते तथा जो निरपराधियों को डसने से पापी हो गए हैं; उनका ही नाश होगा। जो धर्मात्मा सर्प हैं उनका विनाश नहीं होगा ॥ १० ॥

यन्निमित्तश्च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात्।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन् काले समागते ॥११॥
यायावरकुले धीमान् भविष्यति महानृषिः।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥१२॥
तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ॥१३॥

देवा ऊचुः।

स मुनिप्रवरो ब्रह्मन् जरत्कारुर्महातपाः।
कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ॥१४॥

ब्रह्मोवाच।

सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः।
अपत्यं वीर्यसम्पन्नं वीर्यवान् जनयिष्यति ॥१५॥
वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल।
स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति ॥१६॥

उस समय आनेवाले बड़े भारी भय में से जिस निमित्त से उन धर्मात्मा सर्पों का छुटकारा होगा उसको भी सुनो ॥ ११ ॥

यायावरवंश में जरत्कारु नाम के एक प्रसिद्ध, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान् और महातपस्वी महर्षि उत्पन्न होंगे, उन जरत्कारु के यहाँ केवल तप को ही धन माननेवाला आस्तीक नामवाला औरस पुत्र उत्पन्न होगा। वह इस यज्ञ को बन्द करा देगा, तब जो धार्मिक सर्प होंगे वे बच जायँगे ॥ १२-१३ ॥

ब्रह्माजी की इस बात को सुनकर देवताओं ने कहा कि हे ब्रह्मन्! मुनियों में श्रेष्ठ, वीर्यवान् और महातपस्वी जरत्कारु कौनसी स्त्री के गर्भ से उस महानुभाव आस्तीक पुत्र को उत्पन्न करेंगे ?॥ १४ ॥

ब्रह्माजी ने कहा कि ब्राह्मणों में श्रेष्ठ पराक्रमी जरत्कारु मुनि अपने ही नामवाली कन्या से वीर्यवान् पुत्र को उत्पन्न करेंगे ॥ १५ ॥

सर्पों के राजा वासुकि की जरत्कारु नामवाली एक बहिन है, वह पुत्र उसी के गर्भ से उत्पन्न होगा और वह नागों को शाप से छुड़ा देगा ॥ १६ ॥

एलापत्र उवाच ।

एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन् ।
उक्त्वैवं वचनं देवान् विरञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ॥१७॥
सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।
जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ॥१८॥
भैक्षवद्भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥



एलापत्र कहता है—इसके अनन्तर देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से कहा कि अच्छा ऐसा ही हो, और ब्रह्माजी भी उनसे ऐसा ही कहकर स्वर्ग में चले गए ॥ १७ ॥

इस कारण हे वासुकि ! मैं तुम्हारी बहिन जरत्कारु को उसके योग्य देख रहा हूँ। तुम कन्या की भिक्षा माँगते हुए फिरनेवाले सदाचारी महर्षि जरत्कारु को हम सब नागों का भय शान्त करने के लिये यह कन्या भिक्षारूप से दे दो। क्योंकि नागों का भय शांत होने का मैंने यही उपाय सुना है ॥ १८-१९ ॥

अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥



उन्तालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम ।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ १ ॥
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत ।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥
ततो नातिमहान् कालः समतीत इवाभवत् ।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्य चैव तत् कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्द्धं पितामहमथाब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥
अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्त्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे द्विजोत्तम ! एलापत्र की इस बात को सुनकर सब सर्पों ने चित्त में प्रसन्न होकर 'जय जय' की ध्वनि की और बोले कि—ठीक कहा ठीक कहा ! फिर उस दिन से वासुकि नाग ने अपनी बहिन जरत्कारु का भले प्रकार से पोषण आरम्भ किया और उसकी रक्षा करता हुआ वह परम आनन्द पाने लगा ॥ १–२ ॥

फिर थोड़ा ही समय बीता था कि देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया, उसमें बलवानों में श्रेष्ठ वासुकि नाग मथने की रस्सी बना था। मन्थन का काम पूरा होते ही नागों का राजा वासुकि पितामह के पास पहुँचा, वहाँ देवता वासुकि के साथ ब्रह्माजी से इस प्रकार कहने लगे कि—हे भगवन् ! शाप से डरा हुआ यह वासुकि नाग बड़ा ही चिन्ताकुल रहता है, इस कारण आपको चाहिये कि इसके हृदय के दुःखरूपी काँटे को निकाल दें,

हितो ह्ययं सदास्माकं प्रियकारी च नागराट्।
प्रसादं कुरु देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ॥ ७॥

ब्रह्मोवाच।

मयैव तद्वितीर्णं वै वचनं मनसामराः।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा ॥ ८॥
तत्करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम्।
विनशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ॥ ९॥
उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १२॥
एलापत्रेण यत् प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह।
पन्नगानां हितं देवास्तत्तथा न तदन्यथा ॥११॥

जो कि माता के शापरूप में जाति का हित चाहनेवाले इस वासुकि नाग के हृदय में छिदा हुआ है ॥ ३-६ ॥

यह सर्पों का राजा सदा हमारा प्रिय करनेवाला और हितैषी है, हे देवेश! इसके ऊपर कृपा करिये और इसकी मानसिक पीड़ा को दूर कर दीजिये ॥ ७ ॥

देवताओं की इस बात को सुनकर ब्रह्माजी ने कहा कि—हे अमर देवताओ! तुम जो कह रहे हो, इसके विषय में मैंने अपने मन में विचार कर लिया है। नागेंद्र वासुकि से एलापत्र नाग ने जो पहिले ही कह दिया है, वही करने दो ॥ ८ ॥

वैसा करने का समय भी समीप ही आ गया है, जो पापी नाग होंगे उनका नाश होगा, और जो नाग धर्मात्मा होंगे, उनका नाश नहीं होगा ॥ ९ ॥

उग्र तप में प्रेम करनेवाला वह जरत्कारु नामवाला ब्राह्मण जन्म पा चुका है, इस कारण वासुकि को समय आने पर उसके साथ अपनी बहिन का विवाह कर देने की बाट देखते रहना चाहिये ॥ १० ॥

हे देवताओ! एलापत्र नाग ने सर्पों के हित के लिये जो बात कही है, वही ठीक है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच ।

एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
सन्दिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः शापमोहितः ॥१२॥
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।
सर्पान् बहून् जरत्कारौ नित्ययुक्तान् समादधत् ॥१३॥
जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद्द् वरयितुं प्रभुः ।
शीघ्रमेत्य तदाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥



उग्रश्रवा कहते हैं—शाप से मोहित हुए नागराज वासुकि ने ब्रह्मा जी की इस बात को सुनकर बहुत से सर्पों को अपनी बहिन जरत्कारु की रक्षा के लिये रख दिया और उन ऋषि के लिये कन्या का दान करने के निमित्त उत्सुक होकर सर्पों को आज्ञा दी कि जब जरत्कारु ऋषि कन्या की भिक्षा माँगने को, आवें, उसी समय झटपट तुम मेरे पास आकर समाचार देना। क्योंकि—हमारे कुल का कल्याण इस बात में ही समाया हुआ है ॥ १२–१४ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन ।
इच्छामि तदहं श्रोतुं ऋषेस्तस्य महात्मनः ॥ १ ॥
किं कारणं जरत्कारोर्नामैतत् प्रथितं भुवि ।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

सौतिरुवाच ।

जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम् ।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत् स धीमाञ्छनैः शनैः ॥ ३ ॥
क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते ।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन् वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत्तदा ।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥

शौनक ने पूछा—हे सूतपुत्र! तुम महात्मा मुनि का नाम जरत्कारु कहते हो, उनका यह नाम पृथ्वी पर किस कारण से प्रसिद्ध हुआ था? यह सब मैं यथावत् सुनना चाहता हूँ, तुम को उचित है कि मुझे ठीक ठीक सुना दो ॥ १-२ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—जरा शब्द का अर्थ क्षय और कारु शब्द का अर्थ दारुण है, उन मुनि का शरीर दारुण था और उन्होंने धीरे धीरे उग्र तपस्या करके अपने शरीर को क्षीण कर डाला था। इस कारण उनका नाम जरत्कारु हुआ। और हे ब्रह्मन्! वासुकि नाग की बहिन भी अविवाहिता थी, उसने भी तीव्र तप करके अपने शरीर को क्षीण कर डाला था, इसी कारण वह भी जरत्कारु कहलाई ॥ ३-४ ॥

सूत पौराणिक के ऐसे वचन सुनकर उस समय धर्मात्मा शौनक हँसे और उन्होंने उग्रश्रवा से कहा—हे सूत! तुम्हारी बात युक्तियुक्त है ॥ ५ ॥

शौनक उवाच ।

उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुतवानहम् ।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सूतः प्रोवाच शास्त्रतः ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच ।

सन्दिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः सुसमाहितः ।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ॥ ७ ॥
अथ कालस्य महतः स मुनिः शंसितव्रतः ।
तपस्यभिरतो धीमान् स दारान्नाभ्यकाङ्क्षत ॥ ८ ॥
स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः
स्वाध्यायवान्वीतभयः कृतात्मा ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा
न चापि दारान्मनसाप्यकाङ्क्षत ॥ ९ ॥

फिर शौनक ने कहा—तुमने मुझसे जरत्कारु का ठीक ठीक जो स्पष्ट अर्थ कहा, वह सब मैंने सुना। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आस्तीक की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? शौनक के इस वचन को सुनकर शास्त्र में जैसी कथा थी उस प्रकार ही सूतपुत्र कहने लगे ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—जरत्कारु ऋषि के साथ अपनी बहिन का विवाह करने के लिये वासुकि नाग ने सावधान होकर सब सर्पों को आज्ञा दी ॥ ७ ॥

परन्तु बहुत सा समय यों ही बीत गया, तब भी तप में प्रेम करनेवाले अखण्ड व्रतधारी उन बुद्धिमान् मुनि ने स्त्री की इच्छा नहीं की ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी), तपस्या में तत्पर, नित्य स्वाध्याय करनेवाले, कृतार्थ हुए, निर्भय, उत्तम व्रतधारी, बुद्धिशाली और महात्मा जरत्कारु मुनि सारी पृथ्वी पर पर्यटन करने लगे। उन्होंने तपस्या में मग्न होने के कारण स्त्री को अङ्गीकार करने की मन में भी इच्छा नहीं की थी ॥ ९ ॥

ततोऽपरस्मिन् संप्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परीक्षिन्नाम राजासीद् ब्रह्मन् कौरववंशजः ॥१०॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्द्धरवरो युधि ।
बभूव मृगयाशीलः पुरास्य प्रपितामहः ॥११॥
मृगान् विध्यन्वराहांश्च तरक्षून्महिषांस्तथा ।
अन्यांश्च विविधान्वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥१२॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥१३॥
यथैव भगवान् रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ॥१४॥
न हि तेन मृगो विद्धो जीवन् गच्छति वै वने ।
पूर्वरूपन्तु तत्तूर्णं सोऽगात् स्वर्गगतिं प्रति ॥१५॥

हे ब्रह्मन् ! अनन्तर कुछ काल बीत जाने पर एक समय कौरववंश में उत्पन्न हुआ परीक्षित नामक राजा राज्य करता था ॥ १० ॥

वह अपने पितामह पांडु के समान महाबाहु, युद्ध के समय सब धनुर्धारियों में वाहवाही पानेवाला और मृगया (शिकार) का बड़ा प्रेमी था ॥ ११ ॥

वह राजा मृग, शूकर, चीते, महिष तथा और बहुत से हिंसक पशुओं का शिकार करता हुआ वन में विचरा करता था ॥ १२ ॥

किसी समय वह राजा एक मृग को अपने नमे हुए पर्ववाले बाण से बींध-कर हाथ में धनुष धारण किये हुए घोर वन में इस तरह उसका पीछा करने लगा, जैसे कि स्वर्ग में भगवान् शंकर यज्ञरूपी मृग को मारकर, धनुष लिये हुए उसे खोजने के लिये इधर उधर घूमते फिरे थे ॥ १३–१४ ॥

परीक्षित के हाथों मारा गया कोई भी मृग अबतक जंगल में जीवित नहीं गया था, आज इसी मृग का अन्तर्धान हो जाना उस राजा

परीक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान्मृगः ।
दूरं चापहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ॥१६॥
परिश्रान्तः पिपासार्त्त आससाद मुनिं बने ।
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ॥१७॥
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ।
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा शंसितव्रतम् ॥१८॥
अपृच्छद्धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ॥१९॥
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित्तं दृष्टवानसि ।
स मुनिस्तं तु नोवाच किञ्चिन्मौनव्रते स्थितः ॥२०॥

की स्वर्गगति का कारण हो गया, अर्थात् उसके द्वारा राजा ने ब्राह्मण का अपमान करके उसका शाप सिर पर ले लिया ॥ १५ ॥

वाण से विंधा हुआ वह मृग ज्यों ज्यों नहीं दीख पड़ा त्यों त्यों वह राजा परीक्षित उसका पीछा करता गया। ऐसा करते हुए राजा मृग की खोज में बहुत दूर निकल गया ॥ १६ ॥

हिरन के पीछे दौड़ने से थके हुए और प्यास से व्याकुल उस राजा ने वन में गौओं के गोठ में बैठे हुए एक ऋषि को देखा। वह ऋषि बड़ी तीव्र तपस्या करते थे, गौएँ अपने बछड़ों को दूध पिलाती थीं उस समय उनके मुख में से जो दूध के झाग गिरते थे उनके आधार पर ही वे अपना जीवन धारण करते थे। ऐसे उत्तम व्रतधारी मुनि के पास भूख और प्यास से घबड़ाया हुआ वह राजा झपटकर गया और धनुष को उठाकर मुनि से कहने लगा कि हे ब्राह्मण! मैं अभिमन्यु का पुत्र राजा परीक्षित हूँ ॥ १७-१९ ॥

मैंने एक मृग को अपने वाण से वींधा था, परन्तु न जाने वह कहाँ छिप गया, क्या तूने उसको देखा है ? परन्तु वे मुनि इस समय मौन धारण करके तप में बैठे हुए थे, इस कारण उन्होंने राजा के प्रश्न का कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ २० ॥

तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासृजत् ।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत ॥२१॥
न स किञ्चिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाशुभम् ।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम् ।
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत्तथैव सः ॥२२॥
न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ।
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ॥२३॥
न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ।
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ॥२४॥
तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत्तिग्मतेजा महातपाः ।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः ॥२५॥

इस पर राजा परीक्षित को क्रोध आ गया और उसने धनुष की नोक से एक मरा हुआ साँप लेकर ऋषि के गले में डाल दिया । तो भी ऋषि उसको कुछ न गिनकर ध्यानमग्न होने के कारण भला बुरा कुछ नहीं बोले। मुनि दृढ़ समाधि में हैं, ऐसा जानकर राजा परीक्षित क्रोध को त्याग खेद करते करते अपने नगर में आया । क्षमावान् और धर्म में तत्पर महामुनि अपना तिरस्कार होने पर भी ज्यों के त्यों ही समाधि में बैठे रहे, उन्होंने राजाओं में श्रेष्ठ स्वधर्मपरायण राजा परीक्षित का अपमान नहीं किया ॥ २१-२३ ॥

राजाओं में पराक्रमी और भरतवंश में श्रेष्ठ राजा परीक्षित ने भी उन धर्मात्मा ऋषि को पहिंचाना नहीं, इस कारण उनका तिरस्कार कर दिया ॥ २४ ॥

उन शमीक मुनि का परम तपस्वी, महातेजस्वी, अत्यन्त क्रोधी, बड़ी कठिनता से प्रसन्न होनेवाला और महाव्रतधारी एक शृङ्गी नामवाला पुत्र था ॥ २५ ॥

स देवं परमासीनं सर्वभूतहिते रतम् ।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ॥२६॥
स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ।
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ॥२७॥
संरम्भात्कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः ।
उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ।
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ॥२८॥

कृश उवाच ।

तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृङ्गिन् गर्वितो भव ॥२९॥
व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किञ्चिद्वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मविस्तु तपस्विषु ॥३०॥

वह इन्द्रियों को वश में रखकर सकल प्राणियों के कल्याणकर्ता, देवों के देव, परमात्मा ब्रह्माजी का समय समय पर आराधन किया करता था ॥ २६ ॥

उस समय ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर वह अपने आश्रम को आ रहा था, तब मार्ग में उस समय उसका मित्र कृश खेलता हुआ मिला। उसने क्रोध के आवेश से अत्यन्त तीक्ष्ण, विष के समान, ऋषिपुत्र शृङ्गी का अभिमान बढ़ाने के लिये हँसते हुए उसके पिता के अपमान की बात कही। उसको सुनकर शृंगी को बड़ा ही क्रोध आया ॥ २७–२८ ॥

कृश ने कहा कि—हे शृंगी! अब तू अपने तपस्वी और तेजस्वीपने के घमण्ड को त्याग दे, क्योंकि देख, यह तेरा पिता मरे हुए सर्प को अपने कण्ठ में पहन रहा है ॥ २९ ॥

अब से आगे जब ब्रह्मवेत्ता, सिद्ध और हम जैसे तपस्वी ऋषिकुमार बातें करते हों तब तू कुछ भी बात न करना ॥ ३० ॥

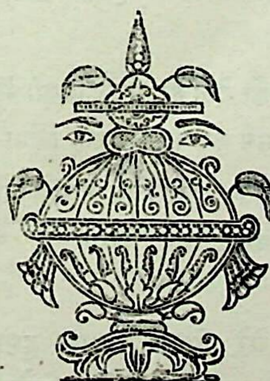
क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं दृष्ट्वा यस्त्वं शवधरं तथा ॥३१॥
पित्रा च तव तत्कर्म नानुरूपमिवात्मनः ।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाहं भृशदुःखितः ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

तेरे पुरुषत्व का अभिमान इस समय कहाँ गया ? तेरी वह अहङ्कार से भरी बातें कहाँ गईं ? आज तेरा पिता सर्प के मृतक शरीर को धारण कर रहा है और तू उसको शान्ति से देख रहा है ? ॥ ३१ ॥

हे मुनियों में श्रेष्ठ ! इस तिरस्कार होने में तेरे पिता का अपराध नहीं है, इस कारण तेरे निरपराधी पिता के अपराध को मानो मैं अपने पिता का ही अपराध समझता हूँ, इसके लिये मुझे बड़ा दुःख है ॥ ३२ ॥

चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥



इकतालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः ।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥
स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन् ।
अपृच्छत्तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

कृश उवाच ।

राज्ञा परीक्षिता तात मृगयां परिधावता ।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः ॥ ३ ॥

शृङ्ग्युवाच ।

किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः ।
ब्रूहि तत् कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार 'मेरे पिता के कण्ठ में मरा हुआ साँप पड़ा है' यह सुनते ही तेजस्वी शृंगी ऋषि अपार क्रोध से संतप्त होने लगा ॥ १ ॥

उसने कृश की ओर को देखकर मधुर वाणी में बोलते हुए उससे पूछा कि—आज मेरे पिता ने मरे हुए सर्प को कैसे धारण किया ? ॥ २ ॥

कृश ने कहा—हे तात ! परीक्षित नामक जो राजा इस वन में शिकार खेलने को आया था, उसने तेरे पिता के कन्धे पर मरे हुए सर्प को डाला है ॥ ३ ॥

शृङ्गी ने कहा कि मेरे पिता ने उस दुष्टात्मा राजा का क्या अपराध किया था ? हे कृश ! मुझे वह सब सुना और फिर देख कि मेरे तप का कैसा प्रभाव है ? ॥ ४ ॥

कृश उवाच ।

स राजा मृगयां यातः परीक्षिदभिमन्युजः ।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ॥ ५ ॥
न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन् महावने ।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ॥ ६ ॥
तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः ।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत ।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासृजत् ॥ ८॥
शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवास्ते यतव्रतः ।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रस्थितो गजसाह्वयम् ॥ ९ ॥

कृश ने कहा—अभिमन्यु का पुत्र राजा परीक्षित इस वन में शिकार खेलने आया था, उसने चक्कर दौड़ते हुए हिरन को अपने बाण से घायल किया, और वह अकेला ही उस दौड़ते हुए हिरन के पीछे हो लिया। परन्तु घने जंगल में बहुत भटकने पर भी वह मृग किधर चला गया, इस बात को वह नहीं जान सका और उसकी खोज में यहाँ आकर उसने तेरे पिता को देखा। राजा ने तुरन्त ही उनसे हिरन की बात पूछी, परन्तु उस समय वे मौन हुए समाधि में बैठे थे, इस कारण बोले नहीं ॥ ५–६ ॥

समाधि में वृक्ष के समान स्थिर बैठे हुए तेरे पिता से भूख प्यास और थकावट के कारण व्याकुल हुए राजा ने बार बार भागे हुए हिरन के विषय में पूछताछ की। तब भी मौनधारी होने के कारण तेरे पिता ने राजा को कुछ उत्तर नहीं दिया। इस पर राजा ने अपने धनुष की नोंक से मरे हुए साँप को उठाकर तेरे पिता के गले में डाल दिया है ॥ ७–८ ॥

हे शृंगी! तेरे नियमधारी पिता ध्यान में मग्न हो रहे हैं, वे अब भी ज्यों के त्यों बैठे हैं, और वह राजा हस्तिनापुर नामक अपनी राजधानी को चला भी गया ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच ।

श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं स्कन्धे प्रतिष्ठितम् ।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥१०॥
आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा ।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात् कृतः ॥११॥

शृङ्गी उवाच ।

योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह ।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षीत्पन्नगं राजकिल्बिषी ॥१२॥
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः ।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥१३॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति ।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥१४॥

सौतिरुवाच ।

इति शप्त्वातिसंक्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्यगात् ।
आसीनं गोव्रजे तस्मिन्वहन्तं शवपन्नगम् ॥१५॥

उग्रश्रवा कहते हैं—पिता के कन्धे पर मरा हुआ साँप डाल दिया है, यह सुनते ही वह ऋषिकुमार मानो क्रोध से जल उठा हो, इस प्रकार लाल हो गया, उसकी आँखें भी क्रोध के मारे लाल हो गईं। वह तेजस्वी ऋषिकुमार क्रोध के आवेश में आकर उसी समय हाथ में जल ले राजा को शाप देता हुआ कहने लगा ॥ १०–११ ॥

शृंगी ने कहा कि ब्राह्मणों का अनादर करनेवाले और कुरुओं को कलङ्क लगानेवाले जिस पापात्मा राजा ने इन मेरे बूढ़े पिता के कन्धे पर मरा हुआ साँप डाला है, उस पापी पुरुष को मेरे वचन के प्रभाव से आज से सातवीं रात में सर्पों का राजा तक्षक बड़े क्रोध में आकर यमपुरी में पहुँचा देगा ॥ १२–१४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार शाप देकर बड़े ही क्रोध में भरा हुआ शृंगी गोशाला में जहाँ उसके पिता कन्धे पर मरा हुआ साँप धारण किये हुए बैठे थे वहाँ गया और उनको देखा ॥ १५ ॥

स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै ।
शवेन भुजगेनासीद् भूयः क्रोधसमाकुलः ॥१६॥
दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत् ।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥१७॥
राज्ञा परीक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।
यथार्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ।
सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ॥१८॥
वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम् ।
तमब्रवीत्पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम् ॥१९॥

शमीक उवाच ।

न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ।
वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ॥२०॥

अपने पिता के कन्धे पर मरे हुए साँप को देखते ही वह बड़े ही क्रोध में भर गया ॥ १६ ॥

उसने दुःख से आँसू बहाते हुए पिता से इस प्रकार कहा कि—हे तात ! दुष्टात्मा राजा परीक्षित ने तुम्हारा इस प्रकार तिरस्कार किया है, यह सुनकर मैंने क्रोध के कारण उस राजा को शाप दे दिया है। कुरुकुल में नीच वह राजा भयानक शाप के योग्य है। आज से सातवें दिन, नागों में श्रेष्ठ तक्षक नाग उस पापी राजा को परमदारुण यमराज के घर पहुँचा देगा। उस समय हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार कोप में भरे हुए अपने पुत्र से उसके पिता ने निम्नोक्त बात कही ॥ १७-१९ ॥

शमीक ने कहा कि—हे बेटा ! तुम्हारा किया हुआ यह काम मुझे अच्छा नहीं लगा, तपस्वियों का यह धर्म नहीं है। हम उस राजा के देश में रहते हैं ॥ २० ॥

न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य पापं न रोचये ।
सर्वथा वर्त्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा ॥२१॥
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः ।
यदि राजा न संरक्षेत्पीडा नः परमा भवेत् ॥२२॥
न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ।
रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः ॥२३॥
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः ।
सर्वथा वर्त्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि ॥२४॥
परीक्षित्तु विशेषेण यथास्य प्रपितामहाः ।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याः प्रजा विभो ॥२५॥
तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥२६॥

वह न्याय के अनुसार हमारी रक्षा करता है, इस कारण उसका बुरा करना, यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती। उसने भले ही हमारा अपकार किया हो, पर हमें सर्वथा क्षमा करनी चाहिये। यदि धर्म का नाश किया जाता है तो वह नाश किया हुआ धर्म अवश्य ही धर्महन्ता का नाश कर देता है। यदि राजा न्याय के साथ हमारी रक्षा न करे तो हमारे ऊपर बड़ी आपत्ति आ पड़े, तब हे पुत्र! हम सुखपूर्वक धर्म कर्म भी न कर सकें। परन्तु हे तात! धर्मरूप ही जिनकी दृष्टि है ऐसे राजाओं की छत्रछाया में हम जो परम धर्म कार्य करते हैं, उसमें राजाओं का भी भाग है। इस कारण वर्त्तमान राज्यकर्त्ता के ऊपर क्षमा ही करनी चाहिये ॥ २१–२४ ॥

फिर भी हे बेटा! परीक्षित तो विशेष कर क्षमा करने योग्य है, क्योंकि वह अपने बड़े प्रपितामहों के समान, राजाओं को जिस प्रकार प्रजा का पालन करना चाहिये वैसे ही हमारा पालन करता है ॥ २५ ॥

वह तपस्वी राजा आज थक गया था और भूख से व्याकुल हो रहा था। अतः प्रतीत होता है, मेरे व्रत को न जानने के कारण उससे यह काम बन गया है ॥ २६ ॥

अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा ।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै ॥२७॥
दण्डात् प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा ।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ॥२८॥
राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात् स्वर्गः प्रतिष्ठितः ।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥२९॥
देवाद् वृष्टिः प्रवर्त्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः ।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयेत् सततं हितम् ॥३०॥
मनुष्याणाञ्च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः ।
दश श्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥३१॥
तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥३२॥

विना राजा के देश में सदा बड़े बड़े उत्पात होते रहते हैं, परन्तु वहाँ राजा हो तो वह अपराधियों को बराबर दण्ड देता रहता है और उस दण्ड के आतङ्क से शान्ति विराजने लगती है। उद्विग्न पुरुष धर्म नहीं कर सकता और उद्विग्न मनुष्य कोई काम भी नहीं कर सकता है ॥ २७–२८ ॥

राजा धर्म का स्थापन करता है और धर्म से स्वर्ग मिलता है, राजा यज्ञादि कर्मों की रक्षा करता है और यज्ञ से देवताओं का निर्वाह होता है ॥ २९ ॥

तृप्त हुए देवता वर्षा करते हैं और वर्षा से अन्नों की उत्पत्ति होती है; जो अन्न मनुष्यों के जीवनार्थ परम हितकारी हैं ॥ ३० ॥

मनुजी ने कहा है कि—मनुष्यों का हितपूर्वक पालन करनेवाला राजा दस वेदपाठियों के समान है। वह परीक्षित भूखा और थका हुआ था तथा मेरी समझ में

कस्मादिदं त्वया बाल्यात्सहसा दुष्कृतं कृतम् ।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके परीक्षिच्छापे
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥



उस तपस्वी राजा ने मेरे मौनव्रत को न जानने के कारण आज यह काम किया है ॥ ३१-३२ ॥

इस लिये तूने बालकपने से एकाएक ऐसा पापपूर्ण काम क्यों किया ? हे पुत्र ! वह राजा किसी प्रकार भी हम से शाप पाने के योग्य नहीं है ॥ ३३ ॥

इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥



बयालीसवाँ अध्याय

शृङ्ग्युवाच ।

यद्येतत्साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाऽप्यप्रियं वा तं वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥ १ ॥
नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

शमीक उवाच ।

जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥
पित्रा पुत्रो वयस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ४ ॥

शृंगी ने कहा कि हे पिताजी ! यह साहस और दुष्कर्म भले ही हो गया हो और आपको अच्छा लगता हो, चाहे अप्रिय लगता हो; परन्तु मैंने जो बात कही है वह झूठी नहीं होगी ॥ १ ॥

हे पिताजी ! मैं आप से कहता हूँ कि यह शाप कदापि अन्यथा नहीं होगा, क्योंकि मैंने कभी हास्य में भी झूठी बात नहीं कही है, फिर शाप देने में तो झूठ बोल ही कैसे सकता हूँ ? ॥ २ ॥

शमीक ने कहा—हे बेटा ! मैं तेरे उग्र प्रभाव और सत्य वचन को भली प्रकार जानता हूँ, तूने पहले कभी मिथ्या नहीं बोला है, इस कारण तेरा यह कथन पलट नहीं सकता ॥ ३ ॥

तथापि पुत्र भले ही बड़ी अवस्था का हो जाय, तब भी पिता को चाहिये कि सदा उसको उपदेश देता रहे, जिससे कि पुत्र सद्गुणी होता है और यश को पाता है ॥ ४ ॥

किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥
सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥
स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हित्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥
क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥
शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥
तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥१०॥

तिस पर तू तो बालक है और सदा तपस्या में लगा रहता है, इस कारण तुझे उपदेश देना अच्छी ही बात है ; योग का ऐश्वर्य रखनेवाले महात्माओं का कोप बड़ा ही उग्र होता है ॥ ५ ॥

इसी लिये हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! तेरे पुत्रत्व, बालकपन और साहस को देखकर प्रतीत होता है कि मुझे तुझको उपदेश देना योग्य ही है ॥ ६ ॥

इस लिये कहता हूँ कि तू शान्तिपरायण होकर वन में फलों का भोजन कर और क्रोध को त्याग कर वर्त्ताव कर । इस प्रकार धर्म का नाश मत कर ॥ ७ ॥

क्योंकि क्रोध बड़े दुःख से इकट्ठे किये हुए योगियों के धर्म का नाश कर देता है और फिर धर्महीनों को इच्छित गति नहीं मिलती ॥ ८ ॥

शान्ति ही क्षमाशील यतियों को सिद्धि देती है, अर्थात् परलोक में शुभ चाहनेवालों का क्षमा ही उत्तम धर्म है, क्योंकि क्षमा करनेवालों का ही इस लोक तथा परलोक में भला होता है ॥ ९ ॥

इस कारण तू क्षमावान् और जितेन्द्रिय होकर सदा वर्त्ताव कर, क्रममुक्ति देनेवाले ब्रह्म के समीपवर्ती लोकों को तू क्षमा से ही पा सकेगा ॥ १० ॥

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै।
तत्करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥११॥
मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेनाकृतबुद्धिना।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥१२॥

सौतिरुवाच।

एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः।
परीक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥१३॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥१४॥
सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्द्धनम्।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥१५॥
पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः।
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ ॥१६॥

हे पुत्र! अब शान्ति को धारण करके मुझसे राजा का जितना शुभ हो सकेगा उतना करूँगा। उस राजा के पास यह संदेश भेजूँगा—॥ ११॥

हे राजन्! मेरे क्रोधी और अल्पबुद्धि पुत्र ने तुम से किया गया मेरा तिरस्कार देखकर तुम्हें इस प्रकार शाप दिया है॥ १२॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार पुत्र से कहकर श्रेष्ठ व्रतवाले, महातपस्वी उन दयालु ऋषि ने सरलस्वभाव, शीलवान् गौरमुख नामक एक शिष्य को कुशल समाचार पूछने और शापवृत्तान्त का संदेश देने के लिये राजा परीक्षित के पास भेज दिया॥ १३-१४॥

कुरुकुलवर्धन राजा परीक्षित के निकट वह शिष्य तुरन्त ही गया और द्वारपालों से अपने आने का समाचार राजा के पास भेजने के बाद उनके साथ राजभवन में जा पहुँचा॥ १५॥

गौरमुख ने राजा से यथायोग्य आदर सन्मान पाया और कुछ विश्राम

गौरमुख उवाच ।

शमीको नाम राजेन्द्र विषये वर्तते तव ॥१७॥
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ॥१८॥
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च ।
क्षान्तवांस्तव तत्कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ॥१९॥
तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तव भविष्यति ॥२०॥
तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यश्च कर्त्तुं केनचिदप्युत ॥२१॥
न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन् हितार्थिना ॥२२॥

के अनन्तर मन्त्रियों के सामने शमीक ऋषि के कठोर वचनों को यथावत् सुनाता हुआ बोला ॥ १६ ॥

गौरमुख ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारे देश में एक शमीक नाम के ऋषि रहते हैं, वे परम धर्मात्मा, शान्त, दान्त और महातपस्वी हैं। हे नरव्याघ्र ! वे ऋषि जब मौन व्रत धारण करके समाधि में बैठे थे, उस समय तुमने धनुष की नोंक से मरा हुआ साँप उठाकर उनके कंधे पर डाल दिया था। तुम्हारे उस कर्म को उन्होंने तो क्षमा कर दिया, परन्तु उनके पुत्र ने सहन नहीं किया ॥ १७–१९ ॥

उसने अपने पिता के अनजान में आज तुमको यह शाप दिया है कि तक्षक सर्प सात रात्रि के भीतर तुम्हारी मृत्यु करेगा ॥ २० ॥

शमीक ने बार बार तुम्हें इस शाप से बचाने के लिये पुत्र से कहा, परन्तु उसके शाप को पलट देने की शक्ति किसी में नहीं है, और वे मुनि भी कोप में भरे हुए पुत्र को शान्त करने की शक्ति नहीं रखते। इस कारण हे राजन् ! तुम्हारा हित चाहनेवाले उन ऋषि ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥ २१–२२ ॥

सौतिरुवाच ।

इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत्पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥२३॥
तञ्च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा ।
भूय एवाभवद्राजा शोकसन्तप्तमानसः ॥२४॥
अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य च ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत् किल्बिषं मुनेः ॥२५॥
न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ॥२६॥
ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान् करोत्विह ममेति वै ॥२७॥
तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥२८॥

उग्रश्रवा कहते हैं—कुरुवंशी राजा परीक्षित इस प्रकार उन महातपस्वी के कठोर वचनों को सुनकर तथा अपने पाप कर्म का स्मरण कर बड़ा ही व्याकुल हुआ ॥ २३ ॥

वे मुनिवर वन में मौनव्रत धारण करके बैठे थे, इस बात को याद करके राजा का मन शोक से अत्यन्त संतप्त हो गया ॥ २४ ॥

शमीक ऋषि की अपने ऊपर दिखाई हुई दयालुता तथा मुनि के ऊपर स्वयं किये हुए अपराध को याद करके वह अधिक दुःख पाने लगा ॥ २५ ॥

देवसमान उस राजा को मुनि के साथ किये हुए अपने अकार्य को याद करके जैसा सन्ताप हुआ, वैसा अपनी मृत्यु के समाचार को सुनकर भी नहीं हुआ ॥ २६ ॥

फिर राजा ने गौरमुख को विदा करते हुए कहा—भगवान् शमीक ऋषि को मेरे ऊपर फिर भी कृपा करनी चाहिये ॥ २७ ॥

जब गौरमुख चला गया तब मन में उदास होकर राजा ने तत्काल मन्त्रियों के साथ उस विषय में विचार किया ॥ २८ ॥

संमन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२९॥
रक्षाश्च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥३०॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात्परिरक्षितः ॥३१॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥३२॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमद्विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ॥३३॥
श्रुतं हि तेन तद्भूद्यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥३४॥

मन्त्रियों की संमति के अनुसार गुप्त विचार के मूलतत्त्व को जाननेवाले उस राजा ने एक ही खम्भे के ऊपर बड़ा सुरक्षित महल बनवाया ॥ २९ ॥

उसमें वैद्य, औषध तथा मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मणों को नियत करके उस महल को चारों ओर से सुरक्षित कर दिया गया ॥ ३० ॥

सब तरह से सुरक्षा के उपाय करके वह उस महल में ही रहकर राज्य के सब कार्यों को मन्त्रियों के साथ किया करता था ॥ ३१ ॥

उक्त महल में निवास करते हुए परीक्षित के पास कोई भी नहीं पहुँच सकता था, वह महल इतना सुरक्षित था कि बाहर निकला हुआ पवन भी फिर भीतर प्रवेश नहीं कर सकता था ॥ ३२ ॥

जब सातवाँ दिन आया तब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विद्वान् काश्यप उस राजा की चिकित्सा करने को चल दिया। क्योंकि नागराज तक्षक राजाओं में श्रेष्ठ इस परीक्षित को यमलोक में पहुँचायेगा, यह बात उसने सुनी थी ॥ ३३–३४ ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥३५॥
तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ॥३६॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किञ्च कार्यं चिकीर्षति ॥३७॥

काश्यप उवाच ।

नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परीक्षितमरिन्दमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाद्य प्रधक्ष्यति ॥३८॥
तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसा ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम् ।
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्त्तुमपज्वरम् ॥३९॥

इस कारण उसने विचार किया कि तक्षक जब परीक्षित को काटेगा तब मैं उसके विष को उतार दूँगा, जिससे मुझे धन और धर्म की प्राप्ति होगी ॥ ३५ ॥

ऐसा निश्चित विचार करता हुआ काश्यप मार्ग में चला जा रहा था, उसको देखकर नागराज तक्षक बूढ़े ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनियों में श्रेष्ठ काश्यप से कहने लगा कि आप ऐसे घबड़ाए हुए से कहाँ जा रहे हैं ? ऐसा कौन सा काम करने का विचार आपने किया है ? ॥ ३६–३७ ॥

काश्यप ने कहा—सर्पों में श्रेष्ठ तक्षक शत्रुमर्दन कुरुवंशी राजा परीक्षित को आज अपने विष से भस्म कर डालेगा ॥ ३८ ॥

इस कारण हे सौम्य ! अग्नि के समान तेजस्वी, तक्षक के डसे हुए, अपार बलवाले उस पाण्डववंशी राजा का विष उतारने को मैं आज उसके पास शीघ्रता से जा रहा हूँ ॥ ३९ ॥

तक्षक उवाच ।

अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्त्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ॥४०॥

काश्यप उवाच ।

अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ॥४१॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके तक्षककाश्यप-
संवादे द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥



तक्षक ने कहा कि हे ब्राह्मण ! उस राजा को भस्म करनेवाला (डसनेवाला) वह तक्षक मैं हूँ। तुम लौट जाओ, क्योंकि मेरे काटे हुए का विष तुम नहीं उतार सकोगे ॥ ४० ॥

काश्यप ने कहा कि मैं सर्प से डसे हुए राजा के पास जाकर उसको निर्विष करूँगा, यह मेरी बुद्धि विद्या का बल रखती है, अर्थात् मैं अपनी मन्त्र-विद्या के बल से उसके विष को अवश्य ही उतार दूँगा ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥

तेतालीसवाँ अध्याय

तक्षक उवाच ।

यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किञ्चिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥
परं मन्त्रबलं यत्ते तद्दर्शय यतस्व च ।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

काश्यप उवाच ।

दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे ।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना ।
अदशद् वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४ ॥
स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना ।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५ ॥

तक्षक ने कहा—हे काश्यप! तुम यदि मेरे काटे हुए मनुष्य की चिकित्सा कर सकते हो तो मैं इस वृक्ष को डसता हूँ, तुम इसको जीवित करो। तुम्हारे पास जो बड़ा भारी मन्त्रबल हो वह मुझे दिखाने का उद्योग करो, हे द्विजवर! मैं तुम्हारे देखते हुए ही इस सामने के वट वृक्ष को डसकर भस्म किये डालता हूँ॥ १-२॥

काश्यप ने कहा—हे नागेन्द्र! तुम्हारी यही इच्छा है तो तुम इस वृक्ष को अपने विष से जलाओ, हे भुजङ्गम! फिर मैं तुम्हारे भस्म किये हुए वृक्ष को हरा भरा कर दूँगा॥ ३॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार महात्मा काश्यप के कहने से सर्पों में श्रेष्ठ तक्षक ने वट के वृक्ष को डस लिया॥ ४॥

पराक्रमी सर्पराज के डसते ही उस वृक्ष में सर्वत्र विष चढ़ गया और वह चारों ओर से जलने लगा॥ ५॥

तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत् ।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच ।

भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा ।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८ ॥
ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः ।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९ ॥
अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम् ।
पलाशिनं शाखिनञ्च तथा विटपिनं पुनः ॥१०॥
तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना ।
उवाच तक्षको ब्रह्मन्नैतदत्यद्भुतं त्वयि ॥११॥

उस वृक्ष को भस्म करने के बाद तक्षक ने काश्यप से कहा कि द्विजवर! अब तुम इस वनस्पति को जीवित करने का यत्न करो ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर सर्पराज के तेज से जो वृक्ष जलकर भस्म हो गया था, उसकी सब भस्म को इकट्ठी करके काश्यप ने कहा—॥ ७ ॥

हे सर्पराज! आज इस वनस्पति के ऊपर मैं अपनी विद्या के बल की परीक्षा करता हूँ, उसको तुम देखो। हे भुजङ्गम! तुम्हारे सामने ही मैं इसको संजीवित-नवपल्लवित करता हूँ ॥ ८ ॥

फिर ब्राह्मणश्रेष्ठ, सामर्थ्यशाली और विद्वान् काश्यप ने अपनी विद्या के बल से भस्म हुए उस वट वृक्ष को जीवित कर दिया ॥ ९ ॥

उसमें पहले अङ्कुर निकला, फिर दो पत्ते निकले, तदनन्तर बहुत से पत्ते, शाखा और डालियों से भरा हुआ पूरा वृक्ष जीवित हो गया ॥ १० ॥

महात्मा काश्यप ने उस वट वृक्ष को हरा भरा कर दिया, यह देखकर तक्षक ने कहा—हे द्विजवर्य! वास्तव में तुम मेरे वा मेरे जैसे किसी दूसरे सर्प के

द्विजेन्द्र यद्विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥१२॥
यत्तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात्।
अहमेव प्रदास्यामि तत्ते यद्यपि दुर्लभम् ॥१३॥
विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥१४॥
ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्द्धानमितो व्रजेत् ॥१५॥

काश्यप उवाच।

धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम।
ततोऽहं विनिवर्त्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ॥१६॥

विष से नष्ट हुए को जीवित कर सकते हो। तुम्हारे विषय में यह बात कुछ अचरज की नहीं है, हे तपस्वियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! तुम वहाँ किस वस्तु की इच्छा से जा रहे हो ॥ ११-१२ ॥

राजश्रेष्ठ परीक्षित से जो फल पाने की तुम्हें इच्छा हो, वह फल चाहे जैसा दुर्लभ हो तो भी मैं वह तुमको दे दूँगा ॥ १३ ॥

हे विप्र! ब्राह्मण के शाप से गतायु उस राजा की रक्षा करने को तुम जाते हो, परन्तु इसकी सफलता में मुझे संदेह होता है ॥ १४ ॥

यदि तुम्हारा यह काम सिद्ध न हुआ तो निस्तेज हुए सूर्य के समान तीनों लोकों में फैली हुई तुम्हारी अपार कीर्त्ति के भी नष्ट हो जाने की संभावना है ॥ १५ ॥

काश्यप ने तक्षक की बात सुनकर कहा कि हे भुजङ्गम! मैं धन की इच्छा से वहाँ जा रहा हूँ, यदि तुम मुझे बहुत सा धन दो तो मैं अभी उसे लेकर लौट जाऊँगा ॥ १६ ॥

तक्षक उवाच ।

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद्राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्त्तस्व द्विजोत्तम ॥१७॥

सौतिरुवाच ।

तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः ।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥१८॥
दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्त्तत काश्यपः ॥१९॥
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद्यावदीप्सितम् ।
निवृत्ते काश्यपे तस्मिन् समयेन महात्मनि ।
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ॥२०॥
अथ शुश्राव गच्छन् स तक्षको जगतीपतिम् ।
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ॥२१॥

तक्षक ने कहा—हे द्विजोत्तम ! तुम्हें उस राजा से जितना धन मिलने की आशा हो उससे अधिक धन मैं ही तुम्हें दिये देता हूँ, उसको लेकर तुम लौट जाओ ॥ १७ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तक्षक की इस बात को सुनकर महाबुद्धिमान् तेजस्वी और श्रेष्ठ ब्राह्मण काश्यप ने ध्यान धरकर देखा तो ज्ञात हुआ कि वास्तव में पाण्डववंशी राजा परीक्षित की आयु पूरी होने को आ गई है। इस कारण वह तक्षक नाग से अपनी इच्छानुसार धन लेकर अपने नगर की ओर चलता हुआ। महात्मा काश्यप मुनि के यथेच्छ धन लेकर लौट जाने पर तक्षक निश्चित समय पर वहाँ से तुरन्त हस्तिनापुर की ओर को चल दिया ॥ १८–२० ॥

उसने मार्ग में जाते हुए सुना कि—विष को दूर करनेवाले मन्त्रों तथा घाव पर लगानेवाली ओषधियों से भली प्रकार रक्षित होकर राजा परीक्षित बहुत ही सावधानी से महल में रहता है ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच ।

स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ।
मया वञ्चयितव्योऽसौ उपायः को भवेदिति ॥२२॥
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत्स भुजङ्गमान् ।
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ॥२३॥

तक्षक उवाच ।

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ।
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ॥२४॥

सौतिरुवाच ।

ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ।
उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ॥२५॥
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
कृत्वा तेषाञ्च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ॥२६॥

उग्रश्रवा कहते हैं—फिर तक्षक ने विचार किया कि अब मुझे माया के द्वारा राजा को भुलावे में डालना चाहिये, परन्तु ऐसा करने के लिये कौन सी युक्ति रचनी चाहिये ? ॥ २२ ॥

तदनन्तर उसने अपने सेवक सर्पों को तपस्वियों के रूप में फल, कुशा और जल लेकर राजा के पास भेजने का विचार किया ॥ २३ ॥

तक्षक सेवकों से बोला कि तुम सब मन को स्थिर करके फल, कुशा और जल ले जाने के बहाने से बनावटी आशीर्वाद देने को राजा के महल में जाओ ॥ २४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर तक्षक ने जैसी आज्ञा दी थी, सब सर्पों ने वैसा ही किया और उसके अनुसार फल, कुशा और जल लेकर राजा के पास गए। तब वीर और श्रेष्ठ राजा परीक्षित ने वह सब स्वीकार कर लिया और इनको पारितोषिक आदि देकर कहा कि अब आप जाइये ॥ २५-२६ ॥

गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ।
अमात्यान् सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ॥२७॥
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ।
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ॥२८॥
ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ॥२९॥
विधिना सम्प्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु ।
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत् स्वयम् ॥३०॥
ततो भक्षयतस्तस्य फलात् कृमिरभूदणुः ।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ॥३१॥
स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत् ।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ॥३२॥
सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिर्मां दशतामयम् ।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ॥३३॥

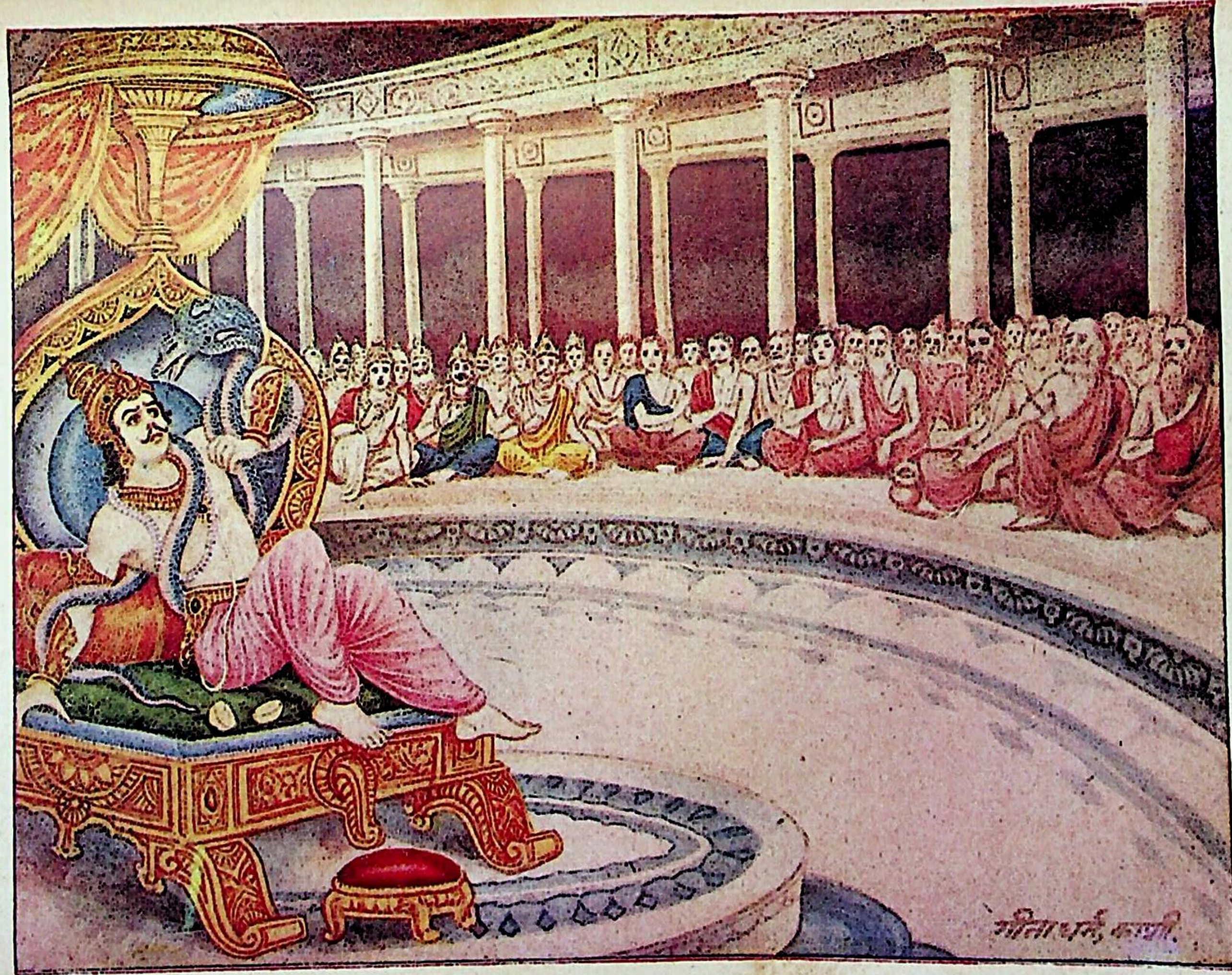
इस प्रकार विदा होकर वे तपस्वियों का मिथ्यारूप धारण करनेवाले सर्प महल में से चले आये। थोड़ी देर पीछे राजा ने अपने मन्त्रियों और मित्रों से कहा कि तपस्वियों के लाये हुए इन स्वादिष्ठ फलों को तुम भी मेरे साथ बैठकर खाओ ॥ २७–२८ ॥

ऐसा कहकर दैव और मुनि के शाप की प्रेरणा से उस राजा ने मन्त्रियों के साथ बैठकर उन फलों को खाने की इच्छा की और दुर्भाग्य से जिस फल में तक्षक नाग छिपकर बैठ गया था, वही फल राजा ने अपने खाने को उठा लिया ॥ २९–३० ॥

हे शौनक! ज्यों ही उस फल को राजा ने खाना चाहा कि उसमें काली आँखोंवाला, ताँबे के रङ्ग का एक छोटा सा कीड़ा राजा को दिखाई पड़ा ॥ ३१ ॥

तब राजा ने उस कीड़े को पकड़कर अपने मन्त्रियों से कहा कि अब सूर्य अस्त होने को आ गया है, इस कारण अब मुझे विष का कुछ भय नहीं है ॥ ३२ ॥

यह कीड़ा ही तक्षक बनकर मुझे काट ले, जिससे मेरा पापकर्म दूर हो जाय और उन मुनि का वचन भी सत्य हो ॥ ३३ ॥



राजा परीक्षित के तक्षक नाग का डसना ❀ રાજા પરીક્ષિતને તક્ષક નાગનું ડસવું.

ते चैनमन्ववर्त्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संन्निवेश्य ह ॥३४॥
कृमिकं प्राहसत्तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ।
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण स्ववेष्ट्यत ॥३५॥
तस्मात् फलाद्विनिष्क्रम्य यत्तद् राज्ञे निवेदितम् ।
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम् ।
अदशत् पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके तक्षकपरीक्षिद्दंशे
त्रयश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥



इस समय काल से प्रेरित हुए मन्त्रियों ने भी राजा की बात मान ली। उनसे इस प्रकार कहकर बुद्धिहीन और मरणकाल के समीप पहुँचे हुए उस राजा ने कुछ हँसकर कीड़े को अपने गले में लगा लिया और फिर हँसने लगा। इतने ही में उस कीड़े के रूप में रहनेवाला और फल में से निकला हुआ सर्पों का राजा तक्षक मुनि के कहने के अनुसार वेग के साथ राजा के गले में लिपट गया और बड़ा भयंकर शब्द करके राजा परीक्षित को डस लिया ॥ ३४–३६ ॥

तेतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥



चवालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥
ततस्तु ते तद् गृहमग्निनावृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात राजाशनिताडितो यथा ॥ ४ ॥
ततो नृपे तक्षकतेजसा हते प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—राजा के शरीर में तक्षकनाग को लिपटा हुआ देखते ही मन्त्रियों के मुख पीले पड़ गए और वे सब बड़े शोक के साथ रोने लगे ॥ १ ॥

इतना ही नहीं, किन्तु तक्षक की फुँकार सुनकर सब मन्त्री वहाँ से भागने लगे। भागते समय उन शोकपरायण मन्त्रियों ने नागों के राजा, अद्भुत रूपवाले उस सर्पश्रेष्ठ तक्षक को आकाशमार्ग से जाते हुए देखा। तक्षक नाग लाल रङ्ग का था, इस कारण ऐसा मालूम हुआ कि मानो काले आकाश में सिंदूर की रेखा खिंच रही है। उस लाल कमल के समान दमकते हुए महासर्प को देखकर मन्त्रियों को बड़ा शोक हुआ ॥ २-३ ॥

फिर उसके विष से उत्पन्न हुई अग्नि से चारों ओर से घिरे और जलते हुए राजमहल को भय के मारे त्यागकर सब मन्त्री दिशाओं में भागने लगे और राजा तो वज्र से मारा हुआ सा भूतल पर गिर गया ॥ ४ ॥

फिर तक्षक के विष से राजा के मर जाने पर उसके मन्त्रियों ने राजपुरोहित को साथ लेकर सब पारलौकिक क्रियाएँ पूरी कीं ॥ ५ ॥

नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥
स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो यथास्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥
ततस्तु राजानममित्रतापनं समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं वपुष्टमार्थं वरयाम्प्रचक्रमुः ॥ ८ ॥
ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां
कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चापि तां प्राप्य मुदा युतोऽभवन्
न चान्यनारीषु मनो दधे क्वचित् ॥ ९ ॥

नगर के सब मनुष्यों ने इकट्ठे होकर मरण को प्राप्त हुए उस राजा के बालक पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। शत्रुओं को दबानेवाले, कुरुकुल के दीपक उस राजा का नाम जनमेजय रक्खा गया था ॥ ६ ॥

राजाओं में श्रेष्ठ वह जनमेजय यद्यपि बालक था तो भी बड़ा ही चतुर कहा जाने लगा और मन्त्रियों के साथ राजपुरोहित की संमति से कुरुवंश की श्रेष्ठ रीति के अनुसार पूर्वजों के समान राजपाट चलाने लगा ॥ ७ ॥

फिर उस राजा के मन्त्रियों ने यह जानकर कि हमारा राजा शत्रुओं को दबाकर वश में रख सकता है, सुवर्णवर्मा नामवाले काशी के राजा के पास जाकर उसकी पुत्री वपुष्टमा को जनमेजय के लिये माँगा ॥ ८ ॥

काशी के राजा ने उस कुरुवीर राजा जनमेजय की परीक्षा करके धर्मानुकूल विधि से अपनी पुत्री वपुष्टमा का विवाह उसके साथ कर दिया। जनमेजय भी उसके साथ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हुआ और उसने किसी अन्य स्त्री की ओर कभी भी अपना मन नहीं चलाया ॥ ९ ॥

सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव
प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान् ।
तथा स राजन्यवरो विजह्निवान्
यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः ॥१०॥
वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता
प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव
विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ॥११॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके
चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वीर राजा जनमेजय प्रसन्न मन से कभी अनेकों सरोवरों में, कभी पुष्प-सम्पदा से प्रफुल्लित हुए उपवनों में विहार करने लगा। सब राजाओं में श्रेष्ठ वह जनमेजय जैसे पहले पुरुरवाने उर्वशी को पाकर समय बिताया था वैसे ही उस रानी के साथ विलास सुख में समय विताने लगा॥ १०॥

स्त्रियों में परमसुन्दरी कहलानेवाली वपुष्टमा भी अपने रूप के योग्य सुन्दर पति को पाकर विलासपूर्वक विहार के अवसरों में राजा की इच्छानुसार क्रीडा करके तथा उसके अनुकूल रहकर पति को प्रसन्न किया करती थी॥ ११॥

चवालीसवाँ अध्याय समाप्त॥ ४४॥



पैंतालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १ ॥
चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह ॥ २ ॥
वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः ।
स ददर्श पितॄन् गर्त्ते लम्बमानानधोमुखान् ॥ ३ ॥
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।
तं तन्तुञ्च शनैराखुमाददानं बिलेशयम् ॥ ४ ॥
निराहारान् कृशान् दीनान् गर्त्ते स्वत्राणमिच्छतः ।
उपसृत्य स तान् दीनान् दीनरूपोऽभ्यभाषत ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इसी समय परमतपस्वी जरत्कारु ऋषि, जहाँ रात हो जाय वहाँ ही निवास करते हुए सकल देशों में विचरते हुए फिर रहे थे ॥ १ ॥

जिनका मन वश में नहीं है ऐसे मनुष्यों से न हो सकनेवाले व्रत और दीक्षा को धारण कर वे उसके अनुसार ही बर्त्ताव करते और पवित्र तीर्थों में स्नान करते रहते थे ॥ २ ॥

वे वायु का भक्षण करते, निराहार रहते और हर एक प्रकार के सांसारिक भोग विलास से दूर रहते थे। ऐसे वर्त्ताव से उनका शरीर दिन पर दिन सूखने लगा। इसी दशा में पृथ्वी पर विचरते हुए एक समय उन्होंने एक गड्ढे में केवल तृणों के झुण्ड के एक ही तिनके को पकड़कर उलटे लटकते हुए अपने पितरों को देखा। झुण्ड के बचे हुए उस एक तृण को भी गुफा में रहनेवाला चूहा धीरे धीरे काट रहा था ॥ ३-४ ॥

इस प्रकार उलटा सिर करके लटके हुए, भूखे, दुर्बल, दीन और उस खाई में नीचे गिरते समय रक्षा पाने के अभिलाषी तथा दयापात्र पितरों के पास जाकर जरत्कारु दीनता के साथ उनसे यह पूछने लगा ॥ ५ ॥

के भवन्तोऽवलम्बन्तो वीरणस्तम्बमाश्रिताः ।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना ॥ ६ ॥
वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम् ।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः ॥ ७ ॥
छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्यचिरादिव ।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्त्ते व्यक्तमधोमुखाः ॥ ८ ॥
तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान् ।
कृच्छ्रमापदमापन्नान् प्रियं किं करवाणि वः ॥ ९ ॥
तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाथवा पुनः ।
अर्धेन वापि निस्तर्त्तुमापदं ब्रूत मा चिरम् ॥१०॥
अथवापि समग्रेण तरन्तु तपसा मम ।
भवन्तः सर्वं एवेह काममेवं विधीयताम् ॥११॥

तृण के स्तम्ब को पकड़कर लटके हुए तुम कौन हो ? गुफा में रहनेवाले चूहे द्वारा जड़ काटने से यह स्तम्ब भी कमजोर हो रहा है ॥ ६ ॥

इसकी जड़ भी अब एक ही रह गई है, जिसे यह चूहा तीखे दाँतों से धीरे धीरे काट रहा है ॥ ७ ॥

वह अब थोड़ा सा लगा रह गया है और कुछ ही समय में टूट जायगा। तब हे पितरो ! तुम उलटे सिर इस गड्ढे में गिर पड़ोगे, इसमें जरा भी संदेह नहीं है ॥ ८ ॥

ऐसी दुर्दशा में पड़े हुए तुम्हें देखकर मुझे दुःख होता है, मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय काम करूँ, यह मुझे बताओ ? ॥ ९ ॥

मेरे तप के चौथे, तीसरे वा आधे भाग से भी यदि तुम इस दुःख से छूट सकते हो तो मुझसे कहो, जरा भी विलम्ब मत करो ॥ १० ॥

अथवा मेरे संपूर्ण तप से भी तुम सब इस दुःख से पार हो जाओ, यह मैं चाहता हूँ। सब प्रकार से तुम से कहता हूँ कि मैं ऐसा करने को उद्यत हूँ, अब तुम्हारी इच्छा में जो आवे सो करो ॥ ११ ॥

पितर ऊचुः।

वृद्धो भवान् ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छति।
न तु विप्राग्रय तपसा शक्यते तद्व्यपोहितुम् ॥१२॥
अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतां वर।
सन्तानप्रक्षयाद् ब्रह्मन् पताम निरयेऽशुचौ ॥१३॥
सन्तानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ॥१४॥
येन त्वां नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम्।
वृद्धो भवान्महाभागो यो नः शोच्यान् सुदुःखितान् ॥१५॥
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज।
यायावरा नाम वयमृषयः शंसितव्रताः ॥१६॥
लोकात् पुण्यादिह भ्रष्टाः सन्तानप्रक्षयान्मुने।
प्रणष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥१७॥

पितरों ने उसकी बात को सुनकर कहा कि तू बूढ़ा ब्रह्मचारी है और हम सबों को दुःख से तारना चाहता है, परन्तु हे प्रियवर! तू अपने तप से हमें इस संकट से नहीं छुड़ा सकता ॥ १२ ॥

हे तात! हे वक्ताओं में श्रेष्ठ! तप का फल तो हमारे पास भी है, परन्तु हे ब्राह्मण! संतान का नाश होने से हम अपवित्र नरक में गिरे जा रहे हैं॥ १३ ॥

संतान ही परमधर्म है, ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है। हे तात! हम यहाँ लटके हुए हैं, इससे हमारी पहिचानने की शक्ति नष्ट हो गई है, इस कारण जगत् में प्रसिद्ध पराक्रमवाले तुझे हम पहिचान नहीं सकते हैं। तू वृद्ध और महाभाग्यशाली है, परन्तु अत्यन्त दुःखित तथा शोक करने योग्य हमारे लिये तू दयावश शोक करता है। इस कारण हे द्विज! हम कौन हैं सो सुन। हम तीव्र व्रतवाले यायावर नामक ऋषि हैं, परन्तु हे मुने! हमारा पुत्र न होने से हम पुण्यलोक से भ्रष्ट हो गए हैं, हमारा तीव्र तप भी नष्ट हो गया है और सन्तानरूपी कोई तन्तु भी नहीं है॥ १४-१७ ॥

अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥१८॥
जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥१९॥
तेन स्म तपसो लोभात् कृच्छ्रमापादिता वयम्।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वास्ति कश्चन ॥२०॥
तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत्।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥२१॥
पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना ह्यधोमुखाः।
साधु दारान् कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥२२॥
कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन।
यस्त्वं पश्यसि नो ब्रह्मन् वीरणस्तम्बमाश्रितान् ॥२३॥

हमारा इस समय एक ही संतान है परन्तु वह भी न होने के समान है। वह अभागा हमारे मन्दभाग्य के कारण केवल तप ही किया करता है ॥ १८ ॥

वह इस जगत् में जरत्कारु नाम से प्रसिद्ध है, वेदों में और वेदों के अङ्गों में पारगामी है, उसका मन वश में है और उसका आत्मा उदार है। वह सदाचारी और बड़ा भारी तपस्वी है ॥ १९ ॥

उसने तप के लोभ से हमें बड़े कष्ट में डाल दिया है। उसके स्त्री, पुत्र वा बान्धव इनमें से कोई भी नहीं है ॥ २० ॥

इस कारण हम चेतनाहीन होकर अनाथ के समान इस गड्ढे में लटक रहे हैं, तू यदि उसको कहीं देखे तो हमारा रक्षक समझकर उससे कहना कि तेरे पितर उलटे सिर से दीनता के साथ गढ्ढे में लटक रहे हैं, इस कारण तू किसी सुशीला स्त्री के साथ विवाह करके संतान उत्पन्न कर ॥ २१-२२ ॥

हे तपोधन! हमारे कुल का तन्तु अब केवल एक तू ही शेष रहा है। हे ब्रह्मन्! क्योंकि तू अब नरसलों के झुण्ड के एक तिनके के सहारे हमें लटकते हुए देख रहा है ॥ २३ ॥

एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्द्धनः।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन्मूलानीहास्य वीरुधः ॥२४॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः।
यत्त्वेतत्पश्यसि ब्रह्मन्मूलमस्यार्द्धभक्षितम् ॥२५॥
यत्र लम्बामहे गर्त्ते सोप्येकस्तप आस्थितः।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन् काल एष महाबलः ॥२६॥
स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन्।
जरत्कारुं तपोलुब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥२७॥
न हि नस्तत्तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम।
छिन्नमूलान् परिभ्रष्टान् कालोपहतचेतसः।
अधः प्रविष्टान् पश्यास्मान्यथा दुष्कृतिनस्तथा ॥२८॥
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः।
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः ॥२९॥

हमारे और अपने कुल की वृद्धि करनेवाला एक यही आधार है, जिन वीरण की जड़ों को तू देख रहा है ॥ २४ ॥

इस जड़ के तन्तुओं को काल खा गया है। हे ब्रह्मन्! तू जो इस चूहे से खाई हुई आधी जड़ को देख रहा है जिसके आधार से हम लटक रहे हैं, वह एक मूलरूप सन्तान है। सो वह भी तप का आरम्भ कर बैठा है। और हे ब्रह्मन्! तू जो चूहे को देख रहा है यह महाबली काल है ॥ २५-२६ ॥

यह काल तप के लोभ में पड़े हुए, मूढ़मति, असावधान और रात दिन तप में ही प्रीति रखनेवाले जरत्कारु को पीड़ा देता हुआ धीरे धीरे उसका नाश कर रहा है, जो जरत्कारु हमारे वंश का एक तन्तु है ॥ २७ ॥

हे ऋषे! वह जो तप कर रहा है उससे हमें नहीं तार सकता, क्योंकि हमारे आधारभूत इस वीरण की जड़ें कट गई हैं और अब हम नरक में गिरना ही चाहते हैं। कालवश हमारी संज्ञा भी नष्ट हो गई है, जैसे पापी उलटे सिर से लटकते हों वैसे ही हम भी उलटे सिर से लटक रहे हैं। जरा हमारी ओर तू देख तो

तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ।
तत् सर्वमपरं तात न सन्तत्या समं मतम् ॥३०॥
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधनम् ।
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाख्येयमशेषतः ॥३१॥
यथा दारान् प्रकुर्यात्स पुत्रानुत्पादयेद्यथा ।
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया ॥३२॥
बान्धवानां हि तस्येह यथा चास्मकुलं तथा ।
कस्त्वं बन्धुमिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

सही, हम अपने सब बान्धवों सहित ज्यों ही यहाँ से नीचे गिरे, त्यों ही वह भी काल से कटकर इस नरक में गिर जायगा। हे तात! इस जगत् में तप वा यज्ञादिक जो कुछ भी बड़ा या पवित्र गिना जाता है वह सब तथा और वस्तु भी सन्तान के समान उत्तम नहीं मानी जाती ॥ २८-३० ॥

हे तात! तपोधन! तू यह सब देखकर जरत्कारु से कहना, तूने यहाँ जैसा देखा है सब वैसा ही उससे कह देना ॥ ३१ ॥

जिससे कि वह स्त्री को स्वीकार करके पुत्र उत्पन्न करे। हे ब्रह्मन्! वह हमारा एक ही वंशधर होने के कारण हमारा नाथ है, इस कारण तू उससे यह वृत्तान्त कह देना ॥ ३२ ॥

हम उसके वही कुटुम्बी हैं जिनका तू अपने कुलवालों और बान्धवों के समान शोक करता है। हे श्रेष्ठ मुने! यहाँ आकर हम सब के आगे खड़ा होनेवाला तू कौन है? यह बात हम सुनना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥



छियालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः ।
उवाच तान् पितॄन् दुःखाद्बाष्पसन्दिग्धया गिरा ॥ १ ॥

जरत्कारुरुवाच ।

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
तद् ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ॥ २ ॥
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः ।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ ३ ॥

पितर ऊचुः ।

पुत्र दिष्ट्यासि सम्प्राप्त इमं देशं यदृच्छया ।
किमर्थश्च त्वया ब्रह्मन् कृतो न दारसंग्रहः ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच ।

ममायं पितरो नित्यं हृद्यर्थः परिवर्त्तते ।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार पितरों के वचन सुनकर जरत्कारु को शोक हुआ और दुःख तथा आँसुओं से गद्गद हुई वाणी में वह पितरों से कहने लगे ॥ १ ॥

जरत्कारु ने कहा—मुझसे पहले होनेवाले तुम मेरे पिता और पितामह हो, इस कारण तुम मुझसे कहो कि मैं तुम्हारे हित के लिये क्या करूँ ? ॥ २ ॥

मैं ही वह पापी जरत्कारु नामवाला तुम्हारा पुत्र हूँ, पापकर्म करनेवाले तथा किसी प्रकार के भी सार से रहित मुझे तुम दण्ड दो ॥ ३ ॥

पितरों ने कहा—हे पुत्र ! बहुत अच्छा हुआ कि तू ईश्वरेच्छा से अनायास ही यहाँ आ पहुँचा है, हे ब्राह्मण ! तूने अब तक विवाह करने का विचार क्यों नहीं किया ? ॥ ४ ॥

जरत्कारु ने कहा कि हे पितरो ! मेरा नित्य यह विचार रहता है कि मैं

न दारान् वै करिष्येहमिति मे भावितं मनः।
एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः ॥ ६ ॥
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात् पितामहाः।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येहमसंशयम् ॥ ७ ॥
सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन।
भविष्यति च या काचिद्भैक्षवत् स्वयमुद्यता ॥ ८ ॥
प्रतिगृहीता तामस्मि न भरेयञ्च यामहम्।
एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि ॥ ९ ॥
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत्पितामहाः।
तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वताश्चाव्ययाश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम ॥१०॥

सौतिरुवाच।

एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक ॥११॥

अपने ब्रह्मचर्य से इस शरीर को स्वर्ग में ले जाऊँ। इस कारण मैंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि मैं विवाह नहीं करूँगा। परन्तु हे पितरो! तुम्हें इस प्रकार पक्षी के समान उलटे सिर लटकते हुए देखकर मैंने अपने मन को ब्रह्मचर्य से हटा लिया है, मैं तुम्हारा प्रिय काम करने के लिये अवश्य ही विवाह करूँगा ॥ ५–७ ॥

परन्तु मेरे जैसे ही नामवाली कन्या हो, जिसका मुझे पोषण न करना पड़े तथा भिक्षारूप से स्वयं ही प्राप्त हो तभी मैं विवाह करूँगा ॥ ८–९ ॥

ऐसा योग न मिला तो मैं विवाह नहीं करूँगा, इस बात को आप सत्य मानिये। उस कन्या से आपको तारनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा, मैं चाहता हूँ कि मेरे पितर सनातन काल पर्यन्त अविनाशी रहें ॥ १० ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार पितरों से कहकर वह मुनि भूमण्डल में विचरने लगे, परन्तु हे शौनक! वृद्ध होने के कारण उनको स्त्री नहीं मिली ॥ ११ ॥

यदा दिर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा ।
तदारण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः ॥१२॥
स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया ।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः ॥१३॥
यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च ।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः ॥१४॥
उग्रे तपसि वर्त्तन्तं पितरश्चोदयन्ति माम् ।
निविशस्वेति दुःखार्त्ताः सन्तानस्य चिकीर्षया ॥१५॥
निवेशायाखिलां भूमिं कन्याभैक्षं चरामि भोः ।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः सन्नियोजितः ॥१६॥
यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्त्तिताः ।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतो दिशम् ॥१७॥
मम कन्या सनाम्नी या भैक्षवच्चोद्यता भवेत् ।
भरेयश्चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत ॥१८॥

जब पितरों की प्रेरणा से व्याकुल होकर वह मुनि फिर वन में गए तब बड़े जोर से दुःखित होकर रोने लगे ॥ १२ ॥

पितरों का हित करने की इच्छा से वह प्रवीण मुनि वन में जाकर धीरे से तीन वार बोले कि मैं कन्या के वास्ते याचना करता हूँ, अनन्तर फिर कहा कि इस जङ्गल में जो स्थावर जङ्गम तथा अन्तर्हित प्राणी हों वे सब मेरे इस वचन को सुनें ॥ १३–१४ ॥

मैं पहले उग्र तपस्या में बैठा हुआ था, मेरे पितरों ने सन्तान के बिना दुःखी होकर मुझसे विवाह करने को कहा है ॥ १५ ॥

इस कारण हे सकल प्राणियो ! दरिद्र, दुःखी तथा पितरों से प्रेरित हुआ मैं विवाह करने के लिये सारी पृथ्वी पर कन्या की भीख माँगता फिरता हूँ ॥ १६ ॥

इस कारण जिन प्राणियों को मैंने अपना वचन सुनाया है, उनमें से जिसके पास कन्या हो वह उसके लिये भटकनेवाले मुझे कन्या दे ॥ १७ ॥

परन्तु वह कन्या मेरे ही नाम की हो, भिक्षारूप से स्वयं ही आकर प्राप्त हो और उसका पोषण मुझे न करना पड़े, ऐसी कन्या हो तभी वह मुझे मिले ॥ १८ ॥

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः ।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन् ॥१९॥
तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलङ्कृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत्समीपं तस्य पन्नगः ॥२०॥
तत्र तां भैक्ष्यवत्कन्यां प्रादात्तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन्न स तां प्रत्यगृह्णत ॥२१॥
असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि द्वन्द्वीभूतः परिग्रहे ॥२२॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

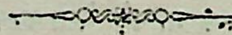


इतने ही में जरत्कारु की खोज में लगे हुए सर्पों ने इस समाचार के बारे में वासुकि से निवेदन किया ॥ १९ ॥

उस कथन को सुनकर नागराज ने उस कन्या को आभूषणादि से सजाया और अपने साथ लेकर जंगल में जरत्कारु मुनि के पास आया ॥ २० ॥

वहाँ वासुकि ने उस महात्मा को भिक्षारूप से कन्या का दान किया। परन्तु जरत्कारु ने यह सोचकर कि यह कन्या मेरे नाम की नहीं है और मुझे इसका पोषण करना पड़ेगा, उसको स्वीकार नहीं किया। क्योंकि मोक्ष पाने के लिये तपस्या करनेवाले पुरुष के साथ स्त्री का जो संयोग होता है, वह मोक्ष पाने में दुःखदायक हो जाता है। ऐसा विचार करने के अनन्तर हे भृगुपुत्र शौनक! उन्होंने वासुकि से कन्या का नाम पूछा और कहा कि मैं इस कन्या का भरण पोषण नहीं करूँगा ॥ २१–२३ ॥

छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥



सैंतालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

वासुकिस्त्वब्रवीद्वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥

भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणञ्च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच ।

न भरिष्येहमेतां वै एष मे समयः कृतः ।
अप्रियश्च न कर्त्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस पर वासुकि ने जरत्कारु ऋषि से कहा कि हे द्विजवर ! यह मेरी बहिन तुम्हारे ही नाम की और तपस्विनी है ॥ १ ॥

हे श्रेष्ठ द्विज ! तुम्हारी भार्या का पोषण मैं करूँगा, इस कारण तुम इस कन्या को स्वीकार करो, हे तपोधन ! मैं सब शक्ति से इसकी रक्षा भी करूँगा। हे मुनिवर ! तुम्हारे लिये ही मैंने यह कन्या पालकर बड़ी की है ॥ २ ॥

ऋषि ने कहा—मेरा तुम्हारे साथ यह नियम हो गया कि मैं इसका भरण पोषण नहीं करूँगा, तथा इसको मेरा अप्रिय काम नहीं करना होगा, यदि करेगी तो मैं इसको त्याग दूँगा ॥ ३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—जब सर्पराज ने स्वीकार कर लिया कि मैं अपनी बहिन का भरण पोषण करूँगा, तब जरत्कारु ऋषि उस सर्प के घर गए ॥ ४ ॥

तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रैः पुरस्कृतम् ॥ ५ ॥
ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य संमतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ६ ॥
शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ॥ ७ ॥
स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्त्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ८ ॥
त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासश्च ते गृहे ।
एतद् गृहाण वचनं मया यत्समुदीरितम् ॥ ९ ॥
ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा ।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति ॥१०॥

वहाँ मन्त्र जाननेवालों में श्रेष्ठ, तपोवृद्ध और महाव्रतधारी उन ऋषि ने विधियुक्त मन्त्रों से उस कन्या के साथ विवाह कर लिया। फिर ऋषियों से प्रशंसित होते हुए जरत्कारु अपनी स्त्री को लेकर सर्पराज के बनवाये हुए रमणीय वासभवन में गए। ॥ ५–६ ॥

वहाँ बड़े ही सुन्दर बिछौने से शय्या सजी हुई थी, उस स्थान में जरत्कारु अपनी स्त्री के साथ रहने लगे ॥ ७ ॥

उन श्रेष्ठ ऋषि ने अपनी स्त्री के साथ यह नियम कर लिया कि तू किसी दिन भी मुझको न तो अप्रिय लगनेवाला काम करना और न बुरी लगनेवाली बात कहना ॥ ८ ॥

तू कोई भी मेरा अप्रिय काम करेगी तो मैं इस घर का रहना त्याग कर चला जाऊँगा। यह जो बात मैंने कही है. इसका स्मरण रखना ॥ ९ ॥

यह सुनकर नागराज की बहिन उदास हो गई और अत्यन्त शोक करती हुई ऋषि से कहने लगी कि अच्छा, ऐसा ही करूँगी ॥ १० ॥

तथैव सा च भर्त्तारं दुःखशीलमुपाचरत्।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी ॥११॥
ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद्वासुकेः स्वसा।
भर्त्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम् ॥१२॥
तत्र तस्याः समभवद्गर्भो ज्वलनसन्निभः।
अतीव तेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः ॥१३॥
शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्द्धत तथैव सः।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः ॥१४॥
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत्।
तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद् गिरिम् ॥१५॥
अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साचिन्तयत्तदा।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी ॥१६॥
किन्नु मे सुकृतं भूयाद्भर्तुरुत्थापनं न वा।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम् ॥१७॥

फिर अपने भाइयों का भला चाहनेवाली यशस्विनी जरत्कारु कुत्ते के समान नींद लेती, हिरन के समान भय से चकित रहती और कौए की सी चंचल दृष्टि रखती थी, अर्थात् बहुत ही सावधान रहकर कठोर स्वभाववाले अपने पति की सेवा करने लगी ॥ ११ ॥

एक समय वासुकि की बहिन ऋतुस्नान करके शास्त्र के नियम के अनुसार अपने महामुनि पति की सेवा में जा पहुँची ॥ १२ ॥

उस समय उसको गर्भ की स्थिति हो गई, वह गर्भ अग्नि के समान अत्यन्त तेजस्वी और वैश्वानर के समान कान्तिमान् था ॥ १३ ॥

जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है वैसे ही वह गर्भ बढ़ने लगा। एक समय परम यशस्वी जरत्कारु अपनी स्त्री की गोद में सिर रखकर थके हुए के समान लेट गये। वह परम श्रेष्ठ ब्राह्मण निद्रा के वश में थे कि इतने ही में सूर्यनारायण अस्ताचल पर चले गए ॥ १४–१५ ॥

हे ब्रह्मन्! सायङ्काल होने पर धैर्य रखनेवाली वासुकि की बहिन धर्म का

कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथवा पुनः ।
धर्मलोपो गरीयान्वै स्यादित्यत्राकरोन्मतिम् ॥१८॥

उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति ।
धर्मलोपो भवेदस्य सन्ध्यातिक्रमणे ध्रुवम् ॥१९॥

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ॥२०॥

उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी ।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति ॥२१॥

सन्ध्यामुपास्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः ।
प्रादुष्कृताग्निहोत्रोऽयं मुहूर्त्तो रम्यदारुणः ॥२२॥

लोप होने के भय से विचार करने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए, जिसमें अच्छा परिणाम निकले। मैं अपने पति को जगाऊँ या नहीं, इन महात्मा का तो स्वभाव बड़ा दुःखदायक है। मुझे अब क्या करना चाहिये कि जिससे इनकी अपराधिनी न बनूँ॥ १६–१७॥

यदि मैं इन धर्मशील मुनि को नहीं जगाती हूँ तो इनके धर्म का लोप होगा। अन्त में उसने इस विषय में यह निश्चय किया कि धर्म का लोप होना बड़ी बुरी बात है॥ १८॥

यदि जगाऊँगी तो ये अवश्य ही कोप करेंगे और यदि संध्याकाल बीत गया तो अवश्य ही इनके धर्म का लोप होगा॥ १९॥

इस प्रकार विचार करके मधुर बोलनेवाली जरत्कारु उज्वल तपवाले, अग्निज्वाला के समान तेजस्वी, निद्रा के वश में हुए ऋषि से कोमल शब्दों में कहने लगी—हे महाभाग! आप उठिये, सूर्य अस्त होने का समय हो गया॥ २०–२१॥

हे भगवन्! आप व्रतधारी हैं, जल का आचमन करके संध्यावन्दन करिये, रमणीय और दारुण सन्ध्याकाल के अग्निहोत्र का समय हो गया॥ २२॥

सन्ध्या प्रवर्त्तते चेयं पश्चिमस्यां दिशि प्रभो ।
एवमुक्तः स भगवान् जरत्कारुर्महातपाः ॥२३॥
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ॥२४॥
समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम् ।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥२५॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्त्तते ।
न चाप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ॥२६॥
किं पुनर्द्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा ।
एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ॥२७॥
अब्रवीद्भगिनी तत्र वासुकेः सन्निवेशने ।
नावमानात् कृतवती तवाहं विप्रबोधनम् ॥२८॥

हे प्रभो ! सन्ध्या ने भी धीरे धीरे पश्चिम दिशा को छा लिया है। इस प्रकार ज्यों ही उसने कहा कि तत्काल महातपस्वी जरत्कारु मुनि काँपते हुए ओठ से अपनी स्त्री से इस प्रकार कहने लगे,—अरी नागकन्या ! तूने मेरा अपमान किया है ॥ २३-२४ ॥

इस कारण अब मैं तेरे पास नहीं रहूँगा, किन्तु जहाँ से आया हूँ वहीं लौटकर चला जाऊँगा। हे वामोरु ! मेरे हृदय में निश्चय है कि यदि मैं सोता होऊँ तो सूर्य भी अपने समय पर अस्त होने की शक्ति नहीं रखता। किसी पुरुष का जहाँ अपमान हो वहाँ रहना उसको अच्छा नहीं लगता है। फिर मुझ धर्मशील को वा मुझ जैसे किसी दूसरे पुरुष को अपमान के स्थान पर रहना कैसे अच्छा लग सकता है ? पति के इस प्रकार कहते ही जरत्कारु का हृदय काँपने लगा ॥ २५-२७ ॥

फिर वासुकि के घर पर रहनेवाली उसकी बहिन ने कहा कि हे महाराज ! आपका अपमान करने को मैंने नहीं जगाया है, किन्तु हे विप्र ! आपका धर्मलोप न हो यह विचार कर ही जगाया है। यह सुनकर कोप को प्राप्त और

धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम् ।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ॥२९॥
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम् ।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ॥३०॥
समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ॥३१॥
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति ।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्त्तुमर्हसि ॥३२॥
इत्युक्ता सानवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा ।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥३३॥
वाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः ॥३४॥
धैर्यमालम्ब्य वामोरूर्हृदयेन प्रवेपता ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥३५॥

नागकन्या के त्याग का ही निश्चय किये हुए महातपस्वी जरत्कारु ऋषि अपनी भार्या से कहने लगे कि ओ नागकन्या ! मैंने किसी समय झूँठ नहीं बोला है, मैं कह चुका कि चला जाऊँगा, तो अब चला ही जाऊँगा ॥ २८–३० ॥

मैंने तेरे साथ जो नियम किया था, उसका आज समय आ गया है। हे भद्रे ! मैंने तेरे साथ सुख से दिन बिताये हैं, हे कल्याणि ! यहाँ से मेरे चले जाने पर तू अपने भाई से कहना कि ऋषि मुझे छोड़कर चले गए और हे भीरु ! मेरे चले जाने पर भी तू शोक न करना ॥ ३१–३२ ॥

मुनि के ऐसा कहने पर जरत्कारु चिन्ता और शोक में भर गई, उसकी वाणी गद्गद हो गई, मुख सूख गया और नेत्रों में आँसू भर आये। वह सर्वाङ्ग-सुन्दरी वासुकि की बहिन जरत्कारु काँपते हुए हृदय से दोनों हाथ जोड़, धीरज धरकर जरत्कारु ऋषि से कहने लगी कि हे धर्मज्ञ ! मुझ निरपराधिनी को त्यागना उचित नहीं है ॥ ३३–३५ ॥

धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ॥३६॥
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः ।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ॥३७॥
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते ।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ॥३८॥
संप्रयोगो भवेन्नायं मम मोघस्त्वया द्विज ।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ॥३९॥
इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम ।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन् गन्तुमिच्छस्यनागसम् ॥४०॥
एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत् ।
यद्युक्तमनुरूपञ्च जरत्कारुं तपोधनः ॥४१॥

आप सदा धर्ममार्ग में चलते हैं और आपका प्रिय हित करने में प्रीतिवाली मैं भी धर्म में ही स्थित रहती हूँ। हे द्विजवर ! आपके साथ मेरा विवाह करने का जो प्रयोजन है, उस की सिद्धि अभी मैंने पूर्ण रीति से नहीं पाई है। इस कारण मुझ मन्दभागिनी से वासुकि नाग क्या कहेगा ? हे नाथ ! माता के शाप से भयभीत हुए मेरे भाइयों ने आपसे मेरी सन्तान होने की इच्छा की थी, वह अभी तक सफल हुई नहीं दीखती। आपसे सन्तान पाने पर ही मेरे भाइयों का कल्याण हो सकेगा ॥ ३६–३८ ॥

इस कारण हे द्विजवर ! जाति का हित चाहनेवाली मेरा जो आपके साथ समागम हुआ है वह निष्फल न जाय, इसके लिये मैं आपसे विनय करती हूँ ॥ ३९ ॥

हे ऋषे ! आप महात्मा होकर भी मुझमें अव्यक्त स्वरूपवाले गर्भ का स्थापन करके मुझ निरपराधिनी को त्याग कर जाने की इच्छा क्यों करते हो ? ॥ ४० ॥

इस प्रकार नागिनी ने जरत्कारु से उचित बात कही, तब वे तपोधन मुनि अपनी अनुरूप भार्या जरत्कारु से ऐसे योग्य वचन कहने लगे ॥ ४१ ॥

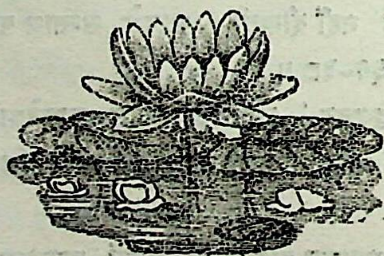
अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः ।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥४२॥
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः ।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीके
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

हे सुभगे ! अग्नि के समान प्रकाशवान् यह तेरा गर्भ वेद और वेद के अङ्गों को जाननेवाला तथा परम धर्मात्मा ऋषि होगा ॥ ४२ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा महर्षि जरत्कारु तप करने का निश्चय करके फिर अतिकठोर तप करने को वन में चले गए ॥ ४३ ॥

सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥



अड़तालीसवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत् ।
भ्रातुः सकाशमागम्य याथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥
ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच ।

जानासि भद्रे यत्कार्यं प्रदाने कारणञ्च यत् ।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात्ततो यदि ॥ ३ ॥
स सर्पसत्रात्किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान् ।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ॥ ४ ॥
अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात्ते मुनिसत्तमात् ।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—हे तपोधन! पति के वन में जाते ही जरत्कारु अपने भाई के पास गई और जो बात हुई थी वह सब उसको कह सुनाई ॥ १ ॥

सर्पों में श्रेष्ठ वासुकि उस बड़ी अप्रिय बात को सुनकर बहुत ही दीन हो गया और क्लेश को प्राप्त हुई बहिन से कहने लगा ॥ २ ॥

वासुकि ने कहा—जिस कारण से और जिस काम के लिये मैंने मुनि के साथ तेरा विवाह किया था, उसको तू जानती है? यदि उन ऋषि से सर्पों के हित के लिये तुझे पुत्र उत्पन्न हो जायगा तो वह पराक्रमी पुत्र निःसन्देह हमें सर्पयज्ञ में से बचा देगा। क्योंकि पहले पितामह ब्रह्माजी ने देवताओं के प्रति यह बात कही थी ॥ ३-४ ॥

हे सुभगे! क्या उन मुनिवर से तुझे गर्भ रहा है? मैं चाहता हूँ, उन विद्वान् ऋषि का विवाह निष्फल न हो ॥ ५ ॥

कामं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम् ।
किंतु कार्यगरीयस्त्वात्ततस्त्वाहमचूचुदम् ॥ ६ ॥
दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः ।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत्स माम् ॥ ७ ॥
आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम् ।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ॥ ८ ॥
जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्त्वा प्रत्यभाषत ।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ॥ ९ ॥

जरत्कारुरुवाच ।

पृष्टो मयाऽपत्यहेतोः स महात्मा महातपाः ।
अस्तीत्युत्तरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ॥१०॥
स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं वचः ।
उक्तपूर्वं कुतो राजन्सांपराये स वक्ष्यति ॥११॥

ऐसे कार्य के विषय में मुझे तुझसे पूछना वास्तव में योग्य नहीं है, परन्तु इस काम में बड़ा भारी प्रयोजन होने से पूछना पड़ा है ॥ ६ ॥

तेरे महातपस्वी पति का हठ ऐसा था कि उसको कोई रोक ही नहीं सकता था। यह बात मैं जानता हूँ, इस कारण मैं उनको लौटाने के लिये नहीं जाऊँगा, क्यों कि कदाचित् वह मुझे भी शाप दे दें ॥ ७ ॥

इस कारण तेरे पति का जो कुछ चरित हो वह सब मुझसे कथन कर और चिरकाल से मेरे हृदय में चुभे हुए दुःखदायी काँटे को निकाल ॥ ८ ॥

ऐसे वचन सुनकर जरत्कारु सन्ताप करते हुए सर्पराज वासुकि को धीरज देती हुई इस प्रकार कहने लगी ॥ ९ ॥

जरत्कारु ने कहा—मैंने उनसे पुत्र के लिये पूछा था, सो वे महातपस्वी महात्मा 'अस्ति' अर्थात् हाँ तेरे गर्भ में पुत्र है, इतना ही उत्तर मुझे देकर चले गए ॥ १० ॥

उन्होंने हास्य में भी किसी दिन झूठी बात कही हो, यह मुझे याद नहीं

न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे ।
उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ॥१२॥
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः।
तस्माद् व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम् ॥१३॥

सौतिरुवाच ।

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत ॥१४॥
सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चारुरूपया ।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ॥१५॥
ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः ।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ॥१६॥

जाता। सो हे राजन्! ऐसे आपत्ति के समय में तो वह झूठ बोलेंगे ही क्यों? ॥ ११ ॥

उन्होंने जाते समय मुझसे कहा है कि कार्य सिद्धि के लिये तू कुछ भी सन्ताप न करना, तुझको अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाला पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १२ ॥

हे भाई! इस प्रकार मुझसे कहकर तप ही जिनका धन है ऐसे मेरे स्वामी चले गए हैं, इस कारण तुम अपने मन से इस बड़े भारी दुःख को दूर कर दो ॥ १३ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—नागराज वासुकि ने अपनी बहिन की ये बातें बड़े आनन्द के साथ सुनीं और 'अच्छा ऐसा ही हो' इस प्रकार कहकर उसने बहिन की बात का सम्मान किया ॥ १४ ॥

फिर वासुकि उत्तम पूजा, सांत्वना और धन के दान से अपनी गर्भवती बहिन का सत्कार करने लगा ॥ १५ ॥

महातेजस्वी और परमप्रभाववाला उसका गर्भ क्रमशः बड़ा होने लगा,

अथ काले तु सा ब्रह्मन् प्रजज्ञे भुजगस्वसा ।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥१७॥
ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् भार्गवाच्च्यवनान्मुनेः ॥१८॥
चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।
नाम चास्याभवत्ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ॥१९॥
अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात्पिता गर्भस्थमेव तम् ।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ॥२०॥
स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान् ।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात्परिरक्षितः ॥२१॥

हे द्विजवर ! जैसे आकाश में उदय हुआ शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है, वैसे ही वह गर्भ बढ़ने लगा ॥ १६ ॥

हे ब्राह्मण ! प्रसव का समय आने पर पिता माता दोनों ओर के भय को दूर करनेवाले और देवगर्भ के समान कान्तिवाले एक कुमार को उस नागों की बहिन ने जन्म दिया ॥ १७ ॥

वह कुमार नागराज के घर में ही बढ़ने लगा, वहीं रहकर उसने भृगुपुत्र च्यवन मुनि से वेद और वेदाङ्गों को पढ़ा ॥ १८ ॥

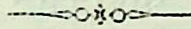
वह बालकपन में ही व्रतों का पालन करनेवाला, बुद्धिमान् तथा सत्त्वगुणी था । वह लोक में आस्तीक नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ १९ ॥

क्योंकि जब वह गर्भ में था उस समय उसके पिता 'अस्ति' अर्थात् गर्भ में है, ऐसा कहकर वन को चले गए थे, इस कारण उसका 'आस्तीक' नाम पड़ गया ॥ २० ॥

महाबुद्धिमान् आस्तीक बाल्यकाल से ही नागराज के घर रहकर व्रत पालन करता था और वहाँ बड़े उद्योग के साथ पाला गया था ॥ २१ ॥

भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः।
विवर्धमानः सर्पांस्तान्पन्नगानभ्यहर्षयत् ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥



देवताओं के ईश्वर दीप्तिमान महादेवजी के समान वह प्रतिदिन बड़ा होता हुआ सर्पों को आनन्द देने लगा ॥ २२ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४८॥



उनञ्चासवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

यदपृच्छत्तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः ।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥ १ ॥

सौतिरुवाच ।

शृणु ब्रह्मन्यथाऽपृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा ।
यथा चाख्यातवन्तस्ते निधनं तत्परीक्षितः ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच ।

जानन्ति स्म भवन्तस्तद्यथावृत्तं पितुर्मम ।
आसीद्यथा स निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥
श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः ।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥ ४ ॥

शौनक पूछते हैं—राजा जनमेजय ने अपने पिता की स्वर्गप्राप्ति के बारे में जो वृत्तान्त पहले मन्त्रियों से पूछा था, तुम मुझ से विस्तार के साथ उसको फिर कहो ॥ १ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—हे ब्रह्मन्! जनमेजय ने अपने मन्त्रियों से परीक्षित के मरण के विषय में जिस प्रकार पूछा था तथा मन्त्रियों ने उनको जिस प्रकार कहा था, उसको आप सुनो ॥ २ ॥

जनमेजय ने मन्त्रियों से पूछा कि मेरे पिता को क्या हुआ था, इस वृत्तान्त को तुम जानते हो, काल आने पर कीर्तिमान् पिताजी किस प्रकार मरण की शरण हुए? ॥ ३ ॥

तुमसे अपने पिता का संपूर्ण वृत्तांत सुनकर यदि लाभकारी होगा तो उसका उपाय करूँगा और अहितकर होगा तो नहीं करूँगा ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

मन्त्रिणोऽथाब्रुवन्वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना ।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥

मन्त्रिण ऊचुः ।

शृणु पार्थिव यद् ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः ।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ॥ ६ ॥
धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव ।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत् ॥ ७ ॥
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत ।
धर्मतो धर्मविद्राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ८ ॥
ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः ।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन् स च द्वेष्टि न कञ्चन ॥ ९ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—महात्मा जनमेजय के पूछने पर धर्मज्ञ मन्त्रियों ने सब वृत्तान्त उसको कह सुनाया ॥ ५ ॥

मन्त्रियों ने कहा—हे राजन् ! आप अपने पिता महात्मा महाराज परीक्षित का चरित्र पूछते हैं कि वे किस प्रकार मरण को प्राप्त हुए ? उसको सुनिये ॥ ६ ॥

आपके पिता कैसे धर्मात्मा, कैसे महात्मा और कैसे प्रजा के प्रतिपालक थे तथा इस लोक में किस प्रकार बर्त्ताव करते थे, यह सुनिये ॥ ७ ॥

वे चारों वर्णों को ठीक ठीक उनके धर्म में रखकर धर्मपूर्वक उनकी रक्षा करते थे। वे धर्मज्ञ राजा मानो मूर्तिमान् धर्म ही थे ॥ ८ ॥

आपके अपार पराक्रमी श्रीमान् पिता धर्मपूर्वक ही पृथ्वी देवी की रक्षा करते थे, उनसे द्वेष करनेवाले कोई थे ही नहीं और वे भी किसी से द्वेष नहीं करते थे ॥ ९ ॥

समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत् ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ॥ १० ॥
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधिष्ठिताः ।
विधवानाथविकलान् कृपणांश्च बभार सः ॥ ११ ॥
सुदर्शः सर्वभूतानामासीत्सोम इवापरः ।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान् सत्यवाग्दृढविक्रमः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः ।
गोविन्दस्य प्रियश्चासीत्पिता ते जनमेजय ॥ १३ ॥
लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ॥ १५ ॥
परिक्षिदभवत्तेन सौभद्रस्यात्मजो बली ।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ॥ १५ ॥

प्रजापति के समान वे सब प्राणियों के साथ एकसा वर्त्ताव करते थे। हे ब्रह्मन् ! उनके राज्यपालन से सुरक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब अपने अपने कामों में यथार्थ रीति से तत्पर रहते हुए आनन्द में रहते थे। विधवा स्त्रियों, बिना मा बाप के अनाथ बालकों और निर्धन पुरुषों का वे अपनी ओर से ही पालन पोषण करते थे ॥ १०–११ ॥

शुभ दर्शनवाले वे राजा सकल प्राणियों में दूसरे चन्द्रमा के समान थे, उनकी प्रजा हृष्ट पुष्ट रहती थी, वे श्रीमान्, सत्यवादी और दृढ़ पराक्रमी थे ॥ १२ ॥

हे जनमेजय ! आपके पिता राजा परीक्षित धनुर्वेद पढ़ने में कृपाचार्य के शिष्य थे और श्री कृष्ण के प्रीतिपात्र थे ॥ १३ ॥

परम कीर्तिमान् आपके पिता सब लोकों के प्रेमपात्र थे, कुरुवंश का अन्त-काल आने पर वे सुभद्रापुत्र अभिमन्यु से उत्तरा के गर्भ में पैदा हुए थे। उनका नाम परीक्षित था, वे बलशाली, राजधर्म के आचरण में प्रवीण, योग्यतावाले और सर्वगुणसम्पन्न थे ॥ १४–१५ ॥

जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता ।
षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ॥१६॥
प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत् ।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ॥१७॥
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान् ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम् ।
बाल एवाभिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः ॥१८॥

जनमेजय उवाच ।

नास्मिन्कुले जातु बभूव राजा
यो न प्रजानां प्रियकृत्प्रियश्च ।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां
वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ॥१९॥

वे जितेन्द्रिय, आत्मज्ञानी, कल्पनाशक्तिवाले, धर्माचरणकर्ता, काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर इन शत्रुओं को जीतनेवाले, महाबुद्धिशाली और भली प्रकार नीतिशास्त्र को जाननेवाले थे ॥ १६ ॥

हे राजन्! उन्होंने साठ वर्ष पर्यन्त प्रजा का पालन किया था और फिर सब प्रजा को दुःख में डुबाकर विदेहमुक्ति को प्राप्त हो गए ॥ १७ ॥

हे पुरुषों में श्रेष्ठ राजन्! तदनन्तर सहस्रों वर्ष से कुरुवंश में आती हुई इस राजगद्दी पर आप विराजते हैं। बाल्य अवस्था में ही आपका राज्याभिषेक हो गया था और तब से आप सकल प्राणियों का पालन कर रहे हैं ॥ १८ ॥

जनमेजय ने कहा—हमारे कुल में आज तक कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जिसने प्रजा की भलाई के लिये उद्योग न किया हो और स्वयं प्रजा की प्रीति को प्राप्त न किया हो। विशेष कर उदार चरित्रवाले हमारे प्रपितामह पाण्डवों के चरित्र को देखो ॥ १९ ॥

कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः।
आचक्ष्ध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥२०॥

सौतिरुवाच।

एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम्।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ॥२१॥

मन्त्रिण ऊचुः।

स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन् पिता सदा ॥२२॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥२३॥
स कदाचिद्वनगतो मृगं विव्याध पत्रिणा।
विद्ध्वा चान्वसरत्तूर्णं तं मृगं गहने वने ॥२४॥
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान्।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥२५॥

ऊपर बताये हुए गुणोंवाले हमारे पिताजी किस प्रकार मरण को प्राप्त हुए, इस वृत्तान्त को यथार्थ रीति से मुझसे कहो। इस वृत्तान्त को मैं पूर्ण रीति से सुनना चाहता हूँ ॥ २० ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार राजा ने मन्त्रियों से पूछा, तब सदा राजा का प्रिय करने के अभिलाषी मन्त्रियों ने जो कुछ जैसे हुआ था वह सब जनमेजय से कहा ॥ २१ ॥

मन्त्री बोले कि हे राजन्! आपके पिता पृथ्वी का पालन करनेवाले, सकल शस्त्रधारियों में उत्तम तथा युद्ध में धनुषधारियों में श्रेष्ठ, महाबाहु एवं राजा पांडु के ही समान सदा शिकार के प्रेमी थे। वे राज्य के सब काम काज पूर्ण रीति से हमें सौंपकर शिकार खेलने जाया करते थे ॥ २२–२३ ॥

एक समय वन में शिकार खेलते हुए उन्होंने एक हिरन को बाण से

परिश्रान्तो वयस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः ।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥२६॥
स तं पप्रच्छ राजेन्द्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम् ।
न च किंचिदुवाचेदं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ॥२७॥
ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवस्स्थितम् ।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशंगतः ॥२८॥
न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम् ।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥२९॥
मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात् ।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात्स्कन्धे भरतसत्तम ॥३०॥

बेध डाला, बाण मारने के बाद तलवार और धनुष आदि आयुधों को लेकर राजा पैदल ही गहन वन में भागते हुए उस हिरन के पीछे चल दिये। परन्तु उनको वह हिरन नहीं मिला ॥ २४–२५ ॥

बूढ़े, साठ वर्ष की उमर में पहुँचे हुए, बहुत ही थके और भूखे उन्होंने घोर वन में भटकते हुए एक उत्तम ऋषि को देखा ॥ २६ ॥

मौनव्रत में बैठे हुए उन मुनि ने महाराज के पूछने पर उनको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ २७ ॥

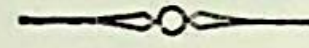
तब भूख और थकावट से घबड़ाये हुए महाराज वृक्ष के समान निश्चल होकर बैठे हुए उन मौनव्रतधारी शान्त मुनि के ऊपर कुपित हो गए ॥ २८ ॥

परन्तु उन्होंने उस समय इस बात को नहीं जाना कि यह मुनि मौन-व्रतधारी हैं, इस कारण क्रोध के आवेश में आकर उन्होंने मुनि का अपमान किया ॥ २९ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन्! उस समय आपके पिता ने एक मरे हुए साँप को भूमि से धनुष की नोंक से उठाकर उन शुद्धात्मा मुनि के कन्धे पर रख दिया ॥ ३० ॥

न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा।
तस्थौ तथैव चाक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन् ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारीक्षितीये
एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥



इतना होने पर भी बुद्धिमान् मुनि ने क्रोध नहीं किया तथा भला बुरा कुछ भी नहीं कहा, वे क्रोध किये बिना जैसे बैठे थे वैसे ही कन्धे पर सर्प को धारण किये ध्यान में बैठे रहे ॥ ३१ ॥

उनञ्चासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥



पचासवाँ अध्याय

मन्त्रिण ऊचुः ।

ततः स राजा राजेन्द्रः स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम् ।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं प्रययौ पुनः ॥ १ ॥
ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद् गवि जातो महायशाः ।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥
ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह ।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ॥ ३ ॥
सख्युः सकाशात्पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा ।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम् ॥ ४ ॥
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम् ।
तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुतम् ।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ॥ ६ ॥

मन्त्री कहते हैं—हे राजेन्द्र! तदनन्तर भूख से व्याकुल हुए महाराज मुनि के कन्धे पर साँप डालकर अपने नगर को चले आये ॥ १ ॥

इस ऋषि का गौ से उत्पन्न, महाकीर्तिमान्, परमतेजस्वी, तीक्ष्ण पराक्रमी और महाक्रोधी शृङ्गी नामक एक पुत्र था ॥ २ ॥

हे राजशार्दूल! वह मुनिकुमार ब्रह्माजी के पास जाकर उनकी पूजा करने के बाद आज्ञा लेकर अपने स्थान को लौट रहा था, उस समय आपके पिता ने उस के पिता का जिस प्रकार अपमान किया था, वह बात उसने अपने सहपाठी से सुनी। मित्र की बातों से उसे ज्ञात हुआ कि मेरे पिता वृक्ष के समान स्थिर होकर मौनव्रत में बैठे थे, किसी प्रकार का भी अपराध न करनेवाले उनके कन्धे पर मरा हुआ सर्प डाल दिया गया। हे राजन्! शृङ्गी ने देखा कि महातपस्वी, जितेन्द्रिय, शुद्धचित्त, धर्म कर्म करनेवाले, अद्भुत चरित्रवाले, तप से प्रकाशमान आत्मावाले, अपनी वाणी आदि की वृत्तियों को नियम में रखनेवाले,

शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम् ।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ॥ ७ ॥
शशापाथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः ।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ॥ ८ ॥
स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह ।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ९ ॥
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ॥१०॥
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥११॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्राऽस्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ॥१२॥

सदाचारी, उत्तम कथा कहनेवाले, उत्तम स्थिति में रहनेवाले, निर्लोभ, श्रेष्ठ विचार वाले, ईर्षारहित, वृद्ध, मौनव्रत में बैठे हुए, सकल प्राणियों को शरण देनेवाले, उसके महामुनि पिता का आपके पिता से तिरस्कार हुआ है ॥ ३–७ ॥

तब ऊपर से बालक होने पर भी वृद्धों जैसी कीर्तिवाले उस मुनिकुमार ने क्रोध के आवेश में आकर आपके पिता को शाप दिया ॥ ८ ॥

तेज से मानो जल रहा हो ऐसे उस मुनिकुमार ने हाथ में जल लेकर क्रोध से आपके पिता को लक्ष्य कर यह शाप दिया—॥ ९ ॥

जिसने मेरे निरपराध पिता के कन्धे पर मरा हुआ साँप डाला होगा, उसको मेरे वचन के प्रभाव की प्रेरणा से तीक्ष्ण तेजवाला तक्षक नाग क्रोध में भरकर अपने तेज से सातवें दिन भस्म कर डालेगा। (ऋषिपुत्र ने ऐसा शाप देकर अजने सहपाठी से कहा कि हे मित्र !) आज मेरे तप का प्रभाव देख ॥ १०–११ ॥

इस प्रकार शाप देकर वह मुनिकुमार जहाँ उसके पिता बैठे हुए थे वहाँ

स चापि मुनिशार्दूलः प्रेरयामास ते पितुः ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ॥१३॥
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ॥१४॥
तक्षकस्त्वां महाराज तेजसाऽसौ दहिष्यति ।
श्रुत्वा च तद्वचो घोरं पिता ते जनमेजय ॥१५॥
यत्तोऽभवत्परित्रस्तस्तक्षकात्पन्नगोत्तमात् ।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ॥१६॥
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत ।
तं ददर्शाथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ॥१७॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥१८॥

आया और पिता का दर्शन करके अपने शाप देने का सब वृत्तान्त उनसे निवेदन किया ॥ १२ ॥

तब मुनियों में श्रेष्ठ उन शमीक मुनि ने अपने शीलवान् और गुणी गौरमुख नामक शिष्य को वह वृत्तान्त सुनाने के लिये आपके पिता के पास भेजा ॥ १३ ॥

उसने राजधानी में आकर विश्राम करने के बाद आपके पिता को मुनि का सन्देश सुनाते हुए कहा कि हे राजन्! मुनि ने कहा है कि मेरे पुत्र ने तुम्हें शाप दिया है, इस लिये तुम सावधान हो जाओ ॥ १४ ॥

हे महाराज! तक्षक नाग सातवें दिन अपने विष से तुम्हें भस्म कर डालेगा। हे जनमेजय! ऐसी कठोर बात को सुनकर आपके पिता नागश्रेष्ठ तक्षक से भयभीत हो उससे बचने के लिये सावधान हो गए। जब सातवाँ दिन आया तब ब्रह्मर्षि काश्यप ने राजा परीक्षित के पास जाने की इच्छा की, किंतु जाते हुए काश्यप को नागेन्द्र तक्षक ने देख लिया। शीघ्रतापूर्वक जाते हुए काश्यप ब्राह्मण से नागराज तक्षक ने कहा कि तुम ऐसे शीघ्र कहाँ जा रहे हो और क्या काम करना चाहते हो? ॥ १५-१८ ॥

काश्यप उवाच ।

यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परीक्षिन्नाम वै द्विज ।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ॥१६॥
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।
मयाऽभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥२०॥

तक्षक उवाच ।

किमर्थं तं मया दष्टं सञ्जीवयितुमिच्छसि ।
अहं स तक्षको ब्रह्मन्पश्य मे वीर्यमद्भुतम् ॥२१॥
न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम् ।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद्वै वनस्पतिम् ॥२२॥
स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः ।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ॥२३॥

काश्यप ने कहा—हे द्विज ! कुरुवंश में श्रेष्ठ एक परीक्षित नामक राजा है, उसको आज तक्षक सर्प अवश्य ही डसेगा। मैं उस राजा का विष तत्काल उतारने के लिये शीघ्रता के साथ जा रहा हूँ, मैं उस राजा की रक्षा करूँगा तो तक्षक उसको नहीं मार सकेगा ॥ १६-२० ॥

तक्षक ने कहा—मैं जिस राजा को काटना चाहता हूँ, तुम उसको किस इच्छा से जीवित करना चाहते हो ? हे ब्राह्मण ! मैं ही तक्षक हूँ और तुम मेरे अचरजभरे पराक्रम को देखो ॥ २१ ॥

मेरे काटे हुए उस राजा को तुम अच्छा नहीं कर सकोगे। ऐसा कहकर उस तक्षक नाग ने सामने खड़े हुए एक बड़े भारी वटवृक्ष को डस लिया ॥ २२ ॥

नाग ने ज्यों ही डंक मारा कि वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। हे राजन् ! इसके अनन्तर काश्यप ने उस जले हुए वृक्ष को फिर जीवित कर दिया ॥ २३ ॥

ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः ।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ॥२४॥
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः ।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ॥२५॥
यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात्ततोऽधिकम् ।
गृहाण मत्त एव त्वं सन्निवर्त्तस्व चानघ ॥२६॥
स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः ।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद्यावदीप्सितम् ॥२७॥
तस्मिन् प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः ।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ॥२८॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान्विषवह्निना ।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः ॥२९॥

यह देखकर तक्षक नाग ने उसकी इच्छा पूर्ण करने का उसको लोभ दिया। तक्षक के इस विषय में पूछने पर काश्यप ने उससे कहा कि—मैं वहाँ धन की इच्छा से जाता हूँ। यह सुन महात्मा काश्यप से तक्षक ने कोमल वाणी में कहा कि हे निर्दोष ब्राह्मण! राजा से जितना धन लेने की इच्छा हो उससे भी अधिक धन तुम मुझसे लो और घर को लौट जाओ ॥ २४—२६ ॥

इस प्रकार नागराज के कहने पर मनुष्यों में उत्तम काश्यप उससे ही अपनी इच्छानुसार धन लेकर वहाँ से लौट गया ॥ २७ ॥

उस ब्राह्मण के लौट जाने पर तक्षक नाग कपट करके आपके धर्मात्मा पिता राजा परीक्षित के पास गया ॥ २८ ॥

उस समय आपके पिता सावधानी से एक महल में बैठे हुए थे, तो भी वहाँ पहुँचकर उसने उनको विषरूपी अग्नि से भस्म कर डाला। फिर हे पुरुषव्याघ्र! विजय प्राप्ति के लिये हमने आपका राज्याभिषेक किया ॥ २९ ॥

एतद् दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम ।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम् ॥३०॥
श्रुत्वा चैतन्नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम् ।
अस्य चर्षेरुत्तङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥३१॥

सौतिरुवाच ।

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः ।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिन्दमः ॥३२॥

जनमेजय उवाच ।

अथ तत्कथितं केन यद् वृत्तं तद् वनस्पतौ ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ॥३३॥
तद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै ।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥३४॥
चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः ।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ॥३५॥

हे राजसत्तम ! यह देखा हुआ तथा सुना हुआ सब वृत्तान्त बड़ा ही दारुण था, तो भी हमने आपसे निवेदन किया है ॥ ३० ॥

हे राजन् ! अपने पिता के तिरस्कारविषयक तथा उत्तङ्क ऋषि के अपमानविषयक इस वृत्तान्त को सुनकर अब आप जो उचित समझें सो करें ॥ ३१ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—इस कथा को सुनते ही शत्रुओं का दमन करनेवाला राजा जनमेजय अपने मन्त्रियों से पूछने लगा ॥ ३२ ॥

जनमेजय ने कहा—भस्म किये हुए वटवृक्ष को काश्यप ब्राह्मण ने फिर हरा भरा कर दिया; यह लोक को अचम्भे में डालनेवाली बात तुमने किससे सुनी ? वास्तव में काश्यप ब्राह्मण के मन्त्र से मेरे पिता का विष उतर जाता तो वे मरते नहीं ॥ ३३–३४ ॥

पापात्मा नीच तक्षक नाग ने मन में विचारा होगा कि यदि काश्यप मुझ से काटे हुए राजा के विष को उतारकर उसे जीवित कर देगा तो ऐसा होने से संसार

तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम् ।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ॥३६॥
भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम् ।
एवन्तु श्रोतुमिच्छामि तद् वृत्तं निर्जने वने ॥३७॥
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य वचस्तथा ।
श्रुतवान् दृष्टवांश्चापि भवतां कथमागतम् ।
श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ॥३८॥

मन्त्रिण ऊचुः ।

शृणु राजन्यथास्माकं येन तत्कथितं पुरा ।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि ॥३९॥
तस्मिन् वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन् पूर्वमारूढः शुष्कशाखावनस्पतौ ॥४०॥
न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ॥४१॥

में मेरी हँसी होगी। यह विचार कर ही उसने अवश्य काश्यप ब्राह्मण को धन से सन्तुष्ट किया होगा ॥ ३५–३६ ॥

अब मैं उद्योग करके उस सर्प को अब ऐसा करने का फल चखाऊँगा। परन्तु मैं एक बात सुनना चाहता हूँ, वह यह है कि निर्जन वन में काश्यप और सर्प का जो संवाद हुआ था, उसे किसने सुना और देखा था तथा उसको तुमने कैसे सुना ? इस बात को जानकर मैं सर्पों का नाश करने के लिये विचार करूँगा ॥ ३७–३८ ॥

मन्त्रियों ने कहा—हे राजन् ! काश्यप ब्राह्मण और सर्पराज तक्षक मार्ग में मिले और उनका जो संवाद हुआ, उसको जिस मनुष्य ने हमसे जिस प्रकार कहा था उसी प्रकार आप सुनिये ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! एक मनुष्य यज्ञ के लिये लकड़ी लेने को सूखी डालियोंवाले उस वटवृक्ष के ऊपर पहले से ही चढ़ा हुआ था ॥ ४० ॥

नाग और ब्राह्मण में से किसी ने उसको वृक्ष के ऊपर चढ़ा हुआ नहीं

द्विजप्रभावाद्राजेन्द्र व्यजीवत्स वनस्पतिः ।
तेनागम्य द्विजश्रेष्ठपुंसास्मासु निवेदितम् ॥४२॥
यथावृत्तन्तु तत्सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ।
एतत्ते कथितं राजन् यथा दृष्टं श्रुतञ्च च यत् ।
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ॥४३॥

सूत उवाच ।

मन्त्रिणान्तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्त्तः प्रत्यपिंषत्करं करे ॥४४॥
निःश्वासमुष्णमसकृद्दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन्नृपः ॥४५॥
दुर्धरं वाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चापो यथाविधि ।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः ॥४६॥

देखा, हे राजन्! इस कारण वह मनुष्य वृक्ष के साथ ही जलकर राख हो गया ॥ ४१ ॥

हे राजेन्द्र ! जब काश्यप ने उस वृक्ष को फिर जीवित किया तब वह मनुष्य भी उसके साथ जीवित हो गया, उसी ने यहाँ आकर काश्यप और तक्षक का वृत्तान्त हमें सुनाया था ॥ ४२ ॥

इस प्रकार हे राजन् ! नाग और काश्यप ब्राह्मण का जैसा वृत्तान्त हुआ था और हमने जिस प्रकार सुना तथा देखा था, सो सब आप से निवेदन कर दिया। अब हे नरव्याघ्र! आपको जो कुछ करना उचित जँचे सो करिये ॥ ४३ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर राजा जनमेजय मन्त्रियों की बात सुनते ही दुःख से व्याकुल हो सन्ताप करने और हाथ से हाथ को मसलने लगा ॥ ४४ ॥

कमल के समान नेत्रोंवाला वह राजा शोकमग्न होकर बार बार लम्बे और गरम साँस लेने लगा तथा आँखों से आँसू बहाने लगा ॥ ४५ ॥

फिर क्रोध में भरा हुआ वह राजा आँखों से अनर्गल आँसू बहाता हुआ

अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत्।

जनमेजय उवाच।

श्रुत्वैतद्भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति ॥४७॥
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत।
अनन्तरञ्च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ॥४८॥
प्रतिकर्त्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ॥४९॥
इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्त्तयत्।
यद्यागच्छेत्स वै विप्रो ननु जीवेत्पिता मम ॥५०॥
परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत्स पार्थिवः।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ॥५१॥
स तं वारितवान्मोहात्काश्यपं द्विजसत्तमम्।
सञ्जिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥५२॥

क्षण भर ध्यान करके अपने मन में विचार करने लगा, फिर शास्त्र में लिखी हुई विधि के अनुसार हाथ में जल लेकर इस प्रकार कहने लगा ॥ ४६–४७ ॥

जनमेजय ने कहा—मेरे पिता जिस प्रकार स्वर्ग को गए उसका सब वृत्तांत विस्तार के साथ मैंने सुन लिया, अब मेरा जो निश्चित विचार है उसको सुनो। जिसने मेरे पिता का नाश किया है उस दुष्टात्मा तक्षक से मैंने बदला लेने का पक्का निश्चय कर लिया है। उसने शृङ्गी ऋषि का बहाना करके मेरे पिता का नाश किया है. इतना ही नहीं, किन्तु विष उतारने को आते हुए काश्यप ब्राह्मण को उसने उलटा लौटाकर अपनी दुष्टता दिखाई है। यदि वह ब्राह्मण यहाँ आ गया होता तो अवश्य ही मेरे पिताजी जीवित हो जाते ॥ ४८–५० ॥

काश्यप के अनुग्रह से तथा मन्त्रियों की सावधानी से कदाचित् महाराज बच जाते तो इससे उसकी क्या हानि होती थी ? ॥ ५१ ॥

किन्तु अजेय राजा को जिलाने की इच्छा से शीघ्रता में आते हुए महात्मा काश्यप ब्राह्मण को उस नागराज ने मूर्खता से पीछे लौटा दिया ! ॥ ५२ ॥

महानतिक्रमो ह्येष तत्तकस्य दुरात्मनः ।
द्विजस्य योऽददद् द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥५३॥
उत्तङ्कस्य प्रियं कर्त्तुमात्मनश्च महत्प्रियम् ।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ॥५४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके
पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

राजा को यह जीवित न करे, ऐसी इच्छा से उसने ब्राह्मण को धन देकर उलटा लौटा दिया। दुष्टात्मा तक्षक का यह बड़ा भारी अपराध है ॥ ५३ ॥

इस कारण अब उत्तङ्क ऋषि का प्रिय और अपने मन को भी बड़ा प्यारा लगनेवाला काम करने के लिये मैं अपने पिता के वैर का बदला लेना चाहता हूँ ॥ ५४ ॥

पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥



इक्यावनवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान्मन्त्रिभिश्चानुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ॥ १ ॥
ब्रह्मन् भरतशार्दूलो राजा पारीक्षितस्तदा ।
पुरोहितमथाहूय ऋत्विजो वसुधाधिपः ॥ २ ॥
अब्रवीद्वाक्यसंपन्नः कार्यसंपस्करं वचः ।
यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ॥ ३ ॥
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद्भवन्तो ब्रुवन्तु मे ।
अपि तत्कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ॥ ४ ॥
तक्षकं संप्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम् ।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाऽहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ५ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—श्रीमान् राजा जनमेजय ने इस प्रकार कहा और इस बात का उनके मन्त्रियों ने भी अनुमोदन किया। तदनन्तर राजा ने सर्पयज्ञ करने के लिये प्रतिज्ञा की ॥ १ ॥

हे शौनक ! परीक्षित के पुत्र, भरतवंश में सिंह के समान और वक्ताओं में चतुर राजा जनमेजय ने पुरोहित और ऋत्विजों को बुलाकर कार्य की सिद्धि के लिये उनसे कहा कि दुष्टात्मा तक्षक ने मेरे पिता का प्राणनाश किया है, इस कारण उससे मुझे बदला लेना ही चाहिये। इस लिये अब आप बताइये कि मैं क्या करूँ ? आपके मत में ऐसा कोई कर्म है, जिससे मैं तक्षक नाग को कुटुम्ब सहित दहकती हुई अग्नि में होम सकूँ ? जैसे इस पापात्मा ने अपनी विषरूपी अग्नि से मेरे पिता का प्राणनाश किया, वैसे ही मैं भी इस पापी नाग को भस्म करना चाहता हूँ ॥ २–५ ॥

ऋत्विज ऊचुः ।

अस्ति राजन्महत्सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ॥ ६ ॥
आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ॥ ७ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान् राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत्सत्रं संभाराः संभ्रियन्तु मे ॥ ९ ॥
ततस्ते ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ॥१०॥
यथावद्वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परं गताः ।
ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ॥११॥

ऋत्विजों ने कहा—राजन्! तुम्हारे लिये देवताओं ने एक बड़ा भारी यज्ञ पहिले ही से रच रक्खा है, उसका नाम सर्पयज्ञ है ऐसा पुराणों में पढ़ा जाता है ॥ ६ ॥

हे भूपते! उस यज्ञ को एक तुम ही कर सकोगे, दूसरा कोई नहीं कर सकता, ऐसा हमसे पौराणिकों ने कहा है, और उस यज्ञ की विधि हम जानते हैं ॥ ७ ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण शौनक! ऋत्विजों ने इस प्रकार कहा तब राजर्षि जनमेजय ने जलती हुई अग्नि के मुख में तक्षक नाग का होम किया हुआ ही समझ लिया ॥ ८ ॥

तदनन्तर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों से राजा ने फिर कहा कि मैं उस यज्ञ को करूँगा, इस कारण आप मेरे लिये सामग्रियाँ इकट्ठी कीजिये ॥ ९ ॥

तदनन्तर हे उत्तम ब्राह्मण शौनक! यथावत् वेद को जाननेवाले परम बुद्धिमान् सब ऋत्विजों ने शास्त्र के अनुसार यज्ञमण्डप बनाने के लिये भूमि नापी और यज्ञ के लिये परम सम्पत्तिवाला, सब के मन को अच्छा लगनेवाला,

प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम् ।
निर्माय चापि विधिवद्यज्ञायतनमीप्सितम् ॥१२॥
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा ।
इदं चासीत्तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ॥१३॥
निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ।
यज्ञस्यायतने तस्मिन् क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥१४॥
स्थपतिर्बुद्धिसंपन्नो वास्तुविद्याविशारदः ।
इत्यब्रवीत्सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥१५॥
यस्मिन्देशे च काले च मापनेयं प्रवर्त्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ॥१६॥

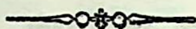
बहुत से धन धान्य से भरपूर मण्डप शास्त्र की विधि से बनाया। उसके बीच में यज्ञ की वेदी बनाई गई और वहाँ कर्म करनेवाले ब्राह्मण तथा ऋत्विज विराजमान हो गये ॥ १०–१२ ॥

यज्ञमण्डप तथा यज्ञवेदी बन जाने पर ऋत्विजों ने सर्पयज्ञ की सिद्धि के लिये राजा जनमेजय को दीक्षा दी। इतने में ही उस यज्ञ के आरम्भ में एक महाविघ्नकारी कारण प्रकट हुआ, वह यह कि जब यज्ञमण्डप बनाया जा रहा था उस समय शिल्पशास्त्र में प्रवीण, परम चतुर सूत्रधार, पौराणिक सूतपुत्र वहाँ आया और कहने लगा—॥ १३–१५ ॥

जिस स्थान पर और जिस समय इस यज्ञवेदी का नाप किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि यह यज्ञ पूरा नहीं हो सकेगा और इसके पूरे न होने का निमित्त एक ब्राह्मण होगा ॥ १६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राजाऽसौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत्।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥



यह सुनकर यज्ञकर्म की दीक्षा लिये हुए राजा ने पहले द्वारपाल को आज्ञा दी कि मेरी आज्ञा के बिना कोई अनजान मनुष्य भीतर न आने पाये, इसका ध्यान रखना ॥ १७ ॥

इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥



बावनवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत्स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १ ॥
प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूम्रसंरक्तलोचनाः ।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ २ ॥
कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च ।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ ३ ॥
ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने ।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ४ ॥
विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम् ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥
श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
नदन्तो विविधान्नादान्पेतुर्दीप्ते विभावसौ ॥ ६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तदनन्तर सर्पयज्ञ की विधि के अनुसार यज्ञ का कार्य आरम्भ हुआ, अपने अपने काम में तत्परता से लगे हुए याजक, जिनके नेत्र धूएँ से लाल हो रहे थे और जो श्यामवर्ण के वस्त्र पहने हुए थे, वे मन्त्र पढ़कर दहकती हुई ज्वालावाली अग्नि में आहुतियाँ देने लगे ॥ १–२ ॥

उस समय वे सर्पों के मन को कम्पित करते हुए नाम ले लेकर उनका अग्नि की ज्वालाओं में होम करने लगे ॥ ३ ॥

इस कारण सर्पगण दयनीय दशा में उलटी सीधी पछाड़ें खाते, एक दूसरे को पुकारते, ऊपर नीचे उछलते, लम्बे लम्बे श्वास लेते और पूछों तथा फनों से एक दूसरे का दृढ़ता के साथ आलिंगन करते हुए प्रज्वलित अग्नि में गिरने लगे ॥ ४–५ ॥

उनमें कितने ही श्वेत, काले, चितकबरे थे और कितने ही बूढ़े तथा बालक थे, वे सब सर्प विलाप करते हुए अग्नि में टपाटप गिरने लगे ॥ ६ ॥

कोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः ।
पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावग्निमतां वर ॥ ७ ॥
एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ॥ ८ ॥
तुरगा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ॥ ९ ॥
उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्वणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ।
प्रपेतुरग्नावुरगा: मातृवाग्दण्डपीडिताः ॥१०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रारम्भे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥



हे अग्निहोत्रियों में श्रेष्ठ शौनक ! कोई कोस भर लंबे, कोई चार कोस लंबे और कितने ही लंबाई में गोकर्ण के समान बड़े सर्प ऊपर ही ऊपर वेग से उस जलती हुई अग्नि में गिर रहे थे ॥ ७ ॥

इस प्रकार लाखों करोड़ों और अरबों पराधीन सर्पों का उस अग्नि में नाश हो गया ॥ ८ ॥

उन सर्पों में कोई घोड़े के समान मोटे और कोई हाथी की सूँड़ जैसे थे और कितने ही बड़े भारी मदमत्त हाथी के समान विशालकाय और महाबलवान् थे ॥ ९ ॥

उनमें छोटे बड़े, भिन्न भिन्न रङ्गोंवाले, विष से भयानक, बड़े ही घोर दीखनेवाले और मुगदर के समान महाबलवान् सर्प भी थे जो अपनी माता के शापरूपी दण्ड से दुःख पाते हुए अग्नि में गिर रहे थे ॥ १० ॥

बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥



तिरपनवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः ।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥
के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे ।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥
सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हति ।
सर्पसत्रविधानज्ञा विज्ञेयाः के च सूतज ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम् ।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन्नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥
तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः ।
च्यवनस्यान्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥

शौनक पूछते हैं—हे तात ! पाण्डववंश में उत्पन्न, बुद्धिमान् राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ में प्रसिद्ध ऋषियों में से उस समय ऋत्विज कौन कौन बने थे ॥ १ ॥

उस महादारुण, सर्पों को भय देनेवाले और अतिदुःखदायी सर्पयज्ञ में कौन सभासद थे तथा सर्पयज्ञ की विधि को जाननेवाले कौन से ऋत्विज थे ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ । इस लिये हे सूतपुत्र ! तुम्हें उचित है कि यह सब वृत्तान्त मुझसे विस्तार के साथ कहो ॥ २–३ ॥

सूतपुत्र ने कहा—राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ में जो ऋत्विज तथा सभासद बने थे उन सब विद्वानों के नाम मैं कहता हूँ, सुनिये ॥ ४ ॥

इस सर्पयज्ञ में भृगुवंश में श्रेष्ठ, वेदवेत्ता और च्यवनवंश में प्रसिद्ध गिने जानेवाले चण्डभार्गव नामक ऋषि होता बने थे ॥ ५ ॥

उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान्कौत्सोऽथ जैमिनिः ।
ब्रह्माऽभवत् शार्ङ्गरवोऽथाध्वर्युश्चापि पिङ्गलः ॥ ६ ॥
सदस्यश्चाभवद् व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान् ।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥ ७ ॥
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा ।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान् ।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभः ॥ ९ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
सदस्याश्चाभवंस्तत्र सत्रे पारीक्षितस्य ह ॥१०॥
जुहृत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥११॥
वसामेदोवहाः कुल्या नागानां सम्प्रवर्त्तिताः ।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥१२॥

वृद्ध और विद्वान् कौत्स उद्गाता हुए थे, जैमिनि ऋषि ब्रह्मा बने थे, शार्ङ्गरव और पिङ्गल नामक दो ब्राह्मण अध्वर्यु बने थे ॥ ६ ॥

पुत्र और शिष्यों सहित व्यासजी, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिङ्गल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड, जठर, कालघट ॥ ७–८ ॥

वात्स्य, जप तथा स्वाध्यायपरायण बूढ़े श्रुतश्रवा, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य, समसौरभ ॥ ९ ॥

ये सब तथा और भी बहुत से वेदज्ञाता विद्वान् ब्राह्मण जनमेजय के सर्पयज्ञ में सभासद बने थे ॥ १० ॥

महाभयानक और प्राणिमात्र को भय उत्पन्न करनेवाले बड़े बड़े सर्प उस महायज्ञ में अपने नाम के साथ आहुति देते ही आ आकर गिरते थे ॥ ११ ॥

वहाँ सर्पों की वसा तथा मेद को बहानेवाली कितनी ही नदियाँ बह रही थीं, उस समय अग्नि में जलते हुए सर्पों की बड़ी उग्र दुर्गन्ध चारों ओर फैल रही थी ॥ १२ ॥

पतताञ्चैव नागानां धिष्ठितानां तथाम्बरे।
अश्रूयतानिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ॥१३॥
तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम्।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥१४॥
ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः।
अगच्छच्छरणं भीत आगस्कृत्वा पुरन्दरम् ॥१५॥
तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक।
भयं नागेन्द्र तस्माद्वै सर्पसत्रात्कदाचन ॥१६॥
प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः।
तस्मात्तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥१७॥

सौतिरुवाच।

एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः।
उवास भवने तस्मिन् शक्रस्य मुदितः सुखी ॥१८॥

अग्नि में गिरते समय भस्म होते हुए तथा आकाश से आते हुए सर्पों का विलाप सुनाई दे रहा था ॥ १३ ॥

उधर राजा जनमेजय ने सर्पयज्ञ की दीक्षा ली है, इस बात को सुनते ही नागराज तक्षक बड़ा भयभीत होकर इन्द्र की शरण में गया ॥ १४ ॥

इन्द्र के पास जाकर सर्पों के राजा तक्षक ने सब समाचार कहा तथा निवेदन किया कि मैं अपराध करने से भयभीत होकर आपकी शरण आया हूँ ॥ १५ ॥

इस पर इन्द्र ने प्रसन्न होकर कहा कि हे नागराज तक्षक! मैंने पहले ही तेरे कल्याण के लिये ब्रह्माजी को प्रसन्न करके अभयवाणी माँग ली है, इस कारण सर्पयज्ञ से तुझे कभी भी भय नहीं हो सकता। तू अपने मन से दुःख को दूर कर ॥ १६–१७ ॥

सौति कहते हैं—इस प्रकार इन्द्र के धीरज देने पर तक्षक नाग आनन्द के साथ इन्द्रभवन में रहने लगा ॥ १८ ॥

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः ।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥१९॥
कश्मलं चाविशद् घोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥२०॥
दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च ।
सीदामीव च सम्मोहात् घूर्णतीव च मे मनः ॥२१॥
दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च ।
पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन्दीप्ते विभावसौ ॥२२॥
परीक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्त्ततेऽस्मज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयापि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ॥२३॥
अयं स कालः संप्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वास्मान् सबान्धवान् ॥२४॥

इधर निरन्तर सर्पकुलों के अग्नि में भस्म होने से थोड़ा ही परिवार शेष रह गया, इस कारण वासुकि नाग बड़ा कष्ट पाने लगा ॥ १९ ॥

भयानक दुःख ने सर्पों में श्रेष्ठ वासुकि नाग को घेर लिया, तब हृदय की व्याकुलता के साथ वह अपनी बहिन जरत्कारु से यह बात कहने लगा— ॥ २० ॥

हे भद्रे ! मेरे अंगों में ज्वाला सी लग रही है, मैं दिशाओं को ठीक ठीक देख भी नहीं सकता, मेरा मन चक्कर खाकर मोहित हो रहा है ॥ २१ ॥

मेरे नेत्र घूम रहे हैं, हृदय फटा सा जाता है, मुझे भास रहा है कि आज मैं भी दहकती हुई अग्नि में विवशता से पड़कर भस्म हो जाऊँगा ॥ २२ ॥

क्योंकि राजा परीक्षित के पुत्र का यह यज्ञ हमारा नाश करने के लिये ही हो रहा है, इस कारण मुझे भी निःसन्देह यमराज के घर जाना पड़ेगा ॥ २३ ॥

हे बहिन ! मैंने जिस समय के लिये तेरा विवाह जरत्कारु ऋषि के साथ किया था, वह समय अब आ पहुँचा । इस कारण अब इस यज्ञ से बान्धवों सहित मेरी रक्षा कर ॥ २४ ॥

आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्त्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिषेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥२५॥
तद्वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम् ।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीके सर्पसत्रे
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥



हे श्रेष्ठ नागिनी ! पहले ब्रह्माजी ने स्वयं ही मुझसे कहा था कि तुम्हारी बहिन का पुत्र आस्तीक सर्पयज्ञ को बन्द कर सकेगा ॥ २५ ॥

इस कारण हे वत्से ! वृद्धों के माननीय और वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ अपने पुत्र कुमार आस्तीक से तू कह दे कि वह परिवार सहित हमारी रक्षा करे ॥ २६ ॥

तिरपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥



चौवनवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

तत आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चायं सम्प्राप्तस्तत्कुरुष्व यथातथम् ॥ २ ॥

आस्तीक उवाच ।

किं निमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्त्तास्मि तत्तथा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच ।

तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी ।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच ।

पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता ।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥

सूतनन्दन कहते हैं—तदनन्तर नागराज वासुकि की बात सुनकर जरत्कारु नागिनी ने अपने पुत्र को बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

हे बेटा ! जिस के लिये मेरे भाई ने मेरा विवाह तेरे पिता के साथ किया था, उस कार्य का अब समय आ गया । इस विषय में जैसा तू उचित समझे वैसा कर ॥ २ ॥

आस्तीक ने कहा—मामाजी ने मेरे पिता के साथ किस कारण से तुम्हारा विवाह किया था, यह मुझे ठीक ठीक पूरी तरह बताओ । तब मैं जो उचित होगा सो करूँगा ॥ ३ ॥

सौति कहते हैं—अनन्तर भाइयों का हित चाहनेवाली जरत्कारु शोक करती हुई इस प्रकार कहने लगी ॥ ४ ॥

जरत्कारु ने कहा—कद्रू नामक सकल सर्पों की माता थी, उसने क्रोध में भरकर जिस कारण से अपने पुत्रों को शाप दिया था उसको सुन ॥ ५ ॥

उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम ।
विनतार्थाय पणिते दासभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥ ७ ॥
ताञ्च शापवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं प्रोवाचानुमुमोद च ॥ ८ ॥
वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा ।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान् ॥ ९ ॥
सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन् ॥१०॥
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसम्भवम् ।
राज्ञा वासुकिना सार्द्धं शापोऽसौ न भवेदिति ॥११॥

पहले उसने पुत्रों से कहा था कि हे पुत्रों! उच्चैःश्रवा नामक श्रेष्ठ घोड़े के बालों को काला करो, क्योंकि विनता के साथ मेरी दासी होने की शर्त हुई है। ऐसा कहने पर भी पुत्रों ने माता के वचन का पालन नहीं किया। इस कारण माता ने उन्हें शाप देते हुए कहा कि मेरी विनता के साथ दासीभाव की शर्त होते हुए भी तुमने उच्चैःश्रवा घोड़े को मिथ्या नहीं किया ॥ ६ ॥

इस कारण जनमेजय के यज्ञ में जलता हुआ अग्नि तुम्हें भस्म कर देगा, तुम उसमें मरण पाकर यमलोक को जाओगे ॥ ७ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रों को शाप देती हुई कद्रू का अनुमोदन साक्षात् लोक-पितामह ब्रह्माजी ने भी करते हुए कहा कि—"एवमस्तु" ॥ ८ ॥

हे तात! इस प्रकार माता के शाप और ब्रह्माजी द्वारा उसके अनुमोदन को सुनकर अमृत मन्थन के बाद वासुकि नाग देवताओं की शरण में गया ॥ ९ ॥

जब सब देवता अमृत मथने के काम में विजयी हुए तब अमृत को पाने से प्रसन्न होकर मेरे भाई वासुकि को आगे करके ब्रह्माजी के पास गए ॥ १० ॥

सब देवता वहाँ वासुकि नागसहित ब्रह्माजी को प्रसन्न करते हुए कहने लगे कि सर्पों की माता का शाप मिथ्या होना चाहिये ॥ ११ ॥

देवा ऊचुः ।

वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात् ।
अभिशापः स मातुस्तु भगवन्न भवेत्कथम् ॥१२॥

ब्रह्मोवाच ।

जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोचयिष्यति पन्नगान् ॥१३॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः ।
प्रादान्मामरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ॥१४॥
प्रागेवानागते काले तस्मात्त्वं मय्यजायथाः ।
अयं स कालः संप्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ॥१५॥
भ्रातरं चापि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात् ।
न मोघं तु कृतं तस्याद्यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥१६॥

देवताओं ने कहा कि हे ब्रह्माजी ! यह वासुकि नाग अपने जातिवालों के लिये दुःखी हो रहा है, इसकी माता का वह शाप किस प्रकार मिथ्या हो ? ॥ १२ ॥

ब्रह्माजी ने कहा—जरत्कारु नाम का ब्राह्मण जरत्कारु नामक स्त्री के साथ विवाह करेगा, उस स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र सब सर्पों की रक्षा करेगा ॥ १३ ॥

हे देवताओं के समान कान्तिवाले पुत्र ! पितामह के ऐसे वचन सुनने पर सर्पों में श्रेष्ठ वासुकि ने जनमेजय का यज्ञ आरम्भ होने से पहले ही मुझे तेरे पिता के साथ व्याह दिया और वह अवसर आने से पहिले उनसे मेरे गर्भ में तेरी उत्पत्ति हुई है । अब वह विचारा हुआ उत्तम समय आ गया है, इस कारण हे पुत्र ! अब तुझे चाहिये कि हमें उस भय से बचा ॥ १४–१५ ॥

मेरे भाई को भी उस यज्ञ की अग्नि से तुझे बचाना चाहिये । मेरे भाइयों ने जिस भय से छूटने के लिये तेरे बुद्धिमान पिता के साथ मेरा विवाह किया था वह काम निष्फल नहीं जाना चाहिये । हे बेटा ! तेरा क्या विचार है ? ॥ १६ ॥

सौतिरुवाच ।

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सास्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद् दुःखसन्तप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥१७॥
अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१८॥
भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा राजन्यथा श्रेयो भविष्यति ॥१९॥
न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ॥२०॥
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ॥२१॥
स सम्भावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥२२॥

उग्रश्रवा कहते हैं—माता के इस प्रकार कहने पर आस्तीक ने उत्तर दिया कि अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा। इस उत्तर द्वारा दुःख से जलते हुए वासुकि को मानो जिलाता हो इस प्रकार वह फिर कहने लगा—॥ १७ ॥

हे वासुके ! हे सर्पों में श्रेष्ठ ! हे महाबलवान् ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि तुमको उस शाप से छुडाऊँगा। हे वासुकि नाग ! तुम मन में शान्ति रखो, तुमको कुछ भय नहीं है, अब मैं जिस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा वही उद्योग करूँगा ॥ १८-१९ ॥

मेरी वाणी हास्य में भी मिथ्या नहीं होती है तो फिर ऐसे नाजुक समय में तो मैं मिथ्या बोलूँगा ही क्यों ? हे मामाजी ! मैं वहाँ जाकर जिसने यज्ञ की दीक्षा ली है ऐसे श्रेष्ठ राजा जनमेजय को आज ही आशीर्वादवाली मङ्गलमयी वाणी से प्रसन्न करूँगा, जिस से राजा का सर्पयज्ञ बन्द हो जायगा ॥ २०-२१ ॥

हे नागलोक के बुद्धिमान् राजन् ! मेरे विषय में तुम सब सत्य ही समझना, तुम जो मेरे लिये विचार कर चुके हो वह कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

वासुकिरुवाच ।

आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥२३॥

आस्तीक उवाच ।

न सन्तापस्त्वया कार्यः कथञ्चित्पन्नगोत्तम ।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥२४॥
ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथञ्चन ॥२५॥

सौतिरुवाच ।

ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ॥२६॥
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥२७॥

वासुकि ने कहा कि हे आस्तीक ! दुःख के मारे में काँप रहा हूँ, मेरा हृदय फटा जाता है, ब्रह्मा के शाप से मैं पीडा पा रहा हूँ, मुझे दिशायें भी नहीं सूझतीं ॥ २३ ॥

आस्तीक ने कहा—हे श्रेष्ठ नाग ! अब आप को शोक नहीं करना चाहिये, अग्नि में भस्म हो जाने की तुम्हारी चिन्ता को मैं दूर करूँगा ॥ २४ ॥

इस महाभयङ्कर कालाग्नि के सामन जलते हुए ब्रह्मदण्ड का मैं नाश करूँगा, इस कारण तुम किसी प्रकार का भय मत करो ॥ २५ ॥

सूतनन्दन कहते हैं—इस प्रकार वासुकि का भयानक मनोज्वर दूर कर उसको अपने शरीर पर लेकर वह आस्तीक नामक श्रेष्ठ ब्राह्मण सर्पों को मुक्त करने के लिये सर्वगुणसम्पन्न राजा जनमेजय के यज्ञ को तत्काल चल दिया ॥ २६-२७ ॥

स गत्वाऽपश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥२८॥
स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन् द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परन्तपः ॥२९॥
स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्तिमृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाग्निम् ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यास्तीकपर्वणि आस्तीकागमने चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥



आस्तीक यज्ञमण्डप के पास जाकर देखता है कि सूर्य तथा अग्नि के समान तेजस्वी बहुत से सभासदों से वह सुन्दर यज्ञशाला भर रही है ॥ २८ ॥

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आस्तीक उस यज्ञमण्डप में प्रवेश करने को चला कि द्वारपालों ने उसको भीतर जाने से रोक दिया। तब परमतपस्वी आस्तीक प्रवेश करने की इच्छा से उस यज्ञ की स्तुति करने लगा, जिससे प्रसन्न होकर राजा जनमेजय ने उसको भीतर आने दिया ॥ २९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणों और पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ आस्तीक उस यज्ञमण्डप में गया और अनन्त कीर्तिवाले राजा जनमेजय, ऋत्विजों, सभासदों तथा अग्नि की स्तुति करने लगा ॥ ३० ॥

चौवनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥



पचपनवाँ अध्याय

आस्तीक उवाच ।

सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः
प्रजापतेर्यज्ञ आसीत्प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ १ ॥

शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्त-
स्तथापरं तुल्यसंख्यं शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ २ ॥

यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च
यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

आस्तीक ने कहा कि हे परीक्षित राजा के पुत्र ! प्रयाग में चंद्रमा, वरुण और प्रजापति का जैसा यज्ञ हुआ था, वैसा ही हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! तुम्हारा यह यज्ञ है, तुमसे हमारे प्रिय जनों का कल्याण हो ॥ १ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ परीक्षित के पुत्र ! इन्द्र ने सौ यज्ञ किये थे तथा उनसे भी सैकड़ों गुने बड़े अन्य यज्ञ हुए थे, परन्तु यह तुम्हारा एक ही यज्ञ उन सहस्रों यज्ञों के समान है, तुम हमारे प्रिय जनों का कल्याण करो ॥ २ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजा परीक्षित के पुत्र ! यह यज्ञ यमराज के यज्ञ के समान, हरिमेध के यज्ञ के समान और रन्तिदेव के यज्ञ के समान है, तुम हमारे प्रिय जनों का कल्याण करो ॥ ३ ॥

गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥४॥
नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद् यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥५॥
यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनोर्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ६ ॥
कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र ।
तथा यज्ञोयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोस्तु प्रियेभ्यः ॥ ७ ॥
इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा ।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत्कदाचित् ॥ ८ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजा परीक्षित के पुत्र! यह यज्ञ राजा गय, शशबिन्दु तथा वैश्रवण के यज्ञ से किसी प्रकार भी कम नहीं है, तुम हमारे प्रिय जनों का कल्याण करो ॥ ४ ॥

नृग, अजमीढ़ और दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी का जैसा यज्ञ हुआ था, वैसा ही हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजा परीक्षित पुत्र! तुम्हारा यह यज्ञ है, इस कारण तुम हमारे प्रिय जनों का कल्याण करो ॥ ५ ॥

अजमीढवंश में उत्पन्न हुए धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ की स्वर्ग में भी प्रशंसा हो चुकी है, हे भरतवंश में श्रेष्ठ! उस यज्ञ से भी तुम्हारा यह यज्ञ उत्तम है, तुमसे हमारे प्रिय जनों का कल्याण हो ॥ ६ ॥

स्वयं ही कर्म करनेवाले सत्यवतीपुत्र व्यासजी का जैसा यज्ञ था, हे भरतकुल में श्रेष्ठ परीक्षित के पुत्र! वैसा ही यह तुम्हारा यज्ञ है, तुमसे हमारे प्रिय जनों का कल्याण हो ॥ ७ ॥

तुम्हारे यज्ञ में बैठे हुए ऋत्विज और सभासद सूर्य के समान तेजस्वी हैं, एवं जिस प्रकार के ऋत्विज इन्द्र के यज्ञ में इकट्ठे हुए थे उसी प्रकार के यहाँ हैं। जानने योग्य कोई ज्ञान इनको शेष नहीं रहा है और न इनको दिया हुआ दान नष्ट ही होता है ॥ ८ ॥

ऋत्विक्समो नास्ति लोकेषु चैव द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे ।
एतस्य शिष्या हि क्षितिं संचरन्ति सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥९॥
विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा हिरण्यरेता हुतभुक् कृष्णवर्त्मा ।
प्रदक्षिणावर्त्तशिखः प्रदीप्तो हव्यं तवेदं हुतभुग्वष्टि देवः ॥१०॥
नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके समो नृपः पालयिता प्रजानाम् ।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाहं त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा ॥११॥
शक्रः साक्षाद्वज्रपाणिर्यथेह त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम् ।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ॥१२॥
खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प ययातिमान्धातृसमप्रभाव ।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा भीष्मो यथा राजसि सुव्रतस्त्वम् ॥१३॥
वाल्मीकिवत्ते निभृतं स्ववीर्यं वसिष्ठवत्ते नियतश्च कोपः ।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे द्युतिश्च नारायणवद्विभाति ॥१४॥

जगत् में तुम्हारे ऋत्विजों के समान कोई नहीं है तथा द्वैपायन (व्यास) के समान भी कोई नहीं है, इसका मुझे निश्चय है। उनके ही सब शिष्य ऋत्विज हैं, जो अपने धर्म में चतुर हैं तथा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके आये हैं ॥ ९ ॥

जिनके नाम विभावसु, चित्रभानु, महात्मा, हिरण्यरेता, हुतभुक् और कृष्णवर्मा हैं तथा जिनकी ज्वाला दाहिनी ओर को जाती है, ऐसे अग्निदेव तुम्हारे हव्य पदार्थ की इच्छा करते हैं ॥ १० ॥

हे राजन्! मृत्युलोक में प्रजाओं का पालन करनेवाला तुम्हारे समान दूसरा कोई भी राजा नहीं है। मैं तुम्हारे धीरज से प्रसन्न हुआ हूँ, तुम साक्षात् वरुण, धर्मराज और वज्र धारण करनेवाले इन्द्र के समान इस जगत् में प्रजा का पालन करते हो। हे पुरुषों में इन्द्र! तुम्हारे समान राजा मेरी समझ में न कोई पहले हुआ और न कोई अब है ॥ ११-१२ ॥

हे खट्वाङ्ग, नाभाग और दिलीप के समान राजन्! हे ययाति और मान्धाता के समान प्रभाववाले राजन्! हे सूर्य के समान तेजस्वी! तुम भीष्मपितामह के समान सदाचारी हो ॥ १३ ॥

हे राजन्! वाल्मीकि के समान तुमने अपने पराक्रम को गुप्त रक्खा है और

यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः ।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम् ॥१५॥
दम्भोद्भवेनासि समो बलेन रामो यथा शस्त्रविदस्त्रविच्च ।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन ॥१६॥
सौतिरुवाच ।
एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः ।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि
पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

वसिष्ठ के समान कोप को भी अपने वश में रक्खा है। तुम्हारा प्रभुत्व इन्द्र के समान है और कान्ति नारायण की सी प्रकाशवान् है ॥ १४ ॥

जैसे तुम यम के समान धर्म के तत्त्व को जाननेवाले हो, श्री कृष्ण के समान सर्वगुणसम्पन्न हो, वसु नामक देवताओं के समान लक्ष्मी के भंडार हो, वैसे ही यज्ञों का मार्ग दिखानेवाले भी हो ॥ १५ ॥

बल में तुम दम्भोद्भव के समान हो, शस्त्र तथा शास्त्र में परशुराम के समान हो, और्व और त्रित ऋषि के समान तेजधारी हो, तथा भगीरथ के समान दुर्दर्श हो ॥ १६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—इस प्रकार आस्तीक के प्रशंसा करने पर राजा, सदस्य, ऋत्विज और अग्नि सब प्रसन्न हो गए। फिर सबों के अभिप्रायों और बाहरी चेष्टाओं को देखकर जनमेजय बोला ॥ १७ ॥

पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच।

बालोऽप्ययं स्थविर इवावभाषते नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत् ॥ १ ॥

सदस्या ऊचुः।

बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां विद्वान्यो वै स पुनर्वै यथावत्।
सर्वान्कामांस्त्वत्त एवार्हतेऽद्य यथा च नस्तक्षकएति शीघ्रम् ॥ २ ॥

सौतिरुवाच।

व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत् ॥३॥

जनमेजय ने कहा—यह बालक है, तो भी वृद्धों के समान बात करता है, इस कारण मैं इसको बालक नहीं, वृद्ध ही मानता हूँ। हे ब्राह्मण! मैं इस बालक को वर देना चाहता हूँ, इस कारण आप विचार करके मुझे अपनी ठीक ठीक संमति बताइये ॥ १ ॥

यह सुनकर सभासद् बोले कि ब्राह्मण यदि बालक हो तो भी इस जगत् में राजाओं का माननीय गिना जाता है, उस पर यदि विद्वान् हो तो विशेष कर माननीय है। इस कारण यह इस समय आपसे अपनी सकल कामनाओं को पाने के योग्य है। परन्तु इसको वर देने से पहले ऐसा करना चाहिये कि जिससे तक्षक नाग शीघ्र ही आ जाय, अर्थात् तक्षक का होम करने के पीछे इसको वर देना चाहिये ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—तदनन्तर वर देना चाहते हुए राजा ने आस्तीक से कहा कि तुम वर माँग लो। इतने ही में कुछ अप्रसन्न मन से होता ब्राह्मण ने कहा कि इस यज्ञ में जब तक तक्षक नाग नहीं आ जाता है, तब तक वर देना बंद रक्खो ॥ ३ ॥

जनमेजय उवाच ।

यथा चेदं कर्म समाप्यते मे यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम् ।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः ॥ ४ ॥

ऋत्विज ऊचुः ।

यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः ।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥

यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा पौराणिको वेदितवान्पुरस्तात् ।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥
पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन् ।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥
एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान आस्ते होतारं चोदयन्कर्मकाले ।
होता च यत्तोऽस्याजुहावाथ मन्त्रैरथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ॥ ८ ॥
विमानमारुह्य महानुभावः सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः ।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥

जनमेजय ने कहा कि मेरा यह कर्म समाप्त हो जाय और तक्षक नाग अभी यहाँ आ जाय, इस प्रकार आप सब अपनी शक्ति भर उद्योग करिये, क्योंकि तक्षक नाग मेरा वैरी है ॥ ४ ॥

ऋत्विजों ने कहा कि हे राजन्! शास्त्रों की दिव्य दृष्टि तथा अग्नि देवता की सूचना से ज्ञात होता है कि तक्षक नाग भय से पीड़ित होकर इन्द्र के भवन में जाकर छिप गया है ॥ ५ ॥

लाल नेत्रोंवाले महात्मा पौराणिक सूत भी इस बात को पहले से जानते थे। उस समय राजा ने उनसे इसके विषय में पूछा, तब ब्राह्मणों के समान ही पौराणिक सूत ने भी राजा से कहा कि राजन्! मैं पुराणों के अनुसार कहता हूँ, इन्द्र ने उसको वर देकर कह दिया है कि तक्षक! तू मेरे पास उत्तम प्रकार की रक्षा में निवास कर, तुझे अग्नि नहीं जला सकेगा ॥ ६-७ ॥

यह सुनकर जनमेजय दुःखित हुआ और उसने कर्म करते हुए होता से कहा कि यदि तक्षक नाग इन्द्र के पास जाकर रहने लगा है तो आप मन्त्र पढ़कर

तस्योत्तरीये निहितः स नागो भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत्पुनः क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन्१०

जनमेजय उवाच ।

इन्द्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥११॥

सौतिरुवाच ।

जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति ।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ॥१२॥
हूयमाने तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः ।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ॥१३॥

ऐसा होम करो, जिससे इन्द्रसहित तक्षक नाग आकर अग्नि में गिर पड़े। इतना कहते ही होता सावधान हुआ और उसने मन्त्र पढ़कर आहुति के लिये इन्द्र सहित तक्षक नाग को बुलाया। इतने में ही देवताओं से स्तुति किया जाता हुआ इन्द्र अपने आप विमान में बैठकर मेघ, विद्याधर और अप्सराओं के समूह सहित यज्ञमण्डप की ओर चल पड़ा ॥ ८-९ ॥

इस समय तक्षक नाग इन्द्र के उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) में छिप गया था, वह भय से दुःखित होकर पीड़ा पाने लगा। इधर राजा ने क्रोध करके तक्षक नाग का नाश करने के लिये मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों से कहा ॥ १० ॥

जनमेजय बोला कि हे ब्राह्मणो! यदि तक्षक नाग इन्द्रभवन में हो तो भी उसको इन्द्र सहित अग्नि में झोंक दो ॥ ११ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—तक्षक नाग के विषय में जनमेजय के ऐसा कहने पर होता ने इन्द्र के पास रहनेवाले तक्षक नाग के नाम की आहुति दी ॥ १२ ॥

आहुति देते ही तक्षक नाग इन्द्र के सहित पीड़ित होकर उस समय आकाश में दिखाई दिया ॥ १३ ॥

पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत्।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ॥१४॥
इन्द्रे गते तु राजेन्द्र तक्षको भयमोहितः।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिःसमीपमवशो गतः ॥१५॥

ऋत्विज ऊचुः।

वर्त्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद्विधिवत्प्रभो।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥१६॥

जनमेजय उवाच।

बालाभिरूपस्य तवाप्रमेय वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम्।
वृणीष्व यत्तेऽभिमतं हृदि स्थितं तत्ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥१७॥

ऋत्विज ऊचुः।

अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप।
श्रूयतेऽस्य महान्नादो नदतो भैरवं रवम् ॥१८॥

इन्द्र उस यज्ञ को देखकर बहुत ही घबड़ा गया और तक्षक को छोड़कर व्याकुल होता हुआ अपने भवन की ओर ही लौट गया ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र! इन्द्र के चले जाने पर भय से मोहित तक्षक नाग मन्त्र-शक्ति से विवश होकर अग्निज्वाला की ओर आने लगा ॥ १५ ॥

यह देखकर ऋत्विजों ने कहा कि हे प्रभो! हे राजेन्द्र! अब यह काम विधिपूर्वक हो रहा है, अब तुम ब्राह्मणों में मुख्य इस आस्तीक को वर दो ॥ १६ ॥

जनमेजय ने कहा कि हे जानने में न आनेवाले ब्राह्मणकुमार! मैं तुम्झ जैसे सुपात्र मनुष्य को उचित वर देना चाहता हूँ, इस कारण तेरे मन में जो कुछ इच्छा हो वैसा वर सुख से माँग ले। वह वर यदि देने योग्य नहीं होगा तो भी जैसे हो सकेगा वैसे मैं तुम्हे दूँगा ॥ १७ ॥

ऋत्विजों ने कहा कि हे राजन्! यह तक्षक तुम्हारे कर्मानुष्ठान के वश में होने के कारण घबड़ाया हुआ चला आ रहा है, गर्जना करते हुए उस नाग का महाभयानक शब्द सुनाई दे रहा है ॥ १८ ॥

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपेति तीव्रान्निःश्वासान्निःश्वसन् पन्नगेन्द्रः १६

सौतिरुवाच ।

पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।
इदमन्तरमित्येवं तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥२०॥

आस्तीक उवाच ।

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥२१॥
एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन्पारीक्षितस्तु सः ।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ॥२२॥
सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो ।
तत्ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत्क्रतुर्मम ॥२३॥

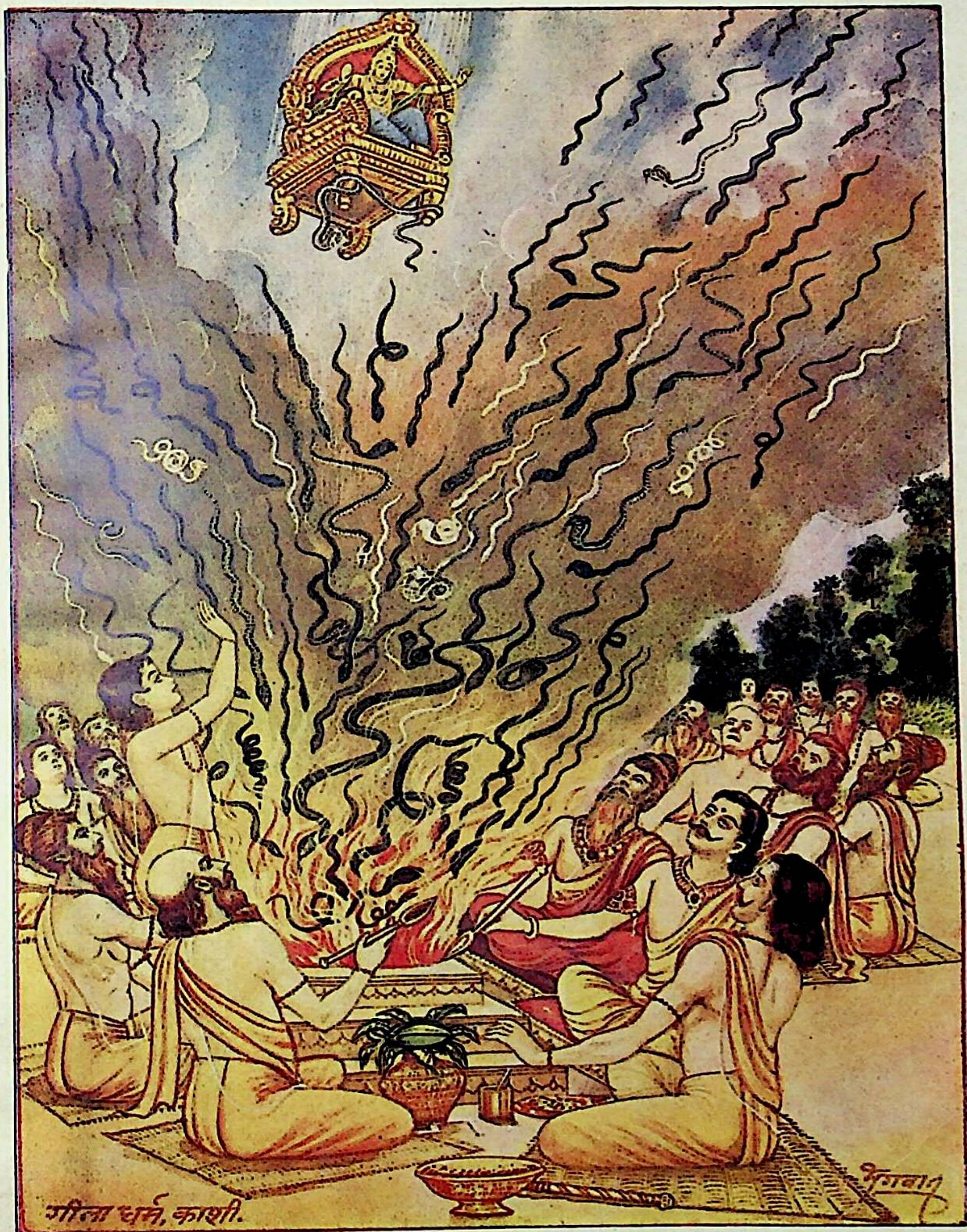
इन्द्र ने इस सर्प को निःसन्देह त्याग दिया है, इस कारण यह स्वर्ग से गिर गया है और मन्त्र के बल से इसका शरीर भयभीत हो रहा है। आकाश में चक्कर खाता, भयदायक दीर्घ श्वास छोड़ता और बेसुध हुआ नागराज तक्षक यज्ञकुण्ड में गिरने के लिये चला आ रहा है ॥ १९ ॥

सूतनन्दन कहते हैं—सर्पों का राजा तक्षक अब अग्नि में गिर जायगा, यह जानकर उस अवसर का लाभ उठाने के लिये आस्तीक ब्राह्मण कहने लगा ॥ २० ॥

आस्तीक बोला—हे राजा जनमेजय! यदि तुम मुझे वर देना चाहते हो तो मैं यह माँगता हूँ कि तुम्हारा यज्ञ बन्द हो जाय और इसमें गिरते हुए सर्प बच जायँ ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार आस्तीक के कहते ही मन में बहुत ही अप्रसन्न होकर राजा जनमेजय ने आस्तीक से इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

हे समर्थ ब्राह्मण! सोना, चाँदी, गौएँ तथा दूसरी और जो कुछ वस्तु तुम लेना चाहो उसका वर मैं तुम्हें दूँ, परन्तु मेरा यज्ञ बन्द न हो ॥ २३ ॥



जनमेजय के सर्पयज्ञ में आस्तीक द्वारा तक्षक नाग को बचाना.

જનમેજયના સર્પયજ્ઞમાં આસ્તીક દ્વારા તક્ષક નાગને બચાવવો.

आस्तीक उवाच ।

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन्वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत् स्वस्ति मातृकुलस्य नः ॥२४॥

सौतिरुवाच ।

आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारीक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ॥२५॥
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥२६॥
ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तम् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥



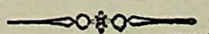
आस्तीक ने कहा कि हे राजन्! सोना, चाँदी, गौएँ मैं नहीं माँगता, मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरी माता के मातृकुल का कल्याण होने के लिये यह तुम्हारा यज्ञ बन्द हो जाय ॥ २४ ॥

सूतनन्दन कहते हैं—आस्तीक की इस बात को सुनकर बोलनेवालों में श्रेष्ठ जनमेजय ने आस्तीक से बारंबार ऐसा कहा— ॥ २५ ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! तुम दूसरा उत्तम वर माँग लो। परन्तु हे भृगुपुत्र! उसने दूसरा वर नहीं माँगा ॥ २६ ॥

तब हे तात! वेद को जाननेवाले सब सभासद् इकट्ठे होकर राजा जनमेजय से कहने लगे कि यह ब्राह्मण जो माँगता है वही वर इसको दो ॥ २७ ॥

छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥



सत्तावनवाँ अध्याय

शौनक उवाच ।

ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन्पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥

सौतिरुवाच ।

सहस्राणि बहून्यस्मिन्प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद् द्विजसत्तम ॥ २ ॥
यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥
वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्बणान् ॥ ४ ॥
अवशान्मातृवाग्दण्डपीडितान्कृपणान्हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥ ५ ॥

शौनक ने पूछा कि हे सूतपुत्र ! इस सर्पयज्ञ की अग्नि में जिन जिन सर्पों का होम हो गया, उन सब के नाम मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! सहस्रों, लाखों, करोड़ों और अरबों सर्प उसमें जलकर मर गये, उनकी संख्या बहुत अधिक होने के कारण गिनती नहीं हो सकती ॥ २ ॥

तो भी जितने याद हैं उतने यज्ञ की अग्नि में होम किये गये मुख्य मुख्य सर्पों के नाम मैं कहता हूँ, उनको सुनो ॥ ३ ॥

वासुकि के कुल में उत्पन्न हुए मुख्य नाग, जिनमें अनेकों काले, लाल, श्वेत, डरावने आकार के, बड़े बड़े शरीरवाले, विष से भयङ्कर और उद्धत थे, वे सब माता के शाप के कारण दुःखित होकर अग्नि में भस्म हो गये। ऐसे मरनेवाले बेचारे सर्पों के नाम पहले मुझसे सुनो—कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक ॥ ४-५ ॥

पिच्छल: कौणपश्चक्र: कालवेग: प्रकालन: ।
हिरण्यबाहु: शरण: कत्तक: कालदन्तक: ॥ ६ ॥
एते वासुकिजा नागा: प्रविष्टा हव्यवाहने ।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसम्भवा: ।
प्रदीप्ताग्नौ हुता: सर्वे घोररूपा महाबला: ॥ ७ ॥
तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलक: पिण्डसेक्ता रभेणक: ॥ ८ ॥
उच्छिख: शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहण: ।
शिली शलकरो मूक: सुकुमार: प्रवेपन: ॥ ९ ॥
मुद्गर: शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनु: ।
एते तक्षकजा नागा: प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥१०॥
पारावत: पारियात: पाण्डरो हरिण: कृश: ।
विहङ्ग: शरभो मेद: प्रमोद: संहतापन: ॥११॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
कौरव्यकुलजान्नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥१२॥

पिच्छल, कौणप, चक्र, कालवेग, प्रकालन, हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक और काकदन्तक; इतने वासुकि के कुल में उत्पन्न हुए नाग अग्नि में गिर कर जले थे। हे ब्राह्मण ! दूसरे भी उस कुल में उत्पन्न हुए बड़े घोर रूपवाले और महाबली सर्प धधकती हुई अग्नि में भस्म हो गए थे ॥ ६–७ ॥

अब तक्षक के कुल में उत्पन्न हुए सर्पों के नाम कहता हूँ, उनको सुनो—पुच्छाण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्ता, रभेणक, उच्छिख, शरभ, भङ्ग, बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन ॥ ८–९ ॥

मुद्गर, शिशुरोमा और महाहनु; इतने तक्षक के कुल में उत्पन्न हुए नाग यज्ञ की अग्नि में भस्म हो गए ॥ १० ॥

पारावत, पारियात, पाण्डर, हरिण, कृश, विहङ्ग, शरभ, मेद, प्रमोद और संहतापन; इतने ऐरावत के कुल में उत्पन्न हुए नाग उस यज्ञ की अग्नि में भस्म हो गए थे। अब हे द्विजोत्तम ! कौरव्य कुल में उत्पन्न हुए नागों के नाम मैं कहता हूँ, उनको सुनो ॥ ११–१२ ॥

एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्त्तकः प्रातरातकौ ॥१३॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान्यथातथम् ॥१४॥
कीर्त्यमानान्मया ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्बणान् ।
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ॥१५॥
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः ॥१६॥
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारकः ।
ऋषभो वेगवान्नागः पिण्डारकमहाहनू ॥१७॥
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ॥१८॥
पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथारुणिः ।
इति नागा मया ब्रह्मन्कीर्त्तिताः कीर्तिवर्धनाः ॥१९॥
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्तिताः ।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च सन्ततिः ॥२०॥

एरक, कुण्डल, वेणी, वेणीस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृङ्गवेर, धूर्त्तक, प्रातर और आतक ॥ १३ ॥

इतने कौरव्य कुल में उत्पन्न हुए सर्प उस यज्ञ की अग्नि में भस्म हुए थे। इसी प्रकार हे राजन्! धृतराष्ट्र के कुल में उत्पन्न हुए, वायु के समान वेगवाले तथा विष से महाभयानक सर्पों के नाम यथार्थ रीति से मैं कहता हूँ, उनको सुनो—शङ्कुकर्ण, पिठरक, कुठार. मुखसेचक, पूर्णाङ्गद, पूर्णमुख, प्रहास, शकुनि, दरि, अमाहठ, कामठक, सुषेण, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्डवेदाङ्ग, पिशङ्ग, उद्रपारक, ऋषभ, वेगवान्, पिण्डारक, महाहनु, रक्तांग, सर्वसारङ्ग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्रवेगिक, पराशर, तरुण, मणि, स्कन्ध और आरुणि; इतने धृतराष्ट्र के कुल में उत्पन्न हुए नाग अग्नि में भस्म हो गए। हे ब्रह्मन्!

न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ।
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथापरे ॥२१॥
कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ।
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः ॥२२॥
योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः ॥२३॥
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनाम-
कथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार कीर्ति को बढ़ानेवाले मुख्य नागों के नाम मैंने गिनाये, परन्तु इनके पुत्र और उनकी सन्तान इस यज्ञ की अग्नि में भस्म हो गई. उनके नाम बहुत अधिक होने से सब नहीं गिनाये हैं। तीन माथेवाले, सात माथेवाले तथा दस माथेवाले—॥ १४–२१ ॥

कालाग्नि के समान महाविषवाले, देखने में महाभयानक, बड़ी कायावाले, परम वेगवान्, पर्वतशिखर के समान ऊँचे, कोई चार कोस लम्बे, कोई आठ कोस लम्बे, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, चाहे जितने बल का प्रयोग करनेवाले दहकती हुई अग्नि के समान विष की ज्वालावाले लाखों सर्प माता के शाप से पीड़ा पाकर उस यज्ञ की अग्नि में भस्म हो गए ॥ २२–२४ ॥

सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

इदमस्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुम: ।
तथा वरश्छन्द्यमाने राज्ञा पारीक्षितेन हि ॥ १ ॥
इन्द्रहस्ताच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजय: ॥ २ ॥
हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद्वसुरेतसि ।
न स्म स प्राप तद्वह्नौ तक्षको भयपीडित: ॥ ३ ॥

शौनक उवाच ।

किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात्तदाग्नौ यत्स पपात न तक्षक: ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

तमिन्द्रहस्ताद्विस्त्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा कहते हैं—आस्तीक के विषय में और एक दूसरा अद्भुत वृत्तान्त सुनो—जब राजा जनमेजय उसको वर देने लगा, उस समय इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ तक्षक नाग आकाश में अधर ही लटका रह गया था। उस समय राजा जनमेजय चिन्तातुर हुआ ॥ १-२ ॥

क्योंकि विधिपूर्वक तक्षक का नाम लेकर अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी जाने पर भी भय से पीड़ा पाता हुआ तक्षक अग्नि में नहीं गिरा ॥ ३ ॥

शौनक ने पूछा कि हे सूतनन्दन ! उन विद्वान् ब्राह्मणों के मन्त्रों का समूह किस कारण से उस समय पराक्रम नहीं कर सका ? जिससे तक्षक नाग सर्पयज्ञ की अग्नि में आकर नहीं गिरा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—तक्षक सर्प इन्द्र के हाथ में से छूटते ही मूर्छित सा हो गया, उस समय पन्नगों में श्रेष्ठ तक्षक से आस्तीक ने तीन बार यह कहा कि

वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता।
यथा तिष्ठति वै कश्चित्खं च गां चान्तरा नरः॥ ६॥
ततो राजाऽब्रवीद्वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम्।
काममेतद्भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम्॥ ७॥
समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत्॥ ८॥
ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम ह॥ ९॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारीक्षितस्य ह।
प्रीतिमांश्चाभवद्राजा भारतो जनमेजयः॥१०॥
ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन् समागताः।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः॥११॥
लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः।
येनोक्तं तस्य तत्राग्रे सर्पसत्रनिवर्त्तने॥१२॥

'खड़ा रह, खड़ा रह, खड़ा रह।' इस कारण वह खिन्नहृदय तक्षक नाग आकाश तथा पृथ्वी के मध्य में किसी मनुष्य की तरह अधर लटका रहा॥ ५–६॥

इसके बाद सभासदों के बारंबार कहने से राजा जनमेजय बोला कि अच्छा, आस्तीक ने जैसा कहा है ऐसा ही हो॥ ७॥

इस यज्ञकर्म को रुकने दो, नागों को शान्त होने दो, आस्तीक को इस वर-दान से प्रसन्न होने दो और हे सूत! तुम्हारा वह वचन भी सत्य हो॥ ८॥

आस्तीक को जब इस प्रकार वर दिया गया, उस समय प्रसन्नताप्रद हर्षनाद हुआ और पाण्डववंशी राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय का यज्ञ बन्द हो गया। भरतकुल में उत्पन्न हुआ राजा जनमेजय भी आनन्द को प्राप्त हुआ और ऋत्विज, होता तथा सभासद बनकर वहाँ आये हुए ऋषियों तथा अन्य ब्राह्मणों को राजा ने सहस्रों की संख्या में धन दिया॥ ९–११॥

साथ ही शिल्पशास्त्र के ज्ञाता, लाल नेत्रोंवाले जिस सूत ने यज्ञमण्डप के आरम्भ-समय में राजा से कहा था कि इस यज्ञ को कोई ब्राह्मण बन्द कर देगा, उसको

निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
दत्वा द्रव्यं यथान्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् ॥१३॥
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥१४॥
आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम् ।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥१५॥
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥१६॥
तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदास्तीको मुदा युतः ।
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥१७॥
स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरञ्च ताम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥१८॥

भी राजा जनमेजय ने बहुत सा धन दिया । यथायोग्य भोजन, वस्त्र आदि अनेकों वस्तुओं का दान देकर राजा परम प्रसन्न हुआ, फिर शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार कर्म करके सभासदों के कहने के अनुसार उस अमित पराक्रमी राजा ने यज्ञ के अन्त का अवभृथ नामक स्नान किया ॥ १२–१४ ॥

इसके पीछे विद्वान् और अपने काम में सफल हुए आस्तीक को भली प्रकार भोजनादि से प्रसन्न करके उनके घर भेज दिया । घर को जाते समय राजा ने प्रसन्न होकर उनसे कहा कि आप मेरे बड़े विशाल अश्वमेध यज्ञ में सभासद होने के लिये फिर पधारियेगा ॥ १५–१६ ॥

अपने अनुपम काम को सिद्ध करके तथा राजा को प्रसन्न करके आस्तीक स्वयं परम प्रसन्न होता हुआ राजा से "तथास्तु" कहकर अपने घर को चला आया ॥ १७ ॥

यहाँ उसने अपने मामा तथा माता के चरणों में प्रणाम करके यज्ञ में जो कुछ हुआ था वह सब समाचार उनको कह सुनाया ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच ।

एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता ये तत्रासन् पन्नगा वीतमोहाः ।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवुरूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ॥१९॥
भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं किं ते प्रियं करवामाद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे कामं किं ते करवामाद्य वत्स ॥२०॥

आस्तीक उवाच ।

सायं प्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि ।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं तेषां युष्मन्नैव किञ्चिद्भयं स्यात् ॥२१॥
तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नैरेतत्सत्यं काममेवं वरं ते ।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥२२॥
असितं चार्त्तिमन्तञ्च सुनीथं चापि यः स्मरेत् ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ॥२३॥

सूतनन्दन कहते हैं—वासुकि की सभा में जो सर्प इकट्ठे हुए थे वे आस्तीक के कथन को सुनकर बड़े आनन्द को प्राप्त हुए और सावधान होकर आस्तीक के ऊपर प्रेम करते हुए उससे बोले कि तू इच्छानुसार वर माँग ले ॥ १९ ॥

वे वारंवार उससे कहने लगे कि हे ब्रह्मन्! हम तेरा क्या शुभ करें? तुझसे हमारी रक्षा हुई है, सो हे वत्स! हम सब तेरे ऊपर बड़े प्रसन्न हैं। बता अब हम तेरा कौनसा प्रिय काम करें? ॥ २० ॥

आस्तीक ने कहा कि सायङ्काल तथा प्रातःकाल में जो ब्राह्मण तथा दूसरा कोई भी मनुष्य मन में प्रसन्न होकर इस मेरे धर्मपूर्ण आख्यान का पाठ करे, उसको तुमसे कुछ भी भय न हो, यह वर मैं माँगता हूँ ॥ २१ ॥

यह बात सुनकर प्रसन्न हुए उन सर्पों ने अपने भानजे आस्तीक से कहा कि हे भागिनेय! तेरा कहना ठीक है, यह तेरा इच्छित वर हम तुझे देते हैं, हम प्रसन्न और नम्र होकर सब प्रकार से तेरा अभीष्ट करने में तत्पर रहेंगे ॥ २२ ॥

जो कोई असित, अर्तिमान् और सुनीथ इन मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र का दिन में या रात्रि में पाठ करेगा, उसको सर्पों का भय नहीं रहेगा ॥ २३ ॥

यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान्योऽभ्यरक्षत ।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ॥२४॥
सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥२५॥
आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्त्तते ।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ॥२६॥

सूत उवाच ।

स एवमुक्तस्तु तदा द्विजेन्द्रः समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।
संप्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा ततो मनो वै गमनाय दध्रे ॥२७॥
मोक्षयित्वा तु भुजगान् सर्पसत्राद् द्विजोत्तमः ।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥२८॥

हे महाभाग सर्पों ! जरत्कारु ऋषि और जरत्कारु स्त्री से उत्पन्न हुआ यह आस्तीक बड़ा यशस्वी है, जिसने सर्पयज्ञ में से तुम सबों की रक्षा की है, उस आस्तीक का स्मरण करते हुए मेरी तुम हिंसा न करना ॥ २४ ॥

हे सर्प ! हे महाविषधर सर्प ! तू हट जा, तेरा कल्याण हो, तू जनमेजय के यज्ञ की समाप्ति पर आस्तीक के कहे हुए वचनों को स्मरण कर ॥ २५ ॥

जो सर्प आस्तीक के वचन को सुनकर नहीं हटता है, उस सर्प का फन शिंशपा वृक्ष के फल के समान सैंकड़ों स्थानों में विदीर्ण हो जाता है ॥ २६ ॥

उग्रश्रवा कहते हैं—वहाँ इकट्ठे हुए मुख्य मुख्य सर्पराजों ने इस प्रकार कहा, तब महात्मा द्विजेन्द्र आस्तीक बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने वहाँ से जाने का विचार किया ॥ २७ ॥

इस प्रकार धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण आस्तीक सर्पयज्ञ में से सर्पों का उद्धार करके इस लोक में पुत्र पौत्रादि को छोड़कर अपने शरीर का प्रारब्ध पूरा होने पर स्वर्ग को सिधार गया ॥ २८ ॥

इत्याख्यानं मयास्तीकं यथावत्तव कीर्त्तितम् ।
यत्कीर्त्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥२६॥
यथा कथितवान् ब्रह्मन् प्रमतिः पूर्वजस्तव ।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तमः ॥३०॥
यद्वाक्यं श्रुतवांश्चाहं तथा च कथितं मया ।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥३१॥
श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्द्धनम् ।
यन्मां त्वं पृष्टवान् ब्रह्मन् श्रुत्वा डुण्डुभभाषितम् ।
व्येतु ते सुमहद् ब्रह्मन् कौतूहलमरिन्दम ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि
अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

समाप्तमास्तीकपर्व ।

इस प्रकार यह आस्तीकचरित्र जैसा था वैसा मैंने तुम्हें सुनाया है । इस चरित्र को पढ़ने वा सुनने से किसी दिन भी सर्पों का भय नहीं होता है ॥ २९ ॥

सूतनन्दन कहते हैं कि हे ब्रह्मन् ! हे भृगुवंश में श्रेष्ठ ! आपके पूर्वज प्रमति ने पुत्र रुरु के प्रश्न करने पर प्रसन्न हो जिस प्रकार विद्वान् आस्तीक का मनोहर चरित्र कहा था और मैंने जिस प्रकार सुना था, वैसे ही आपको आरम्भ से कह सुनाया ॥ ३०–३१ ॥

हे अरिंदम ब्राह्मण ! डुण्डुभ सर्प के कथन को सुनकर, वह सर्पयज्ञ किस प्रकार हुआ, इस विषय में आपने मुझसे पुण्य को बढ़ानेवाला और धर्म से भरा हुआ आस्तीक का चरित्र पूछा था, वह मैंने सुनाया । हे ब्राह्मण ! अब आप के मन का बड़ा भारी आश्चर्य दूर हो जाना चाहिए ॥ ३२ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥



उनसठवाँ अध्याय

अंशावतरणपर्व ।

शौनक उवाच ।

भृगुवंशात् प्रभृत्येव त्वया मे कीर्त्तितं महत् ।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १ ॥
वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत् सूतनन्दन ।
याः कथा व्याससम्पन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे ॥ २ ॥
तस्मिन् परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाध्वरे ॥ ३ ॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम् ।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच ।

कर्मान्तरेष्वकथयन् द्विजा वेदाश्रयाः कथाः ।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत् ॥ ५ ॥

शौनक कहते हैं—हे तात सूतनन्दन ! तुमने भृगुवंश का आदि से लेकर बड़ा भारी आख्यान मुझे पूर्ण रीति से सुनाया, इसके लिये मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ १ ॥

हे सूतपुत्र ! मैं तुमसे फिर पूछता हूँ कि परमसुन्दर सर्पयज्ञ में अनुष्ठान के अवकाश के समय वेदव्यासजी ने जो आख्यान और पवित्र कथायें कही थीं, सभासदों में जिन विषयों के ऊपर विचित्र कथायें हुई थीं, वे सब आपसे हम सुनना चाहते हैं, इस कारण उनको आप हमसे कहिये ॥ २–४ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवा ने कहा—उस सर्पयज्ञ में इकट्ठे हुए विद्वान् सभासद् कर्म से अवकाश मिलने पर वेदों की चर्चा करते थे, उस समय भगवान् व्यासजी विचित्र विषयों से भरे हुए महाभारत की व्याख्या करते थे ॥ ५ ॥

शौनक उवाच ।

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम् ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ६ ॥
श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरे तु सः ।
तामहं विधिवत् पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम् ॥ ७ ॥
मनःसागरसम्भूतां महर्षेर्भावितात्मनः ।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ न हि तृप्यामि सूतज ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ॥ ९ ॥
शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज ।
शंसितुं तन्महान् हर्षो ममापीह प्रवर्तते ॥१०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥



शौनक पूछते हैं—पाण्डवों के यश को बढ़ानेवाला महाभारत नामक बड़ा भारी आख्यान राजा जनमेजय के पूछने पर व्यासजी ने कर्मानुष्ठान में से अवकाश मिलते समय अपने शिष्य वैशम्पायन के द्वारा जिस प्रकार सुनाया था, वैसे ही विधिपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६–७ ॥

इस कारण हे महापुरुष ! योग से संस्कृत अन्तःकरणवाले महर्षि के मनरूपी सागर से उत्पन्न, उत्तम विषयरूपी अनेकों रत्नों से भरी हुई महाभारत की कथा मुझसे कहो, उसको सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती ॥ ८ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे द्विज ! वेदव्यासजी से सम्मानित वह उत्तम महाभारत आख्यान मैं आपको आरम्भ से सुनाऊँगा, आप उस सबको सुनिये । मुझे भी पवित्र चरित्र को कहने में बड़ा आनन्द आता है ॥ ९–१० ॥

उनसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥



साठवाँ अध्याय

सौतिरुवाच ।

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १ ॥
जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात्पराशरात् ।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥
जातमात्रश्च यः सद्य इष्टया देहमवीवृधत् ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान्सेतिहासान्महायशाः ॥ ३ ॥
यन्नैति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च ।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रसूत्या न मन्युना ॥ ४ ॥
विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥

सूतनन्दन कहते हैं—राजा जनमेजय ने सर्पयज्ञ का आरम्भ करके उसकी दीक्षा ली है, यह सुनकर विद्वान् कृष्ण द्वैपायन ऋषि उस समय वहाँ गए ॥ १ ॥

पाण्डवों के पितामह वे वेदव्यासजी यमुना नदी के टापू में शक्ति के पुत्र पराशर द्वारा सत्यवती के उदर से जन्मे थे ॥ २ ॥

उन महाकीर्त्तिमान् महात्मा ने जन्म लेते ही इच्छानुसार अपना शरीर बढ़ा लिया था और अङ्गों सहित वेद तथा इतिहासों को पढ़ लिया था ॥ ३ ॥

तप, वेद के स्वाध्याय, व्रतों, उपवास और धन दान देकर यज्ञ करने से भी जिसे कोई न पा सके ऐसा उत्तम आत्मतत्त्व उन्होंने प्राप्त कर लिया था ॥ ४ ॥

वेदवेत्ताओं में मुख्य उन व्यासजी ने एक वेद के चार विभाग किये थे और वे निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्म को जानते थे, समाधि द्वारा वे त्रिकाल के ज्ञाता, पवित्र और सत्यवादी थे ॥ ५ ॥

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत् ।
शान्तनोः संततिं तन्वन्पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तथा ।
विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥
तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥
तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥
जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ॥१०॥
काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥११॥

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले और परम कीर्त्तिमान् व्यासजी ने शान्तनुपुत्र के क्षेत्र में पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर को उनका वंश चलाने के लिये उत्पन्न किया था ॥ ६ ॥

वे ही महात्मा व्यासजी वेद और वेदाङ्गों को जाननेवाले अपने शिष्यों को साथ में लिये हुए राजर्षि जनमेजय के यज्ञमण्डप में पधारे ॥ ७ ॥

वहाँ उन्होंने बहुत से सभासदों, मूर्धाभिषिक्त राजाओं तथा यज्ञ के अङ्गों की रचना करने में कुशल साक्षात् ब्रह्मा के समान ऋत्विजों से युक्त, देवताओं से घिरे हुए इन्द्र के समान आसीन राजा जनमेजय को देखा ॥ ८-९ ॥

भरतवंश में श्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय उन ऋषि को आते हुए देखकर बड़ी शीघ्रता से अपने परिजनों सहित प्रेमपूर्वक उनके सन्मुख गये और उनको यज्ञ-मण्डप में ले आये ॥ १० ॥

फिर अपने सभासदों की आज्ञा से राजा जनमेजय ने जैसे इन्द्र बृहस्पति को आसन देता है वैसे उनको सुवर्ण का आसन दिया ॥ ११ ॥

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥१२॥
पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥१३॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत्तदा ॥१४॥
तथा च पूजयित्वा तं प्रणयात्प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥१५॥
भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान्प्रत्यपूजयत् ॥१६॥
ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥१७॥

वरदाता और देवर्षियों से पूजित व्यासजी जब अपने आसन पर विराजे, उस समय राजेन्द्र जनमेजय ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उनकी पूजा की ॥ १२ ॥

फिर उस राजा ने पूजा के योग्य अपने पितामह वेदव्यासजी को पाद्य, आचमन, अर्घ्य और गौ अर्पण की ॥ १३ ॥

पांडवों के वंशधर जनमेजय से इस प्रकार पूजा को स्वीकार करके तथा गौ के पालन की आज्ञा देकर व्यासजी जनमेजय के ऊपर बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

राजा जनमेजय अपने पितामह की पूजा करके मन में प्रसन्न हुए तथा उनके पास बैठकर कुशल समाचार पूछा ॥ १५ ॥

महात्मा व्यासजी ने भी जनमेजय को देखकर उनसे कुशल समाचार पूछा, फिर सब सभासदों ने उनकी पूजा की और व्यासजी ने भी सभासदों की पूजा की ॥ १६ ॥

अनन्तर राजा जनमेजय ने अपने सब सभासदों सहित हाथ जोड़कर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ व्यासजी से इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १७ ॥

जनमेजय उवाच ।

कुरूणां पाण्डवानां च भवान्प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥१८॥
कथं समभवद्भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥१९॥
पितामहानां सर्वेषां दैवेनाविष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥२०॥

सौतिरुवाच ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥२१॥

व्यास उवाच ।

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥२२॥

जनमेजय ने पूछा कि हे द्विज ! आपने कुरुओं और पांडवों को प्रत्यक्ष देखा है, इस कारण मैं उनके चरित्र आपके मुख से सुनना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

मुझसे कहिये कि उन श्रेष्ठ कर्म करनेवालों में परस्पर अनबन होने का क्या कारण हुआ ? और जिसमें बहुत से जीवों का प्राणान्त हुआ था, ऐसा वह महाभारत युद्ध किस कारण से हुआ ? ॥ १९ ॥

क्या मेरे सब प्रपितामहों के निर्मल मन को दैव ने ढक लिया था ? हे द्विजोत्तम ! यह सब जिस प्रकार हुआ हो उसी प्रकार आप मुझको सुनाइये ॥ २० ॥

सूतपुत्र कहते हैं—जनमेजय के वचन को सुनकर उस समय कृष्णद्वैपायन ने अपने पास बैठे हुए वैशम्पायन शिष्य से कहा ॥ २१ ॥

व्यासजी बोले कि पहले कौरव और पांडवों में जिस प्रकार वैर हो गया था, वह सब वृत्तान्त जिस प्रकार तुमने मुझसे सुना है उसी प्रकार राजा को कह सुनाओ ॥ २२ ॥

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥२३॥
राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः ।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि
षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥



गुरु का वचन सुनकर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वैशम्पायन ने सब सभासदों, राजाओं और जनमेजय को कौरव पाण्डवों में सबका संहार करनेवाला वैर जिस कारण से हुआ था वह पुराना सब इतिहास कह सुनाया ॥ २३-२४ ॥

साठवाँ अध्याय समाप्त ॥६०॥



इकसठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

गुरवे प्राङ् नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
संपूज्य च द्विजान्सर्वांस्तथान्यान्विदुषो जनान् ॥ १ ॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ॥ २ ॥
श्रोतुं पात्रञ्च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम् ।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ॥ ३ ॥
शृणु राजन्यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसम्भूतः वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥
तथा च युद्धमभवत् पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—मन और बुद्धि को एकाग्र करके पहले अपने गुरु को नमस्कार तथा अन्य सब विद्वान् पुरुषों और ब्राह्मणों का पूजन करता हूँ ॥ १ ॥

अनन्तर सब लोकों में प्रसिद्ध और बुद्धिमान् महात्मा महर्षि व्यासजी के रचे हुए सम्पूर्ण महाभारत को मैं कहूँगा ॥ २ ॥

हे राजन् ! इस भारत की कथा का सुयोग प्राप्त हुआ है और तुम इसको सुनने के पात्र हो तथा मेरे गुरु की आज्ञा ऐसा करने के लिये मानो मेरे मन को उत्साह दे रही है ॥ ३ ॥

हे राजन् ! कौरव और पाण्डवों में जिस कारण से वैर हुआ, राज्य के लिये जुआ खेला गया तथा पांडव वन में गए और पृथ्वी का नाश करनेवाला महा-भयानक युद्ध हुआ, वह सब हे भरतवंश में श्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे पूछने पर कहता हूँ, उसको तुम सुनो ॥ ४-५ ॥

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
न चिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ॥ ६ ॥
तांस्तथा सत्त्ववीर्यौजःसम्पन्नान् पौरसंमतान् ।
नामृष्यन् कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवान् श्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥
ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सह सौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान् विविधांस्ते समारभन् ॥ ८ ॥
ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान् विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ॥ ९ ॥
ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद्वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥१०॥
प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥११॥

पिता का मरण होने के बाद वे वीर पाण्डव वन से अपने घर आये और थोड़े ही समय में धनुर्वेद में प्रवीण हो गए ॥ ६ ॥

परन्तु पाण्डवों का शारीरिक बल, उत्साह, इन्द्रियों का बल, नगरनिवासियों में मान्यता, सम्पत्ति और यश देखकर कौरव इनको सह नहीं सके ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्रूर दुर्योधन ने कर्ण तथा शकुनि के साथ मिलकर पाण्डवों को दुःख तथा देशनिकाला देने के लिये अनेकों यत्न कर डाले। जैसे कुलिङ्ग पक्षी सिंह की दाढ़ में चिपटे हुए मांस को खाता है और कुछ भय नहीं मानता, वैसे ही शूर दुर्योधन भी राज्य के लिये पाण्डवों को अनेकों प्रकार के दुःख देने लगा ॥ ८-९ ॥

एक समय दुर्योधन ने भीमसेन को भोजन में विष दे दिया था, परन्तु भीमसेन अन्न के साथ उसको भी पचा गया ॥ १० ॥

एक समय दुर्योधन ने प्रमाणकोटी नामक गङ्गातट पर सोते हुए भीमसेन को बाँधकर गङ्गा में डाल दिया और वह अपने नगर में चला आया ॥ ११ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥१२॥
आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥१३॥
तेषान्तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥१४॥
स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥१५॥
यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाशक्नुवन्निहन्तुं तान्दैवभाव्यर्थरक्षितान् ॥१६॥
ततः सम्मन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥१७॥

परन्तु महाबाहु कुन्तीपुत्र भीमसेन जब जगा तो जिस बन्धन से बँधा हुआ था उसको उसने स्वयं ही तोड़ डाला और दुःखमुक्त हो तैरकर ऊपर निकल आया ॥ १२ ॥

एक समय जब वह सो रहा था तब तीव्र विषवाले काले नागों से उसके सारे शरीर में कटवा दिया, तब भी शत्रुओं का वध करनेवाला भीमसेन मरा नहीं ॥ १३ ॥

पाण्डवों की हर एक आपत्तियों में महामति बिदुरजी उनको छुड़ाने और उपाय बताने में तत्पर रहते थे ॥ १४ ॥

जैसे स्वर्ग में बैठा हुआ इन्द्र मनुष्यलोक को सुख देता है, वैसे ही विदुरजी सदा पाण्डवों को सुख दिया करते थे ॥ १५ ॥

ऐसे गुप्त और प्रकट अनेकों कपट के उपायों से भी आगे राज्य करने के लिये दैव से रक्षित पाण्डवों का नाश दुर्योधन नहीं कर सका ॥ १६ ॥

तब उसने कर्ण, दुःशासन आदि मन्त्रियों के साथ विचार कर और राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर वारणावत में लाख का एक घर बनाने की आज्ञा दी ॥ १७ ॥

सुतप्रियैषी तान्राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुत्सया ॥१८॥
ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ॥१९॥
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन्वनम् ।
ततः सम्प्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ॥२०॥
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परन्तपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ॥२१॥
पुरोचनात् रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः ।
सुरुङ्गाङ्कारयित्वा ते विदुरेण प्रचोदिताः ॥२२॥
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
प्राद्रवन् भयसंविग्ना मात्रा सह परन्तपाः ॥२३॥

तदनन्तर अपने पुत्रों का प्रिय करने के विचार से धृतराष्ट्र ने राज्य भोगने की इच्छा करके पाण्डवों को उस लाक्षाघर में रहने के लिये हस्तिनापुर से निकाल दिया ॥ १८ ॥

तब सब पाण्डव वहाँ जाने के लिये हस्तिनापुर से चल दिये, उन महात्माओं को अच्छी सम्मति देनेवाले विदुरजी थे ॥ १९ ॥

उनकी ही सम्मति से पांडव लाक्षाघर में से गुप्त रीति से अँधेरी रात में निकलकर वन में चले जाने से जलने से बच गये। इस तरह वीरवर पाण्डव धृतराष्ट्र की आज्ञा से अपनी माता सहित वारणावत नगर में जा पहुँचे और वहाँ लाख के घर में एक वर्ष पर्यन्त पुरोचन की निगरानी में सावधानी से रहे। तदनन्तर विदुरजी की सम्मति से उन्होंने उस घर में से एक सुरङ्ग का छिपा हुआ मार्ग बनवाया ॥ २०-२२ ॥

फिर उस लाख के घर में आग लगाकर और पुरोचन को भस्म करके भय से अधीर होते हुए परंतप पांडव माता सहित वन में चले गये ॥ २३ ॥

दद्दशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे ।
हत्वा च तं राक्षसेन्द्रम्भीताः समवबोधनात् ॥२४॥
निशि सम्प्राद्रवन् पार्थां धार्त्तराष्ट्रभयार्दिताः ।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ॥२५॥
एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नास्तेऽभवन् ब्रह्मचारिणः ॥२६॥
ते तत्र नियताः कालं कश्चिदूषुर्नरर्षभाः ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२७॥
तत्रासस्साद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः ।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ॥२८॥
तश्चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः ।
निहत्य तरसा वीरो नागरान् पर्यसान्त्वयत् ॥२९॥

वन में एक झरने के पास उन्होंने हिडिम्ब नामक दारुण राक्षस को देखा, उस विकराल राक्षस को उन्होंने मार डाला और बात खुल जाने तथा दुर्योधन के भय से घबड़ाकर वे लोग आधी रात के समय वहाँ से भी चल दिए। इतने ही में हिडिम्बा नाम की राक्षसी मिली, जिसके उदर से भीमसेन ने घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न किया था ॥ २४–२५ ॥

तदनन्तर एकचक्रा नगरी में ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, शम दम और तीव्र व्रत को धारण कर महात्मा पाण्डव माता सहित एक ब्राह्मण के घर कितने ही दिनों तक रहे ॥ २६–२७ ॥

वहाँ मनुष्य का मांस भक्षण करनेवाले, भूखे, महाबली बक राक्षस के साथ महाबाहु भीम का सामना हुआ ॥ २८ ॥

पुरुषव्याघ्र भीमसेन ने अपने बाहुबल से युद्ध करके उसको एक झपाटे में मारकर नगरनिवासियों को सुखी किया ॥ २९ ॥

ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम् ।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम् ॥३०॥
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः ।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिन्दमाः ॥३१॥
त उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥३२॥
अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ॥३३॥
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः ।
तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ॥३४॥
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ।
तत्र ते न्यवसन् पार्थाः संवत्सरगणान् बहून् ॥३५॥
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीभृतः ।
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः ॥३६॥

फिर पांडवों को समाचार मिला कि पञ्चाल देश में द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा है। अतः वहाँ जाकर उन्होंने द्रौपदी को प्राप्त कर लिया ॥ ३० ॥

द्रौपदी के साथ विवाह करके एक वर्ष पर्यन्त वे उसी देश में रहे। तब सर्वत्र यह पता चलने पर कि ये पाण्डव हैं, वे लोग हस्तिनापुर में चले आये ॥ ३१ ॥

वहाँ धृतराष्ट्र और भीष्मपितामह ने उनसे कहा कि तुम सब भाइयों में कलह न हो, इसके लिये हमने तुम्हारे निवास के लिये खाण्डवप्रस्थ को ठीक समझा है। अब तुम ईर्षा को त्यागकर बहुत सी बस्तियोंवाले तथा बड़े बड़े राजमार्गों से युक्त खाण्डवप्रस्थ को जाओ। उनके कहने से पांडव सकल स्नेहियों और धन रत्नादि को लेकर खाण्डवप्रस्थ नगर में आ गए। वहाँ धर्मराज की अधीनता में सत्यवादी पांडव शस्त्र के प्रताप से दूसरे राजाओं को वश में करते हुए बहुत से वर्षों तक रहे ॥ ३२–३६ ॥

अप्रमत्तोत्थिताः चान्ताः प्रतपन्तोऽहितान् बहून् ।
अजयद्भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ॥३७॥
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ।
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ॥३८॥
एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ।
पञ्चभिः सूर्यसङ्काशैः सूर्येण च विराजिता: ॥३९॥
षट्सूर्येवाभवत् पृथिवी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ।
ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥४०॥
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ॥४१॥
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम् ।
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वनेऽवसत् ॥४२॥

वे उस समय हरएक काम को बड़ी सावधानी से करते थे और क्षमा को धारण करके शत्रुओं को संतप्त करते थे। इस समय परमकीर्तिमान् भीमसेन ने पूर्व दिशा को जीत लिया ॥ ३७ ॥

उत्तर दिशा को शूरवीर अर्जुन ने वश में कर लिया, पश्चिम दिशा को नकुल ने जीत लिया और शत्रुसंतापक सहदेव ने दक्षिण दिशा को जीत लिया था ॥ ३८ ॥

इस प्रकार चारों दिशाओं को जीतकर सूर्य के समान तेजस्वी पाँचों पाण्डवों ने सकल पृथिवी को अपने वश में कर लिया। सत्यपराक्रमी पाँचों पांडव और प्रकाशवान् सूर्य इन दोनों से पृथिवी छः सूर्योंवाली सी शोभा पाती थी। एक समय किसी कारण से धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे, तेजस्वी, सत्यपराक्रमी, स्थिर बुद्धि और गुणवान् भाई अर्जुन को वन में भेज दिया। तब पुरुषव्याघ्र अर्जुन बारह वर्ष पर्यन्त वन में रहा ॥ ३९–४२ ॥

ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन।
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ॥४३॥
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम्।
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव सङ्गता ॥४४॥
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनार्जुनेन ह।
अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम् ॥४५॥
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम।
नातिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाभवत् ॥४६॥
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव।
पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ॥४७॥
इषुधी चाक्षये बाणै रथञ्च कपिलक्षणम्।
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम् ॥४८॥

तदनन्तर एक समय अर्जुन द्वारका में श्री कृष्ण के पास पहुँचा, और वहाँ मधुरभाषिणी, कमल के समान नेत्रवाली, वासुदेव की बहिन सुभद्रा के साथ विवाह किया। वह सुभद्रा इन्द्र के साथ इन्द्राणी की तरह तथा विष्णु के साथ लक्ष्मी की तरह पाण्डवकुल में उत्पन्न हुए अर्जुन के साथ प्रेम से रहने लगी। हे राजन्! फिर वासुदेव के साथ कुन्तीपुत्र अर्जुन ने खांडववन में अग्नि को तृप्त किया, क्योंकि श्री कृष्ण की सहायता से अर्जुन को वह काम बहुत सहज हो गया था॥ ४३–४६ ॥

यह काम इस प्रकार ही करना चाहिये, ऐसा निश्चय करनेवाले विष्णु को शत्रुओं का नाश करने में जैसे देवताओं ने सहायता दी थी, वैसे ही अर्जुन को अग्नि ने गाण्डीव नामक उत्तम धनुष, कभी बाणों से खाली न होनेवाले दो तरकश और जिसकी ध्वजा में हनुमान् का निवास है ऐसा एक रथ भेट में दिया। अर्जुन ने खांडववन में से मय नामक बड़े भारी दानव का उद्धार भी किया॥ ४७–४८ ॥

स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमन्विताम् ।
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ॥४९॥
ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ।
वनं प्रस्थापयामास सप्तवर्षाणि पञ्च च ॥५०॥
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ॥५१॥
नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्त्तत ।
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ॥५२॥
राज्यं विहतभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ।
एवमेतत् पुरा वृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतां वर ॥५३॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि
एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

मय ने इस उपकार के बदले में अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ा हुआ एक दिव्य सभाभवन बनाया। मूर्खता और दुर्बुद्धि के कारण दुर्योधन भी उस सभा को देखकर ललचा गया था ॥ ४९ ॥

तब उसने शकुनि की सहायता से युधिष्ठिर को बनावटी पाशों से जूए में हरा दिया और बारह वर्ष का वनवास तथा तेरहवें वर्ष एक साल का अज्ञातवास करने के लिये पाण्डवों को वन में भेज दिया। हे महाराज! चौदहवें वर्ष पाण्डव वन से लौटकर आये और दुर्योधन से अपनी भूमि माँगी, परन्तु वह उनको नहीं मिली। इस कारण महाभारत का युद्ध हुआ, उसमें क्षत्रियकुल का नाश कर तथा दुर्योधन को मारकर, अधिकतर उजड़ा हुआ राज्य पाण्डवों ने फिर अपने हाथ में कर लिया। इस प्रकार उत्तम कर्मवाले पांडवों का पूर्व वृत्तान्त है। हे विजय पानेवालों में श्रेष्ठ! इस प्रकार राज्य के विनाश के लिये उनका आपस में वैर हो गया था, जिसमें अन्त में पाण्डवों की विजय हुई ॥ ५०-५३ ॥

इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥

बासठवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच ।

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ॥ १ ॥
कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥
स भवान् विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥
न तत् कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः ।
अवध्यान् सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ॥ ४ ॥
किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः ।
प्रयुज्यमानान् संक्लेशान् चान्तवन्तो दुरात्मनाम् ॥ ५ ॥
कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः ।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान्वै द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

जनमेजय ने पूछा—हे द्विजोत्तम ! जिसमें कुरुवंशियों का चरित्र भरा हुआ है वह महाभारत आख्यान आपने मुझसे संक्षेप में सब कहा ॥ १ ॥

हे निर्दोष तपोधन ! अब विचित्र विषयोंवाली वह कथा विस्तार से कहिए, क्योंकि उस कथा को विस्तार के साथ सुनने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २ ॥

आप मुझे वह कथा विस्तार के साथ कहकर फिर सुनाइये, क्योंकि अपने पूर्व पुरुषों के चरित्र सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥

इस समय भी जिनकी कीर्ति मनुष्यों में गाई जाती है ऐसे धर्मज्ञ पाण्डवों ने न मारने योग्य बहुत से पुरुषों का जो संहार किया, इसका कोई छोटासा कारण नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ, निर्दोष पाण्डवों के शक्तिमान् होने पर भी दुष्टात्मा कौरवों ने जो उनको दुःख दिये, उनको उन्होंने किस कारण से सहा ? हे द्विजोत्तम ! महाबाहु

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः ।
शक्ता सती धार्त्तराष्ट्रान्नादहत् क्रोधचक्षुषा ॥ ७ ॥
कथं व्यसनिनं द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा ।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ॥ ८ ॥
कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मभृत् ।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान् स युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
अस्यन्नेकोऽनयत् सर्वाः पितृलोकं धनञ्जयः ॥ १० ॥
एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन ।
यद्यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच ।

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः ।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ॥ १२ ॥

तथा दस सहस्र हाथियों के बलवाले भीमसेन ने दुःख पड़ने पर भी अपने क्रोध को किस कारण से शान्त रक्खा था ? ॥ ५-६ ॥

उन दुष्टात्माओं के दुःख देने पर भी सती द्रौपदी ने किस कारण क्रोधभरी दृष्टि से धृतराष्ट्र के पुत्रों को भस्म नहीं कर दिया ? ॥ ७ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन और भीमसेन तथा माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव भी उन दुष्टात्माओं से दुःखित होकर जुए के व्यसनी युधिष्ठिर के अनुगामी क्यों हुए ? ॥ ८ ॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ तथा धर्म के ज्ञाता धर्मपुत्र युधिष्ठिर जिस दुःख को सहने के अयोग्य थे, उन्होंने उसको क्यों सहा था ? ॥ ९ ॥

श्री कृष्ण जिसके सारथी थे, ऐसे अकेले अर्जुन ने अपने बाणों की वर्षा से बहुत सी सेना को पितृलोक में किस प्रकार पहुँचा दिया था ? ॥ १० ॥

हे तपोधन ! उन महारथियों ने जो जो किया हो और जैसी घटना घटी हो वह सब मुझको सुनाइए ॥ ११ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे महाराज ! इस महाभारत को सुनने के लिये

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥१३॥
इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥१४॥
य इदं श्रावयेद्विद्वान् ये चेदं शृणुयुर्नराः ।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम् ॥१५॥
इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥१६॥
अस्मिन्नर्थश्च कामश्च निखिलेनोपदिश्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ॥१७॥
अक्षुद्रान् दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान् ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते ॥१८॥

आप समय निकालिये, क्योंकि कृष्ण द्वैपायन का बनाया हुआ यह पवित्र इतिहास बहुत बड़ा है ॥ १२ ॥

सकल लोकों में प्रतिष्ठित, परमतेजस्वी, महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी का रचा हुआ यह सम्पूर्ण इतिहास मैं तुमसे कहूँगा ॥ १३ ॥

परमबली, सत्यवती के पुत्र वेदव्यासजी ने पुण्य कर्म करनेवाले पाण्डवों की कथा एक लाख श्लोकों में रची है ॥ १४ ॥

जो विद्वान् पुरुष इस कथा को सुनाता है तथा जो मनुष्य सुनते हैं वे सब ब्रह्मलोक में जाकर देवताओं के समान बन जाते हैं ॥ १५ ॥

यह पुराण वेद के समान, पवित्र, उत्तम और सुनने योग्य पुराणों में श्रेष्ठ है, इतना ही नहीं किंतु ऋषि भी इसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

इस महापवित्र इतिहास में अर्थ और काम का पूर्ण रीति से उपदेश किया गया है, तथा इस परमपुण्यमय इतिहास को सुनने से बुद्धि मोक्ष के योग्य हो जाती है ॥ १७ ॥

दानी, सत्यभाषी तथा आस्तिक उत्तम पुरुष एवं विद्वान् पुरुष कृष्ण द्वैपायन के रचे हुए इस सम्पूर्ण वेद को सुनाकर धन पाते हैं ॥ १८ ॥

भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥१९॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥२०॥
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत्।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥२१॥
महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥२२॥
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥२३॥
सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥२४॥

महादारुण पुरुष भी इस इतिहास को सुनकर बालहत्या के पातक से निःसन्देह छूट जाता है। चन्द्रमा जैसे राहु से छूटने पर सकल पापों से मुक्त होता है, वैसे ही महादारुण पाप करनेवाला पुरुष इस इतिहास को सुनने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है। इस इतिहास का नाम जय है, इस कारण विजय चाहनेवाले को यह अवश्य सुनना चाहिये ॥ १९–२० ॥

इस इतिहास को सुननेवाला राजा सकल पृथिवी पर विजय पाता है और सकल शत्रुओं को वश में कर लेता है। इस इतिहास को सुनने से पुत्र की प्राप्ति होती है तथा बड़ा कल्याण होता है ॥ २१ ॥

यह इतिहास युवा राजा को अपनी पटरानी के साथ सुनने योग्य है, क्योंकि इस प्रकार सुनने से उनको वीर पुत्र की उत्पत्ति होती है, यदि पुत्री उत्पन्न होती है तो राज्य की रानी होती है ॥ २२ ॥

अगाध बुद्धिवाले व्यासजी ने स्वयं ही कहा है कि यह इतिहास धर्मशास्त्र है, यह पुण्यकारी है, यह बड़ा भारी अर्थशास्त्र है और यह परममोक्षशास्त्र है ॥ २३ ॥

इस कारण यह इतिहास इस समय भी बाँचा जाता है और आगे भी

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च।
सर्वं स त्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥२५॥
भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम्।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥२६॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यं चिकीर्षुणा ॥२७॥
कीर्त्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणाञ्च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥२८॥
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम्।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थं ब्राह्मणान् शुचीन् ॥२९॥
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्त्तयन् सततं शुचिः ॥३०॥

बाँचा जाता रहेगा। जो मनुष्य इस इतिहास को सुनता है, उसके सदा सेवा करनेवाले पुत्र और सदा प्रिय काम करनेवाले सेवक होते हैं ॥ २४ ॥

जो मनुष्य इस महाभारत को सुनता है वह मन, वाणी तथा काया से किये हुए पापों से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

जो अपने मन में किसी प्रकार की भी ईर्षा रखे बिना इस भरतवंशी कुमारों के महान् चरित्र को सुनते हैं, उनको किसी भी रोग का भय नहीं होता है, और परलोक का भय तो होगा ही कहाँ से ? ॥ २६ ॥

महात्मा पाण्डवों की और अगाध लक्ष्मी से तेजस्वी दीखनेवाले, सकल विद्याओं के अभ्यास से उज्वल प्रतीत होनेवाले, जगत् में प्रसिद्ध काम करनेवाले दूसरे क्षत्रियों की कीर्त्ति को सब लोकों में प्रसिद्ध करनेवाला, पुण्यवान्, धन, धान्य, यश, पुण्य, आयु तथा स्वर्गगति देनेवाला यह उत्तम इतिहास व्यासजी ने रचा है। जो मनुष्य पवित्र ब्राह्मणों को पुण्यार्थ यह महापुण्यवाला पवित्र इतिहास सुनाता है, उसका धर्म सनातन रहता है, जो पुरुष कुरुओं के प्रसिद्ध वंश का कीर्तन करता है वह निरन्तर पवित्र रहता है ॥ २७–३० ॥

वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ॥३१॥
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥३२॥
देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ॥३३॥
भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते ।
अनेकजननो यत्र कार्त्तिकेयस्य सम्भवः ॥३४॥
ब्राह्मणानां गवाश्चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते ।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥३५॥
य इदं श्रावयेद्विद्वान् ब्राह्मणानिह पर्वसु ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम् ॥३६॥

इतना ही नहीं, किन्तु वह बड़े परिवार को पाता है और लोक में बड़ा प्रतिष्ठित होता है। जो ब्राह्मण नियम से व्रत रहकर वर्षा ऋतु के चार महीनों में इस पवित्र महाभारत को सुनता है, वह अपने सब पापों से छूट जाता है। जिसने महाभारत को पढ़ा हो उसको वेद का पारगामी जानना चाहिये॥ ३१-३२॥

इस इतिहास में देवता, राजर्षि, पुण्यवान् ब्रह्मर्षि और पापरहित श्री कृष्णजी की कीर्त्ति गाई गई है॥ ३ ॥

इसमें देवताओं के देव भगवान् महादेव, देवी पार्वती और कृत्तिका आदि अनेक माताओं से उत्पन्न हुए स्वामी कार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन भी है, इसमें श्रेष्ठ गौओं तथा ब्राह्मणों का माहात्म्य भी गाया गया है। यह भारत सब श्रुतियों का समूहरूप है, इस कारण सकल धर्मात्मा बुद्धिमानों के सुनने योग्य है॥ ३४-३५॥

जो विद्वान् पर्वों के दिन ब्राह्मणों को यह भारत सुनाता है, वह अपने पाप से मुक्त हो स्वर्ग को जीतकर सनातन ब्रह्मलोक में जाता है॥ ३६॥

श्रावयेद् ब्राह्मणान् श्राद्धे यश्चेदं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्त्तेत् पितॄनिह ॥३७॥
अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत् ॥३८॥
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥३९॥
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः ॥४०॥
महतो ह्येनसो मर्त्यान्मोचयेदनुकीर्तितः ।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥४१॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ॥४२॥
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम् ।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम् ॥४३॥

यदि ब्राह्मण महाभारत के एक पाद को भी श्राद्ध में अन्त के समय सुनावे तो वह श्राद्ध उसके पितरों को अक्षय रीति से पहुँचता है ॥ ३७ ॥

पुरुष दिन में या रात में, इन्द्रियों से या मन से, जानकर या विना जाने जो पाप करता है वह सब इस महाभारत को सुनते ही तुरन्त नष्ट हो जाता है। जिसमें भरतवंशी राजाओं के उत्तम जन्मों का वर्णन है वह महाभारत कहलाता है ॥ ३८–३९ ॥

जो मनुष्य इसका अर्थ समझता है वह सब पापों से छूट जाता है, क्योंकि भरतकुल के राजाओं का यह परम अद्भुत इतिहास है ॥ ४० ॥

इसको पढ़ने से मनुष्य बड़े भारी पापों से छूट जाते हैं। महर्षि कृष्ण द्वैपायन मुनि नित्य प्रभात में उठकर स्नान सन्ध्या करके तप के नियम में रहते हुए इस महाभारत की रचना करते थे, उन्होंने तीन वर्ष में इसको पूरा किया था ॥४१–४२॥

इस कारण ब्राह्मणों को नियमयुक्त होकर वेदव्यासजी की रची हुई महाभारत की उत्तम और पुण्यदायक कथा सुननी चाहिये ॥ ४३ ॥

श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः ।
सर्वथा वर्त्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ॥४४॥
नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥४५॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥४६॥
शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम् ।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥४७॥
यथा समुद्रो भगवान्यथा मेरुर्महागिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥४८॥
इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्रव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं बलवर्द्धनम् ॥४९॥

जो ब्राह्मण इसे दूसरों को सुनायेगा और जो मनुष्य सुनेगा, वे दोनों भले बुरे चाहे जिस मार्ग से बर्ताव करते हों, तो भी उसका फल भोगनेवाले नहीं होंगे ॥ ४४ ॥

इस कारण धर्माचरण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को यह इतिहास पूरा सुनना चाहिये, क्योंकि इसको पूरा सुनने से ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

मनुष्य इस पुण्यमय इतिहास को सुनने से जो सन्तोष पाता है, वह सन्तोष स्वर्ग की गति पाने से भी नहीं मिलता, अर्थात् उससे भी अधिक सन्तोष इस महाभारत को सुनने से होता है ॥ ४६ ॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य श्रद्धा से इस इतिहास को सुनता है तथा दूसरे को सुनाता है उस को राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

जैसे समुद्र और सुमेरु रत्नों की खान कहलाता है, वैसे ही महाभारत भी कथारूपी रत्नों की खान है ॥ ४८ ॥

यह इतिहास केवल पवित्र और उत्तम ही नहीं है किन्तु वेद के समान सुनने योग्य, कानों को आनन्द देनेवाला, पवित्र करनेवाला और शील को बढ़ानेवाला है ॥ ४९ ॥

य इदं भारतं राजन् वाचकाय प्रयच्छति ।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत्सागरमेखला ॥५०॥
पारीक्षितकथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च ।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ॥५१॥
त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ॥५२॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥५३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणे
द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥



हे राजन् ! जो मनुष्य कथा कहनेवाले व्यास को यह महाभारत ग्रन्थ अर्पण करता है, वह समुद्रपर्यन्त सकल पृथ्वी के दान का फल पाता है ॥ ५० ॥

हे जनमेजय ! पुण्य तथा विजय के लिये दिव्य तथा हर्ष को उत्पन्न करनेवाली इस पूरी कथा को मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ५१ ॥

महाभारत का अद्भुत आख्यान भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि ने नित्य प्रभात में उठकर रचा था और इसको तीन वर्ष में पूरा किया था । हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन् ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा है वह दूसरे ग्रन्थों में भी देखने में आता है, परन्तु जिसका वर्णन इसमें नहीं हुआ है वह बात दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं है ॥ ५२–५३ ॥

बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥६२॥



तिरसठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः ।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः ॥ १ ॥
स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः ॥ २ ॥
तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे ॥ ३ ॥
इन्द्रत्वमर्हो राजायं तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्तपसः संन्यवर्त्तयन् ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः ।

न संकीर्येत धर्मोयं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—उपरिचर नाम का एक राजा था, वह नित्य धर्म का आदर करनेवाला, व्रतधारी और मृगया का प्रेमी था ॥ १ ॥

वह पौरवकुल में उत्पन्न राजा वसु के नाम से भी प्रसिद्ध था, उसने इन्द्र के कहने से रमणीय चेदिदेश को जीत लिया ॥ २ ॥

परन्तु कुछ समय के पीछे वह राजा शस्त्र छोड़कर आश्रमवासी हो गया और उसने तप करना आरम्भ कर दिया । इस पर देवताओं ने समझा कि यह इन्द्रासन के लिये तीव्र तप करता है । ऐसा विचार कर इन्द्रादि देवता उस राजा के पास गये और समझाकर उसे तप करने से हटा दिया ॥ ३-४ ॥

देवताओं ने उससे कहा कि हे भूपाल ! पृथिवी से धर्म नष्ट न हो जाय इसके लिये तुम्हें चिन्ता रखनी चाहिये, तुम्हारा रक्षा किया हुआ धर्म स्वयं ही सब जगत् को धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

इन्द्र उवाच ।

लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः ।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान् पुण्यान् पश्यसि शाश्वतान् ॥ ६ ॥
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ॥ ७ ॥
पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान् ।
स्वा रक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः ॥ ८ ॥
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः ।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप ॥ ९ ॥
धर्मशीला जनपदाः सुसन्तोषाश्च साधवः ।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥१०॥
न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान् सन्धुक्षयन्ति च ॥११॥

इन्द्र ने कहा—हे राजन् ! तुम सावधान तथा नित्य नियमयुक्त होकर लोक में धर्म की रक्षा करो, क्योंकि तुम धर्मपालक होकर सनातन पुण्यलोकों का दर्शन पाओगे ॥ ६ ॥

तुम भूतल पर रहते हो, तो भी मुझ स्वर्गवासी के प्यारे मित्र हो, इस लिये हे राजन्, पृथिवी पर जो देश बड़ा ही रमणीय, पशुओं की रक्षा करनेवाला, पवित्र, बहुत से धन धान्य से भरपूर, भोग्य पदार्थों से भरा पूरा और उत्तम प्रकार की भूमि के गुणवाला हो, उस स्वर्गतुल्य देश में रहकर उसकी रक्षा करो ॥ ७–८ ॥

हे चेदिदेश के राजन् ! पदार्थों से परिपूर्ण, धन और रत्नों से भरा पूरा यह चेदिदेश संपत्ति का भण्डार है, इस कारण तुम इसमें रहो ॥ ९ ॥

इस देश में धर्मात्मा मनुष्य रहते हैं, परम सन्तोषी पुरुष रहते हैं, कभी कोई हास्य में भी झूठी बात नहीं कहते, फिर साधारण बातों में तो झूठ बोलेंगे ही क्यों ॥ १० ॥

यहाँ पुत्र पिता से अलग होकर नहीं रहते हैं, शिष्य अपने गुरु का हित

सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद ।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ॥१२॥
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ॥१३॥
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि देवो विग्रहवानिव ॥१४॥
ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ॥१५॥
लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥१६॥

करने में ही लगे रहते हैं, दुर्बल बैलों को हल में नहीं जोड़ा जाता और दरिद्रों का भरण पोषण किया जाता है ॥ ११ ॥

हे मानप्रदाता ! यहाँ सब वर्ण सदा अपने अपने धर्म के अनुसार चलते हैं। तीनों लोकों में जो कुछ है वह तुम्हें अज्ञात नहीं है। ॥ १२ ॥

इस कारण हे राजन्! देवलोक के भोगने योग्य और आकाश में विचरनेवाला एक दिव्य स्फटिकमणि का विमान मैं तुम्हें देता हूँ, वह तुम्हारी सेवा में उपस्थित रहेगा ॥ १३ ॥

सब मनुष्यों में केवल एक तुम ही श्रेष्ठ विमान में बैठकर मनुष्यशरीरधारी देवता के समान आकाश में विहार करोगे ॥ १४ ॥

हे राजन्! जिसके कमल कुम्हलाते नहीं ऐसी वैजयन्ती नाम की माला भी मैं तुम्हें देता हूँ। तुम इस माला को कंठ में धारण करके युद्ध करोगे तो संग्राम में तुम्हारे शरीर को शस्त्र नहीं काट सकेंगे ॥ १५ ॥

हे राजन्! यह माला ही तुम्हारी पहिचान होगी तथा यह बात भी प्रसिद्ध होगी कि यह इन्द्र की प्रसिद्ध और अनुपम माला है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच।

यष्टिश्च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालनीम् ॥१७॥
तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥१८॥
ततः प्रभृति चाद्यापि यष्ट्याः क्षितिपसत्तमैः।
प्रवेशः क्रियते राजन्यथा तेन प्रवर्त्तितः ॥१९॥
अपरेद्युस्ततस्तस्याः क्रियतेऽस्युच्छ्रयो नृपैः।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धैर्माल्यैश्च भूषणैः ॥२०॥
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत् क्रियतेऽपि च।
भगवान् पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ॥२१॥
स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः।
स तां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम् ॥२२॥

इन्द्र ने श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करनेवाली एक बाँस की लकड़ी भी प्रीतिदान रूप से उस राजा को दी ॥ १७ ॥

जब एक वर्ष बीता, तब राजा ने इन्द्र की पूजा करने के लिये भूमि खोदी और उसमें उस लकड़ी को खड़ी करके विधिपूर्वक उसकी पूजा की ॥ १८ ॥

हे राजन्! तब से लेकर आज पर्यन्त सब राजा भूमि में लकड़ी खड़ी करके दूसरे दिन अर्थात् नए वर्ष के प्रथम दिन नाना प्रकार के वस्त्र, चन्दन, पुष्प-माला और आभूषणों से उस लकड़ी का शृंगार करके महोत्सव करते हैं ॥ १९–२० ॥

लकड़ी के ऊपर पुष्पों की माला लपेटकर उसमें विधिपूर्वक हंस के रूप में रहनेवाले भगवान् इन्द्र की पूजा की जाती है ॥ २१ ॥

इन्द्र ने भी महात्मा वसु को अच्छा लगने के लिये स्वयं हंस का रूप धारण करके उनकी की हुई उत्तम पूजा को ग्रहण किया था। महाराज वसु ने जो उत्तम पूजा की थी, उसको देखकर इन्द्र प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि जो राजा तथा प्रजा चेदिराज के समान प्रसन्नता से मेरी पूजा करेंगे तथा महो-

वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत् प्रभुः।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ॥२३॥
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ॥२४॥
तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति।
एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप ॥२५॥
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ॥२६॥
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ॥२७॥
सम्पूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥२८॥
इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ॥२९॥

त्सव मनायेंगे, उनको तथा उनके देश को लक्ष्मी मिलेगी और उनकी विजय होगी ॥ २२–२४ ॥

उनका देश भी सुखी और समृद्धिवाला होगा। हे भूपते! इस प्रकार का महोत्सव करने से महात्मा इन्द्र ने महाराज वसु का प्रेम के साथ सत्कार किया था। ऐसे ही जो मनुष्य सदा भूमि और रत्न आदि का दान देकर पूजा करेंगे तथा वरदान, महायज्ञ आदि से इन्द्र का महोत्सव मनायेंगे, वे पूजनीय होंगे ॥ २५–२७ ॥

फिर चेदि देश का राजा वसु इन्द्र की ओर से सन्मान पाकर धर्मपूर्वक चेदिदेश का पालन करने लगा ॥ २८ ॥

चेदिदेश का राजा वसु इन्द्र को प्रसन्न करने के लिये प्रत्येक वर्ष के अन्त में महोत्सव करता था। उस राजा के बृहद्रथ, प्रत्यग्रह, कुशाम्ब (जिसका दूसरा नाम मणिवाहन था), मावेल्ल और महान् अजेय यदु यह पाँच पुत्र थे। उस

नानाराज्येषु च सुतान् स सम्राडभ्यषेचयत् ।
महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ॥३०॥
प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ॥३१॥
एते तस्य सुता राजन् राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवेशयन्नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ॥३२॥
वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ।
वसन्तमिन्द्रप्रासादे आकाशे स्फाटिके च तम् ॥३३॥
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ॥३४॥
पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात्कोलाहलः किल ॥३५॥
गिरिं कोलाहलं तन्तुं पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम नतस्तेन प्रहारविवरेण सा ॥३६॥

चक्रवर्ती राजा ने अलग अलग देशों के राज्यों पर उनका अभिषेक कर दिया, जिनमें महारथी बृहद्रथ मगध देश का राजा था ॥ २९–३१ ॥

हे राजन्! ऊपर कहे हुए जो महातेजस्वी राजर्षि वसु के पुत्र थे, उन्होंने अपने नाम से देश और नगर बसाये थे। वसु के पाँच पुत्रों से अनेकों सनातन वंशपरंपराएँ चलीं। वह चेदिदेश का राजा इन्द्र के दिये हुए स्फटिक मणि के विमान में बैठकर आकाश में फिरा करता था ॥ ३२–३३ ॥

वह राजा जब आकाश में विचरता, उस समय अप्सरा और गन्धर्व उसके पास सेवा करने को आते थे। इस कारण राजा का 'उपरिचर' यह नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया ॥ ३४ ॥

एक समय इसकी नगरी के पास बहती हुई शुक्तिमती नदी को कोलाहल नामक जीवित पर्वत ने कामवासना से रोक लिया था, इस कारण राजा वसु ने उस पर्वत को लात मारकर तोड़ डाला। तब रुका हुआ शुक्तिमती का प्रवाह पर्वत की दरार में होकर फिर पहले के समान बहने लगा ॥ ३५–३६ ॥

तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम् ।
तस्मात् विमोक्षणात् प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ॥३७॥
यः पुमानभवत्तत्र तं स राजर्षिसत्तमः ।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिंदमः ॥३८॥
चकार पत्नीं कन्यान्तु तथा तां गिरिकां नृपः ।
वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ॥३९॥
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः ।
तदहः पितरश्चैवमूचुर्जहि मृगानिति ॥४०॥
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मनिमतां वर ।
स पितॄणां नियोगन्तमनतिक्रम्य पार्थिवः ॥४१॥
चकार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन् ।
अतीवरूपसम्पन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥४२॥
अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः ।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च वकुलैर्दिव्यपाटलैः ॥४३॥

पर्वत के समागम से शुक्तिमती नदी को दो सन्तान उत्पन्न हुईं, उनमें एक पुत्र और दूसरी कन्या थी। पर्वत से छूटी हुई और प्रसन्न उस नदी ने राजा वसु को वे दोनों बालक सौंप दिये ॥ ३७ ॥

राजा वसु ने लड़के को अपना सेनापति बनाया और गिरिका नाम के कन्या को अपनी स्त्री बनाया। एक वार ऋतुकाल के समय गिरिका स्नान करके पवित्र हुई और उसने वसु से गर्भप्राप्ति का निवेदन किया। हे राजन्! उस दिन पितरों ने भी प्रसन्न होकर राजा वसु से कहा कि तुम मृगों को मारो ॥ ३८–४० ॥

पराक्रमी और कामातुर वह राजा पितरों की आज्ञा का उल्लंघन न करके साक्षात् दूसरी लक्ष्मी के समान परमरूपवती अपनी स्त्री गिरिका का ही स्मरण करता हुआ मृगया करने को वन में गया ॥ ४१–४२ ॥

अशोक, चम्पक, आम, अतिमुक्तक, पुन्नाग, कनेर, मौलसिरी, दिव्य पाटल तथा साधारण पाटल, नारियल, चन्दन तथा अर्जुन के वृक्ष और जिनके

पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चार्जुनैस्तथा ।
एतै रम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥४४॥
कोकिलाकुलसन्नादं मत्तभ्रमरनादितम् ।
वसन्तकाले तत्तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ॥४५॥
मन्मथाभिपरीतात्मा नापश्यद्गिरिकां तदा ।
अपश्यन् कामसन्तप्तश्चरमाणो यदृच्छया ॥४६॥
पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम् ।
अशोकं स्तवकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ॥४७॥
अधस्तात्तस्य छायायां सुखासीनो नराधिपः ।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धं मनोहरम् ॥४८॥
वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात् ।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ॥४९॥

ऊपर सुन्दर फल लग रहे हैं ऐसे अति मनोहर वृक्षों से वह वन शोभायमान हो रहा था ॥ ४३–४४ ॥

कोकिलाओं के समूह उसमें कूक रहे थे और मदमत्त भौंरों की गुञ्जार से वह गूँज रहा था। वह वन वसन्त ऋतु के समय में चैत्ररथ के समान मनोहर मालूम होता था ॥ ४५ ॥

राजा का मन कामवासना से भरा हुआ था, उसके मन में गिरिका से मिलने का विचार हुआ, परंतु वह देखने में नहीं आई, इस कारण वह वन में विचरने लगा। इतने ही में उसने दैव की प्रेरणा से एक सुन्दर अशोक के वृक्ष को देखा, उसकी शाखाओं के अग्रभाग फूलों से ढके हुए थे, वह पत्तों से शोभायमान हो रहा था और गुच्छों से छा रहा था ॥ ४६–४७ ॥

राजा उस अशोक की छाया के नीचे सुख से बैठ गया, उस समय वह अशोक मधु तथा फूलों की सुगन्ध से मनोहर दीख रहा था ॥ ४८ ॥

वहाँ सुगन्धित पवन की प्रेरणा से वह राजा सुरत कर्म करने के लिये आनन्द में आ गया और गहन वन में फिरते हुए उसका वीर्य स्खलित हो गया ॥ ४९ ॥

स्कन्नमात्रञ्च तद्रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः ।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद्रेत इत्युत ॥५०॥
इदं मिथ्यापरिष्कन्नं रेतो मे न भवेदिति ।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ॥५१॥
सञ्चिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः ।
अमोघत्वञ्च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥५२॥
शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै ।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात्तिष्ठन्तमाशुगम् ॥५३॥
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत् ।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ॥५४॥
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्त्तवमद्य वै ।
गृहीत्वा तत्तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ॥५५॥

ज्यों ही वीर्य नीचे गिरा, राजा ने 'यह वृथा नहीं जाना चाहिये' ऐसा विचार कर तत्काल उस वीर्य को अशोक के पत्ते पर रख लिया ॥ ५० ॥

'मेरा वीर्य वृथा जाने के लिये नहीं है और मेरी स्त्री गिरिका का ऋतुकाल भी निरर्थक नहीं होगा' इस प्रकार उस राजा ने बहुत चिन्ता की, तो वीर्य की सफलता उसके ध्यान में आ गई ॥ ५१–५२ ॥

रानी के पास वीर्य भेज देने का यह अवसर है, राजा ने ऐसा विचार कर पुत्र की उत्पत्ति करनेवाले मन्त्रों से उसका अभिमन्त्रण किया और फिर धर्म के सूक्ष्म तत्त्व को जाननेवाले उस राजा ने अपने विमान के समीप बैठे हुए और वेग से उड़नेवाले एक बाज की ओर देखकर कहा कि हे शान्त गुणवाले बाज ! मेरा हित करने के लिये तू इस अमोघ वीर्य को मेरे घर ले जा ॥ ५३–५४ ॥

इसे मेरी गिरिका नामवाली रानी, जो आज ही ऋतुस्नान करके शुद्ध हुई है, उसको तुरन्त ही दे देना। बाज राजा के समीप से वीर्य को लेकर उस समय बड़े ही वेग से तुरन्त उड़ गया ॥ ५५ ॥

जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहङ्गमः ।
तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ॥५६॥
अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया ।
तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ सम्प्रचक्रतुः ॥५७॥
युध्यतोरपतद्रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि ।
तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद्वराप्सरा: ॥५८॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद्वीर्यमथ वासवम् ॥५९॥
जग्राह तरसोत्पत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी ।
कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ॥६०॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम ।
उज्जह्रुरुदरात्तस्याः स्त्रीं पुमांसञ्च मानुषम् ॥६१॥

परन्तु वह आकाशचारी पक्षी ज्यों ही परम वेग में आकर उड़ने लगा त्यों ही उसको एक दूसरे बाज ने आता हुआ देखा और इसके पास मांस है, इस सन्देह से तत्काल उसके ऊपर झपटा तथा वे दोनों पक्षी आकाश में चोंचों से युद्ध करने लगे ॥ ५६-५७ ॥

तब परस्पर लड़ने में उस बाज के पंजे से वीर्य का दोना नीचे आकर यमुना नदी के पानी में गिर पड़ा। यहाँ ब्रह्मा के शाप से एक अद्रिका नामवाली उत्तम अप्सरा यमुना नदी में मछली बनकर रहती थी। मछली के रूप में रहनेवाली वह अद्रिका झपाटे से उस दोने के पास जाकर बाज के पंजे से गिरे हुए वसु के वीर्य को निगल गई। जब दस महीने होने को आये तब मछलियों से आजीविका करनेवाले धीवरों ने अद्रिका मछली को बाँध लिया और उसको बाहर निकालकर चीरा तो हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन्! उसके पेट में से एक पुरुष और एक स्त्री—ऐसे दो मनुष्य निकले ॥ ५८-६१ ॥

आश्चर्यभूतं तद्गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन्।
काये मत्स्या इमौ राजन् सम्भूतौ मानुषाविति ॥६२॥

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा।
स मत्स्यो नाम राजासीद्धार्मिकः सत्यसंगरः ॥६३॥

साऽप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत।
या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा ॥६४॥

मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि।
ततः सा जनयित्वा तु विशस्ता मत्स्यघातिना ॥६५॥

संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ॥६६॥

सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति ॥६७॥

तब मछुओं ने राजा के पास जाकर उन आश्चर्यकारक स्त्री और पुरुष को राजा वसु को सोंपकर कहा कि—हे राजन्! ये दोनों मनुष्य मछली के शरीर से निकले हैं, इनमें एक पुत्र और दूसरी कन्या है ॥ ६२ ॥

उपरिचर राजा ने उन दोनों में से पुरुष को लेकर अपने पास रखा, जो धार्मिक और सत्यवादी मत्स्य नाम का राजा हुआ ॥ ६३ ॥

जो अप्सरा ब्रह्मा के कहने से पहले मछली होकर यमुना नदी में पड़ी थी वह क्षणभर में शाप से मुक्त होकर अप्सरा हो गई ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा ने उस अप्सरा को शाप देते समय कहा था कि तू दो मनुष्य-सन्तानों को जन्म देकर मेरे शाप से छूटेगी। उसी के अनुसार धीवरों ने उसका पेट चीरकर उसमें से दो मनुष्यों को बाहर निकाला, और तत्काल वह सुन्दर अप्सरा मछली का रूप त्याग कर दिव्य रूप धारण करके सिद्ध ऋषि और चारणों से सेवन किये हुए स्वर्ग में चली गई ॥ ६५–६६ ॥

वसु (उपरिचर) राजा ने पुत्र को अपने पास रखकर उस मछली की कन्या को देखा तो वह रूपवती थी परन्तु उसके शरीर में से मछली की गन्ध

रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ॥६८॥
आसीत्सा मत्स्यगन्धैव कंचित्कालं शुचिस्मिता ।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्ती जले च ताम् ॥६९॥
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद्वै पराशरः ।
अतीवरूपसंपन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ॥७०॥
दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम् ।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः ॥७१॥
संगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत ।
साऽब्रवीत्पश्य भगवन्पारावारे स्थितानृषीन् ॥७२॥
आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात्समागमः ।
एवं तयोक्तो भगवान्नीहारमसृजत्प्रभुः ॥७३॥

आती थी। इस कारण राजा ने उन मछुओं में एक मुख्य मछुए को वह कन्या देकर कहा कि तू इस कन्या को पुत्री बनाकर रख ॥ ६७ ॥

इस मछुए ने उसको अपनी पुत्री बनाकर रखा। रूप और सत्त्ववाली, सकल श्रेष्ठ गुणों से भरी हुई वह कन्या उन मछुओं का आश्रय करने से सत्यवती कहलाई ॥ ६८ ॥

पवित्र हास्यवाली उस सत्यवती के शरीर में से वहुत समय पर्यन्त मछली की गन्ध आती रही, इस कारण वह मत्स्यगन्धा नाम से भी पुकारी जाती थी। एक समय तीर्थयात्रा करते हुए पराशर ऋषि यमुना के तटपर आ पहुँचे, उसी समय पिता की सेवारूपी सहायता करने के लिये जल में नौका चलाती हुई मत्स्यगन्धा को उन्होंने देखा। वह कन्या अत्यन्त रूपवती थी, सिद्ध पुरुष पर्यन्त उसकी कामना करते थे, उसका हास्य सुन्दर और पैर केले के समान थे। वसु की उस कन्या को देखते समय ही ऋषियों में श्रेष्ठ बुद्धिमान् पराशर ऋषि उसके ऊपर आसक्त हो गए। पराशर मुनि ने उस कन्या को देखते ही कहा कि हे कल्याणी! तू मेरे साथ संगम कर। ऋषि के ऐसे वचन को सुनकर सत्यवती

येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत् ।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥७४॥
विस्मिता साऽभवत्कन्या व्रीडिता च तपस्विनी ।

सत्यवत्युवाच ।

विद्धि मां भगवन्कन्यां सदा पितृवशानुगाम् ॥७५॥
त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममाऽनघ ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ॥७६॥
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन्न स्थातुमुत्सहे ।
एतत्संचिन्त्य भगवन्विधत्स्व यदनन्तरम् ॥७७॥
एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः ।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥७८॥

ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! देखो, दोनों किनारों पर बहुत से ऋषि मुनि खड़े हैं, इनके देखते हुए हमारा सङ्गम कैसे हो सकता है ? यह सुनकर समर्थ भगवान् पराशर ऋषि ने कुहरे को रचा ॥ ६९-७३ ॥

उससे वहाँ अन्धेरा छा गया, तब ऋषि के उत्पन्न किये हुए कुहरे को देखकर अचरज मानती हुई वह बेचारी कन्या सत्यवती लज्जित हो गई और बोली कि हे निष्पाप भगवन्! सदा पिता की इच्छा के अनुसार चलनेवाली मैं अभी कन्या हूँ, ऐसा जानो। हे द्विजोत्तम ! यदि आपके संग से मेरा कन्यापन नष्ट हो जायगा तो फिर मैं इस संसार में कैसे रह सकूँगी और ऐसी दशा को मैं कैसे सह सकूँगी ॥ ७४-७६ ॥

हे बुद्धिमान् ऋषे! तब मैं कौन मुख लेकर घर में जाकर खड़ी हो सकूँगी ? इन सब बातों का पूरा पूरा विचार करके आपको जो उचित जँचे सो करो ॥ ७७ ॥

इस प्रकार कहनेवाली मत्स्यगन्धा के ऊपर प्रसन्न होकर ऋषियों में श्रेष्ठ पराशर ने कहा कि तू मेरा प्रिय कार्य करने के बाद भी कन्या ही रहेगी अर्थात् तेरा कन्याभाव दूषित नहीं होगा ॥ ७८ ॥

वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भाविनि ।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥७९॥
एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम् ।
स चास्यै भगवान्प्रादान्मनसः काङ्क्षितं भुवि ॥८०॥
ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता ।
जगाम सह संसर्गमृषिणाऽद्भुतकर्मणा ॥८१॥
तेन गन्धवतीत्येवं नामास्याः प्रथितं भुवि ।
तस्यास्तु योजनाद् गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ॥८२॥
तस्या योजनगन्धेति ततो नामापरं स्मृतम् ।
इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ॥८३॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥८४॥

हे भीरु भाविनी ! तुझे जो वर माँगना हो वह आनन्द से माँग लें, हे पवित्र हास्यवाली ! मेरा अनुग्रह पहले कभी भी वृथा नहीं गया है ॥ ७९ ॥

ऋषि के वचन को सुनकर मत्स्यगन्धा ने यह वर माँगा कि—मेरा शरीर उत्तम सुगन्धिवाला हो जाय। ऋषि ने संसार में उसके मन की इच्छानुसार वरदान दिया ॥ ८० ॥

इस वर के मिलने पर प्रसन्न और स्त्रीभाव गुण से भूषित अर्थात् ऋतुस्नान की हुई सत्यवती ने मुनि के साथ समागम किया। वरदान पाकर वह भूतल पर गन्धवती नाम से प्रसिद्ध हुई, उसके शरीर की सुगन्ध मनुष्यों को एक योजन (चार कोस) से आने लगती थी, इस कारण उसका योजनगन्धा यह दूसरा नाम भी पृथिवी पर प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार परमोत्तम वर मिलने से सत्यवती प्रसन्न हुई ॥ ८१-८३ ॥

पराशर के साथ समागम करने से सत्यवती गर्भवती हुई और यमुना के द्वीप (टापू) में पराशर मुनि के देखते हुए ही उसकी सन्तान महावीर्यवान् वेदव्यासजी उत्पन्न हुए ॥ ८४ ॥



जन्मलेतेही भगवान वेदव्यास अपनी माता सत्यवती से विदा होकर अपने पिता पराशर ऋषि के साथ जा रहे हैं।

स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ॥८५॥
एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे स यद्बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ॥८६॥
पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान्युगे युगे।
आयुः शक्तिं मनुष्याणां युगावस्थामवेक्ष्य च ॥८७॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथाऽनुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ॥८८॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥८९॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥९०॥

उस पुत्र का जब जन्म हुआ उस समय ही उसने माता से विनयपूर्वक कहा कि तुम जब किसी काम के लिये मुझे स्मरण करोगी, तब मैं तुम्हारे पास आ पहुँचूँगा। ऐसा कहकर और माता की आज्ञा लेकर वह तप करने के लिये वहाँ से चल दिये। इस तरह पराशर और सत्यवती से व्यासजी उत्पन्न हुए, सत्यवती ने उन को यमुना के द्वीप में छोड़ दिया था, इस कारण उनका द्वैपायन नाम भी पड़ गया ॥ ८५–८६ ॥

प्रति युग में धर्म का एक एक चरण कम होता हुआ देखकर तथा मनुष्यों की कम होती हुई आयु, शक्ति और युगों की अवस्था को देखकर विद्वान् द्वैपायन ने वेद तथा ब्राह्मणों की रक्षा करने की इच्छा से वेदों का विभाग किया। इस कारण उनका व्यास नाम पड़ गया ॥ ८७–८८ ॥

वर देनेवाले उन समर्थ व्यासजी ने सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन और अपने पुत्र शुक, इन पाँचों को चार वेद और पाँचवाँ महाभारत पढ़ाया था। उन शिष्यों ने महाभारत की मूलभूत, वेद मन्त्र-ब्राह्मणरूप अलग अलग संहितायें प्रकाशित कीं ॥ ८९–९० ॥

तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः ।
वसुवीर्यात्समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥६१॥
वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः ।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ॥६२॥
अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः स महायशाः ।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ॥६३॥
इषीकया मया बाल्याद्विद्धा ह्येका शकुन्तिका ।
तत्किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत्पापमहं स्मरे ॥६४॥
तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाजयत्तपः ।
गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद्यतः ॥६५॥
तस्मात्त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि ।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ॥६६॥

इसी प्रकार राजा शान्तनु के पुत्र, महातेजस्वी, महापराक्रमी तथा महाकीर्तिमान् भीष्मजी गङ्गा के उदर से वसुओं के अंश द्वारा उत्पन्न हुए ॥ ६१ ॥

अणीमाण्डव्य नामवाले एक बड़े कीर्तिमान् पुरातन ऋषि वेद के पूर्ण अर्थ ज्ञाता थे, वे चोर नहीं थे तो भी उनको चोर समझकर फाँसी पर चढ़ाया गया था । उन यशस्वी महर्षि ने धर्मराज को बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ ६२-६३ ॥

मैंने बालक अवस्था में घास के तिनके की नोक से एक शकुन्तिका नाम की मक्खी को बींध डाला था, हे धर्म ! केवल इतना ही पाप मुझे स्मरण आता है, दूसरा पाप किया हो यह मुझे स्मरण नहीं आता ॥ ६४ ॥

तिस पर भी मैंने सहस्रों वर्ष तप किया है, उस तप ने मेरे पाप का नाश क्यों नहीं किया ? सकल प्राणियों को मारने की अपेक्षा ब्राह्मण को मारना यह बड़ा भारी पाप गिना जाता है, इस कारण हे धर्म ! तू पापी है, इससे शूद्र की योनि में जन्म लेगा। इस शाप के कारण धर्म भी विद्वान्, धार्मिकमूर्ति और पापरहित विदुररूप से शूद्र

विद्वान्विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्विषी ।
संजयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ॥९७॥
सूर्याच्च कुन्तिकन्यायां जज्ञे कर्णो महाबलः ।
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलद्योतिताननः ॥९८॥
अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात्तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥९९॥
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥१००॥
आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम् ।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥१०१॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम् ।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ॥१०२॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम् ।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ॥१०३॥

योनि में उत्पन्न हुआ। मुनियों के समान सूत संजय गवल्गण से उत्पन्न हुआ ॥ ९५-९७ ॥

जब कुन्ती कन्या थी उस समय सूर्य के अंश से उसको महाबली कर्ण उत्पन्न हुआ, कर्ण जन्म से ही स्वाभाविक कवच पहने हुए और कानों में कुण्डलों से प्रकाशित मुखवाला उत्पन्न हुआ था ॥ ९८ ॥

महान् यशस्वी और संसार में पूज्य श्री कृष्ण लोकों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये वसुदेव से देवकी में प्रकट हुए ॥ ९९ ॥

उनको महात्मा लोग आदि तथा अन्त से रहित, महातेज के पुंजरूप, देव, जगत् के कर्ता, अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म, प्रधानपुरुष, त्रिगुणात्मक ॥ १०० ॥

आत्ममूर्ति, अव्यय, प्रकृति, मूलकारण, प्रभु, पुराणपुरुष, विश्व को उत्पन्न करनेवाला, धर्म और ज्ञान वैराग्य से मिलनेवाला, ओङ्कारमूर्ति, अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अज, अव्यक्त, परम अव्यय, कैवल्य, निर्गुण,

धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ।
अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ॥१०४॥
सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद् धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥१०५॥
भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ॥१०६॥
गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ॥१०७॥
अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महाबलः ।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥१०८॥
वैताने कर्मणि तते पावकात्समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥१०९॥

विश्वरूप, अनादि पुरुष और अविकारी कहते हैं। वे सब प्राणियों के कर्त्ता, पितामह, विष्णु भगवान् थे ॥ १०१–१०३ ॥

वे अन्धक और वृष्णिकुल में धर्म की वृद्धि करने के लिये बलराम और कृष्ण इन दो नामों से उत्पन्न हुए, वे दोनों अस्त्रविद्या में निपुण, महापराक्रमी और सर्वशास्त्रों में कुशल थे ॥ १०४ ॥

नारायण के अनुकूल रहनेवाले सात्यकि और कृतवर्मा सत्यक और हृदिक से उत्पन्न हुए, ये दोनों भी अस्त्रविद्या में प्रवीण थे ॥ १०५ ॥

उग्र तपवाले महर्षि भरद्वाज का वीर्य द्रोणी अर्थात् घड़े में गिरकर बढ़ने लगा और उसमें से द्रोणाचार्य उत्पन्न हुए। गौतम ऋषि का वीर्य एक शरस्तम्ब (सरकंडों के झुण्ड) में गिरा था, उसमें से अश्वत्थामा की माता कृपी और महाबलवान् कृपाचार्य उत्पन्न हुए ॥ १०६–१०७ ॥

महाबली अश्वत्थामा द्रोणाचार्य से उत्पन्न हुए। साक्षात् अग्नि के समान कान्तिवाला, वीर्यवान् और पराक्रमी धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य का नाश करने के लिये धनुष लेकर यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न हुआ ॥ १०८–१०९ ॥

तत्रैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥११०॥
प्रह्लादशिष्यो नग्नजित्सुबलश्चाभवत्ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥१११॥
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा ।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ॥११२॥
कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ॥११३॥
धर्मार्थकुशलो धीमान्मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥११४॥
पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥११५॥

उस ही यज्ञ की वेदी में से तेजस्वी शरीर से शोभायमान तथा उत्तम रूपवाली कल्याणी द्रौपदी भी उत्पन्न हुई ॥ ११० ॥

उधर प्रह्लाद के शिष्य नग्नजित् और सुबल उत्पन्न हुए, परन्तु देवताओं के कोप से उनकी सन्तान धर्म का नाश करनेवाली हो गई ॥ १११ ॥

गान्धारराज सुबल की सन्तान अर्थशास्त्र में कुशल, बलवान् शकुनि और दुर्योधन की माता गान्धारी ये दो उत्पन्न हुए ॥ ११२ ॥

विचित्रवीर्य के क्षेत्र में कृष्ण द्वैपायन से राजा धृतराष्ट्र और महाबली राजा पाण्डु यह उत्पन्न हुए ॥ ११३ ॥

कृष्ण द्वैपायन से ही धर्म और अर्थ में कुशल, परम बुद्धिमान् और पाप से रहित विदुर शूद्रयोनि में उत्पन्न हुए ॥ ११४ ॥

राजा पाण्डु की दो स्त्रियों के गर्भ से देवताओं के समान पाँच पुत्र अलग अलग उत्पन्न हुए, उनमें युधिष्ठिर गुणों के कारण श्रेष्ठ थे ॥ ११५ ॥

धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद्धनंजयः श्रीमान्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥११६॥
जज्ञाते रूपसंपन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥११७॥
तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥११८॥
ततो दुःशासनश्चैव दुःसहश्चापि भारत ।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ॥११९॥
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ॥१२०॥
अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्त्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥१२१॥
पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे ।
कुमारा रूपसंपन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥१२२॥

कुन्ती को धर्म से युधिष्ठिर, वायु से भीमसेन और इन्द्र से सकल शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ श्रीमान् अर्जुन उत्पन्न हुआ ॥ ११६ ॥

गुरुजनों की सेवा में प्रीति रखनेवाले नकुल और सहदेव माद्री के गर्भ में अश्विनीकुमारों से उत्पन्न हुए थे ॥ ११७ ॥

बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए और वैश्य जाति की स्त्री से युयुत्सु नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११८ ॥

वे सब मिलकर एक सौ एक पुत्र थे, उनमें दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र और वैश्य स्त्री का पुत्र युयुत्सु—ये ग्यारह महारथी थे ॥ ११९–१२० ॥

भगवान् वासुदेव की बहिन सुभद्रा के गर्भ में अर्जुन से महात्मा पांडु का पौत्र अभिमन्यु उत्पन्न हुआ ॥ १२१ ॥

पांडवों से द्रौपदी के पाँच पुत्र उत्पन्न हुए थे, उनमें युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥१२३॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥१२४॥
शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥१२५॥
कुरूणां विग्रहे तस्मिन्समागच्छन्बहून्यथ ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥१२६॥
तेषामपरिमेयानां नामधेयानि सर्वशः ।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि ।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥१२७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि
व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥



से श्रुतसेन इस प्रकार क्रम से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब शास्त्रों में चतुर, रूपवान् और प्रतापी थे। इनके अतिरिक्त वन में फिरती हुई हिडिम्बा को भीमसेन से घटोत्कच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ १२२-१२४ ॥

राजा द्रुपद के यहाँ शिखण्डी नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी, बाद में उसको स्थूण नामवाले एक यक्ष ने राजा का प्रिय करने की इच्छा से पुरुष बना दिया था ॥ १२५ ॥

कौरव पाण्डवों के महाभारत युद्ध में जो लोग आये थे, उन सबों के नाम दस हजार वर्षों में भी गिनना कठिन है, फिर मैं उनको कैसे कह सकता हूँ ? इस कारण जिनकी बातों से यह आख्यान भरपूर है, उन मुख्य राजाओं के नाम ही मैंने कहे हैं ॥ १२६-१२७ ॥

तिरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥



चौंसठवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच ।

य एते कीर्त्तिता ब्रह्मन् ये चान्ये नानुकीर्त्तिताः ।
सम्यक् तान् श्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान् सहस्रशः ॥१॥
यदर्थमिह संभूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच ।

रहस्यं खल्विदं राजन् देवानामिति नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ॥ ३ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः ॥ ५ ॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! तुमने जिन जिन राजाओं के नाम कहे और जिनके नाम नहीं कहे हैं, उन सब सहस्रों राजाओं की कथा मैं अच्छी तरह से सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

हे महाभाग ! देवताओं के समान वे महारथी राजा जिस कार्य को करने के लिये इस भूमि पर उत्पन्न हुए थे, वह सब मुझसे आपको भली प्रकार कहना चाहिये ॥ २ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन् ! हमने सुना है कि यह वास्तव में देवताओं का रहस्य है, तो भी स्वयम्भू भगवान् को प्रणाम करके मैं आपसे वह वृत्तान्त कहूँगा ॥ ३ ॥

पहले जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके पर्वतों में उत्तम महेन्द्र पर्वत पर तप करने को चले गए ॥ ४ ॥

इस प्रकार जब परशुरामजी ने पृथिवी को क्षत्रियों से हीन कर दिया, तब हे राजन् ! क्षत्रियों की स्त्रियाँ पुत्र की इच्छा से ब्राह्मणों के समीप जाने लगीं ॥ ५ ॥

ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः शंसितव्रताः ।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥ ६ ॥
तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ॥ ७ ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ।
एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥ ८ ॥
जातं वृद्धश्च धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम् ।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ९ ॥
अभ्यगच्छन्नृतौ नारीन् न कामान्नानृतौ तथा ।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥१०॥
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत्तथा भरतर्षभ ।
ततोऽवर्द्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ॥११॥

हे नरव्याघ्र ! अखण्ड व्रतवाले ब्राह्मण केवल ऋतुकाल में उनके साथ गमन करते थे, ऋतुकाल नहीं होने पर अथवा केवल कामवासना से वा खोटी रीति से गमन नहीं करते थे ॥ ६ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणों के संबन्ध से सहस्रों क्षत्रियायें गर्भवती हो गईं और हे राजन् ! उन्होंने बड़े बड़े महावीर क्षत्रियों को उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

इस प्रकार तपस्वी ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की वृद्धि के लिये क्षत्रियाओं से कुमार और कुमारियों को उत्पन्न किया, और वे नये वंश दीर्घायु और धर्मपरायण होकर बढ़ने लगे। इसके बाद जिनमें ब्राह्मण श्रेष्ठ थे ऐसे चारों वर्णों की फिर स्थापना हुई ॥ ८–९ ॥

उस समय प्रत्येक मनुष्य ऋतुकाल में ही अपनी स्त्री का संग करते थे, कामचेष्टा से या ऋतु न होने के दिनों में संग नहीं करते थे। हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन् ! पशु पक्षियों की योनि में उत्पन्न हुए दूसरे प्राणी भी ऋतुकाल में ही अपनी स्त्री का संग करते थे । हे भूपाल ! इस प्रकार धर्मपूर्वक

ता: प्रजा: पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणा: ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ता: सर्वशो नरा: ॥१२॥
अथेमां सागरापाङ्गीं गां गजेन्द्रगताखिलाम् ।
अध्यतिष्ठत् पुन: क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ॥१३॥
प्रशासति पुन: क्षत्रे धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ॥१४॥
कामक्रोधोद्भवान्दोषान्निरस्य च नराधिपा: ।
धर्मेण दण्डं दण्डयेषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ॥१५॥
तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्ष: शतक्रतु: ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणापालयत् प्रजा: ॥१६॥
न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवन: ॥१७॥

उत्पन्न हुई सब प्रजा मन और शरीर के दुःखों से रहित होकर धर्म तथा व्रतों में ही लगी हुई वृद्धि को प्राप्त होती थी एवं सैकड़ों वर्ष की आयु को भोगती थी ॥ १०--१२ ॥

हे गजेन्द्र के समान गतिवाले राजन् ! तब पर्वत, वन और नगरोंवाले समुद्रपर्यन्त सकल भूमण्डल पर फिर क्षत्रियों का ही राज्य हो गया ॥ १३ ॥

जब क्षत्रिय फिर धर्म से इस पृथिवी का पालन करने लगे तब ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अपार आनन्द को पाने लगे ॥ १४ ॥

राजा लोग काम क्रोध से उत्पन्न हुए दोषों को त्याग कर दण्ड के योग्य पुरुषों का धर्म से शासन और पृथिवी का पालन करने लगे ॥ १५ ॥

इस प्रकार क्षत्रियों को धर्मपरायण रहते हुए देखकर सौ यज्ञों का कर्ता और सहस्र नेत्रोंवाला इन्द्र भी समय और देश के अनुसार वर्षा करके प्रजाओं का पालन करने लगा ॥ १६ ॥

हे राजन ! उस समय कोई मनुष्य बालक अवस्था में नहीं मरता था तथा युवावस्था में पहुँचे बिना कोई स्त्री के संग को जानता भी नहीं था ॥ १७ ॥

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥१८॥
ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान्वेदान्विप्राश्चाधीयते तदा ॥१९॥
न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमभ्यासे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥२०॥
कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गांश्चाप्यजीवयन् ॥२१॥
फेनपांश्च तथा वत्सान्न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥२२॥
कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥२३॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन्! इस प्रकार पूर्ण आयुवाली प्रजा से समुद्र पर्यन्त सब पृथ्वी भर गई ॥ १८ ॥

उस समय क्षत्रिय बड़े बड़े यज्ञ करके ब्राह्मणों को बहुत सी दक्षिणा देते थे और ब्राह्मण भी सकल अङ्गों तथा उपनिषदों सहित वेद को पढ़ते थे ॥ १९ ॥

इतना ही नहीं, किन्तु हे राजन्! ब्राह्मण उस समय वेदों को बेचते नहीं थे, अर्थात् धन लेकर विद्या नहीं पढ़ाते थे तथा अनधिकारी को वेद नहीं सिखाते थे एवं अश्रद्धालु के समीप वेदों का उच्चारण नहीं करते थे ॥ २० ॥

वैश्य बैलों के द्वारा भूमि को जुतवाते थे, परन्तु कभी गायों के कन्धों पर जुआ नहीं रखते थे, तथा जो पशु दुबले या बुड्ढे हो जाते थे उनको घास, चारा और पानी देकर प्रसन्न रखते थे ॥ २१ ॥

जब तक बछड़े दूध के साथ ही घास नहीं खाने लगते थे तब तक वे लोग गौओं को नहीं दुहते थे। व्यापारी बेचने की वस्तुओं को धोखे की तोलों से नहीं बेचते थे ॥ २२ ॥

हे नरव्याघ्र! उस समय के लोग धर्मपरायण रहकर धर्म के सन्मार्ग को देखते हुए धर्मयुक्त ही कर्म करते थे ॥ २३ ॥

स्वकर्मनिरताश्चासन् सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥२४॥
काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ॥२५॥
एवं कृतयुगे सम्यग्वर्त्तमाने तदा नृप ।
अपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥२६॥
एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञान्तु मनुजेश्वर ॥२७॥
आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद् भ्रंशिनाः स्वर्गात्संबभूवुः क्षिताविह ॥२८॥
इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥२९॥

हे राजन्! सब मनुष्य अपने अपने कर्त्तव्य के योग्य जो काम होता था उसको किये जाते थे। इस प्रकार के बर्त्ताव से हे नरव्याघ्र! उस समय किसी प्रकार भी धर्म का नाश नहीं होता था ॥ २४ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन्! गौएँ और स्त्रियाँ उचित समय पर संतान उत्पन्न करती थीं और वृक्षों पर फूल तथा फल ठीक ऋतु में ही आते थे ॥ २५ ॥

हे राजन्! इस प्रकार उस समय कृतयुग भली प्रकार से चल रहा था और संपूर्ण पृथिवी बहुत से प्राणियों से खूब भर गई थी ॥ २६ ॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ! इस प्रकार मर्त्यलोक की दशा बड़े आनन्द में थी, उस समय हे राजन्! इस पृथिवी पर क्षत्रियों में राक्षस उत्पन्न होने लगे ॥ २७ ॥

उस अवसर में अदिति के पुत्रों ने दिति के पुत्रों को अनेकों बार युद्ध में हराया और उनको ऐश्वर्य से तथा स्वर्ग से गिरा दिया था, तब वे पृथिवी पर जन्म लेने लगे ॥ २८ ॥

हे राजन्! वे मनस्वी असुर भूलोक में देवताओं के से ऐश्वर्य की इच्छा करके पृथिवी पर अनेकों प्राणियों में उत्पन्न होने लगे ॥ २९ ॥

गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥३०॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकात्मनात्मानमियं धारयितुं धरा ॥३१॥
अथ जाता महीपालाः केचिद्बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इहाच्युताः ॥३२॥
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥३३॥
ब्राह्मणान् क्षत्रियान्वैश्यान् शूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ॥३४॥
त्रासयन्तोऽभिनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन्महीं शतसहस्रशः ॥३५॥

हे राजेन्द्र ! वे गौओं में, घोड़ों में, गधों में, ऊँटों में, भैंसों में, राक्षसों के समान मांसाहारी प्राणियों और मृगों में उत्पन्न होने लगे ॥ ३० ॥

हे भूपते ! पहले उत्पन्न हुए और आगे उत्पन्न होनेवाले उन असुरों से यह भूमि स्वयं अपने आपको धारण करने में असमर्थ हो गई ॥ ३१ ॥

उस समय स्वर्ग से भ्रष्ट होकर गिरे हुए कितने ही दिति और दनु के पुत्र बड़े मदमत्त और उच्छृङ्खल राजाओं के रूप में उत्पन्न हो गये थे ॥ ३२ ॥

शत्रुओं का नाश करनेवाले वे महावीर अनेकों रूपों से सागरपर्यन्त इस पृथिवी में भर गये ॥ ३३ ॥

वे अपने पराक्रम से ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, वैश्यों को, शूद्रों तथा अन्य प्राणियों को बहुत ही दुःख देते थे ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! सकल प्राणियों को भय देते और प्राणान्त करते हुए लाखों असुर पृथिवी पर चारों ओर घूमने लगे ॥ ३५ ॥

आश्रमस्थान्महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥३६॥
एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन् ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥३७॥
न ह्यमी भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम् ।
तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात् ॥३८॥
ततो मही महीपाल भारार्त्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥३९॥
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्त्तारमव्ययम् ॥४०॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥४१॥

मदयुक्त पराक्रम से मत्त तथा वीरता से उद्दण्ड हुए वे नीच असुर जहाँ तहाँ आश्रमों में रहनेवाले महर्षियों का भी तिरस्कार करने लगे ॥ ३६ ॥

हे राजन्! इस प्रकार वीरता और बल से उद्धत, महाउद्योग करनेवाले बड़े बड़े असुरों से पीड़ा पाती और घबड़ाती हुई यह पृथिवी भगवान् ब्रह्माजी की शरण में गई ॥ ३७ ॥

दानवों ने जिस पर कब्जा कर लिया था ऐसी इस पर्वतोंसहित पृथिवी को शेषनाग, कच्छप और दिग्गजों का समूह भी उठाने में असमर्थ हो गया ॥ ३८ ॥

तब दैत्यों के भार से पीड़ा पाती और आतुर होती हुई पृथिवी सकल प्राणियों के पितामह ब्रह्मदेव की शरण में गई ॥ ३९ ॥

महाभाग्यवान् देवता, द्विज और महर्षियों से घिरे हुए, लोककर्ता और अविनाशी ब्रह्माजी के पृथिवी ने दर्शन किये, फिर हर्षपूर्वक समागत, दिव्य कर्मों के अधिकारी गन्धर्व तथा अप्सरा जिनको प्रणाम कर रहे थे ऐसे ब्रह्माजी के पास जाकर पृथिवी देवी ने प्रणाम किया ॥ ४०-४१ ॥

अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
सन्निधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥४२॥
तत् प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयम्भुवः ।
पूर्वमेवाभवद्राजन् विदितं परमेष्ठिनः ॥४३॥
स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न संबुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ॥४४॥
तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शम्भुः प्रजापतिः ॥४५॥

ब्रह्मोवाच ।

यदर्थमसि संप्राप्ता मत्सकाशं वसुन्धरे ।
तदर्थं सन्नियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः ॥४६॥

वैशम्पायन उवाच ।

इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन् विसृज्य च ।
आदिदेश तदा सर्वान् विबुधान् भूतकृत् स्वयम् ॥४७॥

हे भरतवंशी राजन् ! सब लोकपालों के सामने शरण चाहनेवाली पृथिवी ने ब्रह्माजी से अपना दुःख निवेदन किया ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! कारणात्मा ब्रह्माजी भूमि के कार्य को पहले से ही जानते थे ॥ ४३ ॥

हे भरतवंशी राजन् ! जगत् को रचनेवाले स्वयम्भू ब्रह्माजी देव तथा दैत्यों सहित सब लोकों के मन की बातों को क्यों न जानें ? ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! पृथिवी के पति, प्रभु, सकल प्राणियों को रचनेवाले, कल्याण-कर्ता तथा प्रजापति ब्रह्माजी पृथिवी देवी से कहने लगे ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे पृथ्वी ! तू जिस कार्य के लिये मेरे पास आई है, उस काम के लिये मैं सकल देवताओं को नियुक्त करूँगा ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार कहकर प्राणियों को रचनेवाले ब्रह्माजी ने पृथिवी को जाने की आज्ञा दी और उस समय देवताओं को भी आज्ञा

अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक् पृथक् ।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत् ॥४८॥
तथैव च समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।
उवाच भगवान् सर्वानिदं वचनमर्थवत् ॥४९॥

ब्रह्मोवाच ।

स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च ।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः ।
तथ्यमर्थ्यञ्च पथ्यञ्च तस्य ते जगृहुस्तदा ॥५०॥
अथ ते सर्वशोऽशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः ।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः ॥५१॥
यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितिप्रभः ।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥५२॥

दी कि तुम सब भूमि का भार उतारने के लिये अलग अलग विभागों के अनुसार रूप धारण कर इस पृथ्वी पर ही अवतार लो ॥ ४७-४८ ॥

अनन्तर ब्रह्माजी ने गन्धर्वों और अप्सराओं के गणों को अपने पास बुलाकर उन सबों से भी इस प्रकार अर्थवाला वचन कहा—॥ ४९ ॥

तुम भी अपने अपने अंश के अनुसार क्रम से इस पृथ्वी के ऊपर मनुष्यों में इच्छानुसार जन्म धारण करो। इसके अनन्तर इन्द्र आदि सब देवताओं ने ब्रह्माजी के सत्य, यथार्थ और हितकारी वचन को सुनकर उसी समय स्वीकार कर लिया ॥ ५० ॥

फिर सब देवता अपने अंशों से पृथ्वी के ऊपर अवतार लेने का निश्चय कर शत्रुओं का नाश करनेवाले भगवान् नारायण के पास गए ॥ ५१ ॥

भगवान् हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए थे, उनके वस्त्र पीले थे, शरीरकान्ति श्यामवर्ण की थी, नाभि कमल के समान थी। दैत्यों का संहार करनेवाले भगवान् के विशाल नेत्र दयापूर्ण कटाक्षों से युक्त थे। इन प्रजापतियों के भी पति, देवताओं के नाथ, महाबलवान्, श्रीवत्स का चिह्न धारण

प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः ।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः ॥५३॥
तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम् ।
अंशेनावतरेस्येवं तथेत्याह च तं हरिः ॥५४॥

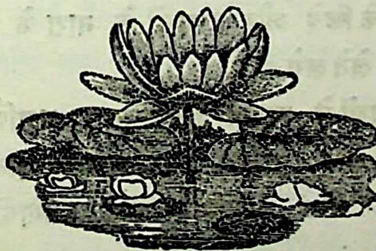
इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि
चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

समाप्तमंशावतरणपर्व ।

करनेवाले, सकल देवताओं से पूजित, वैकुण्ठपति नारायण के पास देवता आये ॥ ५२-५३ ॥

इन्द्र ने श्री पुरुषोत्तम से कहा—पृथ्वी का भार उतारने के लिये आप अंश रूप से पृथ्वी पर अवतार लीजिये। इस पर श्री हरि ने उत्तर दिया कि—अच्छा मैं ऐसा ही करूँगा ॥ ५४ ॥

चौसठवाँ अध्याय समाप्त ॥६४॥



पैंसठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम् ।
अवतर्त्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः ॥ १ ॥
आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः ।
निर्जगाम पुनस्तस्मात् क्षयान्नारायणस्य ह ॥ २ ॥
तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च ।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गादिवौकसः ॥ ३ ॥
ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च ।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥
दानवान् राक्षसांश्चैव गन्धर्वान् पन्नगांस्तथा ।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥
दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान् बलस्थान् बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—इन्द्र ने देवताओं के साथ अंश से भूतल पर अवतार धारण करने की नारायण से संमति लेकर सब देवताओं को पृथ्वी पर अवतार लेने की आज्ञा दी, फिर वह नारायण के स्थान से अपने लोक को चल दिया ॥ १-२ ॥

सब लोकों के हित के लिये और राक्षसों के नाश के लिये देवता क्रमशः स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतार लेने लगे ॥ ३ ॥

हे राजसिंह ! देवताओं ने अपनी इच्छानुसार ब्रह्मर्षियों के वंश में और राजर्षियों के वंश में जन्म लेना आरम्भ किया और वे दानव, राक्षस, गन्धर्व, सर्प तथा मनुष्य का मांस खानेवाले क्रूर प्राणियों का संहार करने लगे ॥ ४-५ ॥

हे भरतवंश के श्रेष्ठ राजन् ! दानव, राक्षस, गन्धर्व और सर्प देवताओं को छोटी अवस्था के होने पर भी अपार बली होने के कारण मार नहीं सके ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच।

देवदानवसंघानां गन्धर्वाप्सरसां तथा।
मानवानाञ्च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन संभवं कृत्स्नमादितः।
प्राणिनाञ्चैव सर्वेषां संभवं वक्तुमर्हसि ॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच।

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयंभुवे।
सुरादीनामहं सम्यक् लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९॥
ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिता षण्महर्षयः।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥१०॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥११॥
अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ॥१२॥

जनमेजय पूछते हैं—हे मुने! देवता, दानव, गन्धर्व, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष राक्षस और सकल प्राणियों की उत्पत्ति मैं आरम्भ से पूरी तरह सुनना चाहता हूँ, इस कारण आप वह सब कहिये ॥ ७-८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—स्वयंभू भगवान् को प्रणाम करके देवता आदि सब लोकों की उत्पत्ति तथा नाश के विषय की कथा भले प्रकार मैं आप से कहूँगा ॥ ९ ॥

यह तो सब जानते ही हैं कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ये छै प्रसिद्ध थे ॥ १० ॥

मरीचि के पुत्र कश्यप हुए और कश्यप से यह सब प्रजा उत्पन्न हुई है। दक्ष प्रजापति की महाभाग्यवती तेरह कन्याएँ हुई थीं ॥ ११ ॥

उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा,

कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसंपन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥१३॥
अदित्यां द्वादशादित्याः संभूता भुवनेश्वराः ।
ये राजन्नामतस्तांस्ते कीर्त्तयिष्यामि भारत ॥१४॥
धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥१५॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥१६॥
एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ॥१७॥
प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत्तस्माच्च शिबिबाष्कलौ ॥१८॥
प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ॥१९॥

विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू। हे मनुष्यों में श्रेष्ठ भरतवंशी राजन्! इन तेरह कन्याओं से पुत्र पौत्र आदि अनेकों पराक्रमी बालक उत्पन्न हुए ॥ १२-१३ ॥

अदिति से भुवनों के ईश्वर बारह आदित्य उत्पन्न हुए, हे राजन्! उनके नाम मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ १४ ॥

धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहलाते हैं। इन आदित्यों में सब से छोटे पुत्र विष्णु गुणों में सब से बढ़कर थे ॥ १५-१६ ॥

दिति का केवल हिरण्यकशिपु नामक एक ही पुत्र था, उस महात्मा के पाँच पुत्र हुए, जिनके नाम प्रह्लाद, संह्लाद, अनुह्लाद, शिबि और बाष्कल थे ॥ १७-१८ ॥

हे भारत! प्रह्लाद के पुत्र विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ १९ ॥

विरोचनस्य पुत्रोऽभूद् बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥२०॥
रुद्रस्यानुचरः श्रीमान्महाकालेति यं विदुः ।
चत्वारिंशद्दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ॥२१॥
तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः ।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ॥२२॥
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः ।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशङ्कुश्च वीर्यवान् ॥२३॥
तथा गगनमूर्धा च वेगवान् केतुमांश्च यः ।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाजकस्तथा ॥२४॥
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः ।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षो हराहरौ ॥२५॥
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा ।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।
एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्त्तिताः ॥२६॥

विरोचन का बलि नामक एक प्रतापी पुत्र हुआ और राजा बलि का बाण नामक प्रसिद्ध महाअसुर पुत्र हुआ था ॥ २० ॥

वह महादेवजी का एक भाग्यशाली सेवक था, उसको लोग महाकाल नाम से जानते थे । हे राजन् ! दनु के प्रसिद्ध चालीस (जीवित तेतीस) पुत्र थे ॥ २१ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—विप्रचित्ति, शम्बर, नमुचि, पुलोमा, असिलोमा, केशी, दुर्जय, अयःशिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी अश्वशंकु, गगनमूर्धा, केतुमान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली तुहुंड, इषुपाद, एकचक्र, विरूपाक्ष, हर, अहर, निचन्द्र, निकुम्भ, कुपट, कपट, शरभ, शलभ, सूर्य और चन्द्रमा । इनमें जेष्ठ पुत्र विप्रचित्ति बड़ा कीर्तिमान् राजा हुआ । दनु के वशं में जो प्रसिद्ध दानव थे वे मैंने आपसे कहे ॥ २१–२६ ॥

अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥२७॥
इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ॥२८॥
एकाक्षोऽमृतपो वीरः प्रलम्बनरकावपि ।
वातापी शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ॥२९॥
गविष्ठश्च वनायुश्च, दीर्घजिह्वश्च दानवः ।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥३०॥
सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम् ।
सुचन्द्रं चन्द्रहन्तारं तथा चन्द्रप्रमर्दनम् ॥३१॥
क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ॥३२॥
दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः ।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥३३॥

देवतापक्ष के चन्द्रमा और सूर्य दूसरे थे और दानवदल के ये सूर्य और चन्द्रमा अलग थे ॥ २७ ॥

ये वंश प्रसिद्ध सत्वशाली और महाबली थे। हे महाराज ! दनु के संतान इन दस दानवों का वंश खूब प्रसिद्ध हुआ—एकाक्ष, वीर अमृतपा, प्रलंब, नरक, वातापी, शत्रुतपन, महादैत्य शठ, गविष्ठ, वनायु और दीर्घजिह्व नामक दानव। हे भरतवंशी राजन् ! इनके पुत्र और पौत्र असंख्यों हैं, ऐसा शास्त्र में कहा है ॥ २८–३० ॥

सिंहिका से सूर्य तथा चन्द्रमा को पीड़ा देनेवाला राहु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और क्रूरा से सुचन्द्र, चन्द्रहन्ता और चन्द्रप्रमर्दन नामक पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार क्रूरा से बड़े क्रूर स्वभाव के अनन्तों पुत्र और पौत्र उत्पन्न हुए तथा क्रोधवश नामका एक गण भी उत्पन्न हुआ था जो क्रूर कर्म करनेवाला और शत्रुओं का नाशकर्ता था ॥ ३१–३२ ॥

दनायु से दानवयोनि में श्रेष्ठ चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम विक्षर, बल, वीर और वृत्र थे ॥ ३३ ॥

कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः ।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परन्तपाः ॥३४॥
विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च ।
क्रोधशत्रुस्तथैवान्ये कालकेया इति श्रुताः ॥३५॥
असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत् ।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥३६॥
त्वष्टाधरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ ।
तेजसा सूर्यसङ्काशा ब्रह्मलोकपरायणाः ॥३७॥
इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम् ।
असुराणां सुराणाञ्च पुराणे संश्रुतो मया ॥३८॥
एतेषां यदपत्यन्तु न शक्यं तदशेषतः ।
प्रसंख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥३९॥
तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्त्तिताः ॥४०॥

काला से काल के समान संहार करनेवाले, दानवों में महाप्रसिद्ध पराक्रमी और शत्रुओं को संताप देनेवाले विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता, क्रोधशत्रु तथा कालकेय नाम से प्रसिद्ध दूसरे पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ३४-३५ ॥

असुरों के उपाध्याय शुक्र (भृगु) ऋषि से उत्पन्न हुए, उन शुक्राचार्य के चार पुत्र थे, वे असुरों का यज्ञ करानेवाले थे ॥ ३६ ॥

उनमें दो पुत्र त्वष्टाधर और अत्रि थे तथा दो क्रूर कर्म करनेवाले थे। ये सब सूर्य के समान तेजस्वी और ब्रह्मलोकपरायण थे ॥ ३७ ॥

इस प्रकार बलवान् असुरों और देवताओं के कुल में होनेवालों की जैसी उत्पत्ति पुराणों में मैंने सुनी थी वह आपसे कह दी ॥ ३८ ॥

हे राजन्! इन सबके साधारण पुत्र और पौत्रों की पूर्ण रीति से गिनती करना सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

विनता से तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड़, अरुण, आरुणि और वारुणि नामक छै पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥

शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्त्तिताः ॥४१॥
भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥४२॥
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद्वशी ॥४३॥
तथा शालिशिरा राजन् पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्त्तिताः ॥४४॥
अथ प्रसूतान्यन्यानि कीर्त्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ॥४५॥
अनूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्ही च पूर्णायुश्च महायशाः ॥४६॥
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥४७॥
इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधेयाः परिकीर्त्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥४८॥

कद्रू से शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक, कूर्म और कुलिक नामक नाग उत्पन्न हुए, ऐसा कहते हैं ॥ ४१ ॥

भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, प्रसिद्ध प्रयुत, भीम, चित्ररथ, शालिशिरा, पर्जन्य, कलि और नारद; ये सब गन्धर्व जाति के सोलह पुत्र मुनि नाम की दक्षकन्या से उत्पन्न हुए ॥ ४२–४४ ॥

हे राजन् ! अब अनेक प्रकार की अन्य प्रजा की उत्पत्ति कहता हूँ—अनवद्या, मनु, वंशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अनूपा, सुभगा, भासी, अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता,

प्राधासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ॥४९॥
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥५०॥
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहाहूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥५१॥
अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्त्तितम् ॥५२॥
इति ते सर्वभूतानां सम्भवः कथितो मया ।
यथावत्संपरिख्यातो गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥५३॥
भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवाञ्च ब्राह्मणानाञ्च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥५४॥
आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ॥५५॥

सुरजा, सुप्रिया और अतिबाहु—इन इतनी देवाङ्गनाओं और अप्सराओं को तथा सिद्ध, पूर्ण, बर्हीं, महायशस्वी पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, विश्वावसु, भानु, सुचन्द्र, हाहा, हूहू, अतिबाहु और तुम्बुरु इतने देवता तथा गन्धर्वों को महाभागा प्राधा ने देवर्षि के समागम से उत्पन्न किया था ॥ ४५-५१ ॥

अमृत, ब्राह्मण, गौ, गन्धर्व और अप्सरायें कपिला से उत्पन्न हुईं, ऐसा पुराणों में कहा है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार सकल भूतों की उत्पत्ति मैंने आपसे कही और गन्धर्वों तथा अप्सराओं के वंश की संख्या भी यथार्थ रीति से गिनकर बता दी ॥ ५३ ॥

पवित्र कर्म करनेवाले सर्प, सुपर्ण, रुद्र, मरुत्, गौ तथा श्रीमान् ब्राह्मणों का जन्म भी विस्तार के साथ सुना दिया ॥ ५४ ॥

हे राजन्! मनुष्यों की आयु बढ़ानेवाला, पवित्र, प्रशंसायोग्य और सुनने

इमन्तु वंशं नियमेन यः पठेन्महात्मनां ब्राह्मण देवसन्निधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ॥५६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि
पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।

में आनन्द देनेवाला यह देव दानवों का वंश ईर्षारहित होकर सुनना तथा दूसरों को सुनाना चाहिये ॥ ५५ ॥

जो पुरुष इस भरतवंशी राजाओं के वंश को देवता तथा ब्राह्मणों के समीप नियम से बाँचेगा, उसको इस लोक में बहुत सी संतान मिलेगी, लक्ष्मी और यश की प्राप्ति होगी तथा परलोक में उत्तम गति मिलेगी ॥ ५६ ॥

पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥



छियासठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ॥ १ ॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तपः ॥ २ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥
त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्त्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—ब्रह्माजी के छः मानस पुत्र महर्षि हुए जिनको मैं पहले बता चुका हूँ, उनके परम तेजस्वी सातवें पुत्र स्थाणु के ग्यारह प्रसिद्ध पुत्र हुए ॥ १ ॥

वे पुत्र मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, परन्तप पिनाकी, दहन, ईश्वर, महाकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भग; ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं। ब्रह्माजी के मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु; ये छै वीर्यवान महर्षि पुत्र थे ॥ २–४ ॥

उनमें से अङ्गिरा के व्रतधारी बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त्त यह तीन पुत्र हुए, जो सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ ५ ॥

हे महाराज ! अत्रि के शान्तचित्त, सिद्ध और वेद को जाननेवाले बहुत से महर्षि पुत्र हुए थे, ऐसा सुना जाता है ॥ ६ ॥

राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किन्नरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
पुलहस्य सुता राजञ्छलभाः परिकीर्त्तिताः ।
सिंहा किंपुरुषा व्याघ्रा यक्षा ईहामृगास्तथा ॥ ८ ॥
क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ९ ॥
दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ॥१०॥
वामादजायताङ्गुष्ठाद्भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ॥११॥
ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥१२॥

हे पुरुषव्याघ्र ! बुद्धिमान् पुलस्त्य के राक्षस, वानर, किन्नर (आधे मनुष्य और आधे घोड़े की आकृतिवाले) और यक्ष आदि बहुत से पुत्र हुए ॥ ७ ॥

हे, राजन् ! पुलह के शलभ, सिंह, किम्पुरुष (आधे सिंह और आधे मनुष्य के आकारवाले) व्याघ्र, यक्ष तथा ईहामृग जाति के पुत्र हुए थे ॥ ८ ॥

क्रतु से उनके समान ही सूर्य के साथ चलनेवाले और तीनों लोकों में प्रसिद्ध सत्यव्रतधारी बालखिल्य नामक पुत्र हुए ॥ ९ ॥

हे राजन् ! ब्रह्माजी के दाहिने अँगूठे से शान्तात्मा, महातपस्वी और ऋषि दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए ॥ १० ॥

बायें अँगूठे से महात्मा दक्ष की भार्या उत्पन्न हुई, दक्ष ने उस स्त्री से पचास कन्यायें उत्पन्न कीं ॥ ११ ॥

वे सकल कन्यायें सुन्दर अङ्गोंवाली और कमल के समान नेत्रवाली थीं। दक्ष प्रजापति को कोई पुत्र नहीं हुआ, इस कारण उन्होंने अपनी कन्याओं के विवाह पुत्रिकाधर्म से किये, जिस से कि उन कन्याओं से उत्पन्न हुए पुत्र दक्ष प्रजापति के भी पुत्र गिने जायँ ॥ १२ ॥

ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे।
दिव्येन विधिना राजन् कश्यपाय त्रयोदश ॥१३॥
नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे।
कीर्त्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥१४॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा ॥१५॥
सप्तविंशति सोमस्य पत्न्यो लोकेषु विश्रुताः।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ॥१६॥
सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः।
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥१७॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥१८॥

दक्ष प्रजापति ने अपनी दस कन्याओं का विवाह विधिपूर्वक धर्म के साथ किया, सत्ताईस का विवाह चन्द्रमा के साथ किया ॥ १३ ॥

धर्म के साथ जिनका विवाह हुआ था, उन कन्याओं के नाम कहता हूँ, सुनो—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति; ये दस धर्म की स्त्रियाँ थीं। ब्रह्मा ने इनके रूप में धर्म के दस द्वार रचे हैं ॥ १५ ॥

चन्द्रमा की सत्ताईस स्त्रियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं, ये पवित्र व्रत करनेवालीं, नक्षत्रों के नामवालीं और समय का ज्ञान कराने में लगी हुई हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति की वसु नामवाली जो कन्या थी, उस से धर्म ने वसु नामक आठ पुत्र उत्पन्न किये, उनके नाम विस्तारपूर्वक कहता हूँ ॥ १७ ॥

वसुओं के नाम—धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ हैं ॥ १८ ॥

धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वसायाः श्वसनस्तथा ॥१९॥
रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥२०॥
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः ॥२१॥
सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥२२॥
अह्नः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥२३॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।
कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्त्तिकेय इति स्मृतः ॥२४॥
अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥२५॥

इन आठ में से धर और ब्रह्मविद्या के ज्ञाता ध्रुव धूम्रा से उत्पन्न हुए, मनस्विनी से चन्द्रमा (सोम), श्वसा से श्वसन, रता से अह, शाण्डिली से अग्निदेव, प्रभात से प्रत्यूष और प्रभास नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १९–२० ॥

धर के द्रविण और हुतद्रव्य नाम के दो पुत्र हुए, ध्रुव के लोकनाशकर्त्ता भगवान् काल पुत्र हुए ॥ २१ ॥

सोम का तेजस्वी वर्चा नामक पुत्र हुआ, जिससे तेज मिलता है। वर्चा की मनोहरा नामक स्त्री से शिशिर, प्राण और रमण पुत्र हुए ॥ २२ ॥

अह के ज्योति, शम, शान्त और मुनि नामक पुत्र हुए, अग्नि का सरकंडों के वन में वसनेवाला कुमार नामक पुत्र हुआ ॥ २३ ॥

कार्तिकेय के शाख, विशाख और नैगमेय नामक पुत्र हुए। कृत्तिकाएँ कुमार की माता बनी थीं, इससे कुमार को कार्तिकेय भी कहते हैं ॥ २४ ॥

अनिल की स्त्री शिवा थी, उससे मनोजव और अविज्ञातगति नामक दो पुत्र हुए ॥ २५ ॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि ,क्षमावन्तौ मनीषिणौ ।
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ॥२६॥
योगसक्ता जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥२७॥
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानाञ्च वर्द्धकिः ॥२८॥
भूषणानाञ्च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥२९॥
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥३०॥
स्तनन्तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान्धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥३१॥

प्रत्यूष के देवल नामक ऋषि पुत्र हुए, देवल ऋषि के महाबुद्धिमान् और क्षमाशील दो पुत्र हुए। बृहस्पति की बहिन स्त्रियों में श्रेष्ठ और ब्रह्मवादिनी थी, वह तपस्या और सब पृथ्वी पर यात्रा किया करती थी, वह आठवें वसु प्रभास के साथ ब्याही गई ॥ २६-२७ ॥

उससे देवलोक के विमान बनानेवाले, सकल प्रकार के गहने बनानेवाले, शिल्पकला के जन्मदाता, देवताओं के श्रेष्ठ कारीगर महात्मा विश्वकर्मा उत्पन्न हुए ॥ २८-२९ ॥

उन्हीं विश्वकर्मा की शिल्पकारी से मनुष्य अपनी आजीविका चलाते हैं और उन अव्यय महात्मा की नित्य पूजा करते हैं ॥ ३० ॥

सकल लोकों को सुख देनेवाले भगवान् धर्म ब्रह्मा के दाहिने स्तन को फोड़कर उसमें से नर के आकार में प्रकट हुए थे ॥ ३१ ॥

त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥३२॥
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३३॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥३४॥
त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा सान्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥३५॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३६॥
त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं संप्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥३७॥

धर्म के शम, काम और हर्ष तीन श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब प्राणियों को आनन्ददायक और अपने तेज से लोक के धारणकर्ता थे ॥ ३२ ॥

काम की रति, शम की प्राप्ति और हर्ष की नन्दा नामक भार्या थीं, जिनके ऊपर सकल लोकों का आधार है ॥ ३३ ॥

मरीचि के कश्यप पुत्र हुए और कश्यप के सुर तथा असुर पुत्र हुए । हे राजसिंह ! इस कारण से कश्यप जगत् में सब लोकों के उत्पन्नकर्त्ता पिता कहलाते हैं ॥ ३४ ॥

घोड़ी का स्वरूप धारण करनेवाली सूर्य की स्त्री त्वाष्ट्री ने आकाश में दो अश्विनीकुमारों को जन्म दिया था ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! अदिति के इन्द्र आदि बारह पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटे विष्णु सब लोकों के आश्रय हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रकार, तेतीस देवता (आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार) कहे जाते हैं अब इनके कुल तथा गणों के अनुसार वंश को कहूँगा ॥ ३७ ॥

रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद्विश्वेदेवांस्तथैव च ॥३८॥
वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥३९॥
अश्विनौ गुह्यकान् विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एते देवगणा राजन् कीर्त्तितास्तेऽनुपूर्वशः ॥४०॥
यान् कीर्त्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः ॥४१॥
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ।
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयम्भुवा नियुक्तः सन् भुवनं परिधावति ॥४२॥
योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥४३॥

रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण, वसुगण, भार्गवगण और विश्वेदेवगण—ये सब देवगण गिने जाते हैं। विनता के पुत्र गरुड, अरुण और भगवान् बृहस्पति की आदित्यों में गणना होती है ॥ ३८-३९ ॥

दो अश्विनीकुमार, गुह्यक, सब ओषधियों और पशु आदि की गिनती गुह्यकगण में होती है। इस प्रकार हे राजन्! मैंने आपको सकल देवताओं के गण क्रम से गिना दिये ॥ ४० ॥

मनुष्य इनकी गिनती करने से सब पापों से छूट जाता है। ब्रह्मा के हृदय को भेद कर भगवान् भृगु उत्पन्न हुए थे ॥ ४१ ॥

भृगु के विद्वान् पुत्र कवि हुए और उनके पुत्र शुक्र हुए। वे ग्रह होकर तीनों लोकों की रक्षा के लिये वृष्टि और अनावृष्टि के रूप से अभय और भय उत्पन्न करते हुए स्वयम्भू की प्रेरणा से लोकों में गति किया करते हैं ॥ ४२ ॥

महाबुद्धिमान्, विद्वान्, व्रतधारी, ब्रह्मचारी शुक्र ही योगविद्या के प्रभाव से स्वयं बृहस्पति तथा शुक्र दो रूपों में रहकर सुरों के और असुरों के गुरु हुए।

तस्मिन्नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय भार्गवे।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥४४॥
च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम्।
यः स्वरोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥४५॥
आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ॥४६॥
महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥४७॥
जमदग्नेस्तु चत्वार आसन् पुत्रा महात्मनः।
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥४८॥

ब्रह्माजी ने सुर और असुरों के योगक्षेम के लिये शुक्र को नियत कर दिया, तब भृगु ने दूसरे एक पुत्र को उत्पन्न किया ॥ ४३-४४ ॥

ये ही धर्मात्मा, यशस्वी और सूर्य के समान तेजस्वी च्यवन मुनि हैं, हे भारत! वे अपनी माता को छुड़ाने के लिये क्रोध करके गर्भ से बाहर निकल आये थे ॥ ४५ ॥

मनु की पुत्री आरुषी बुद्धिमान् च्यवन ऋषि को ब्याही थी। आरुषी की जंघा को फाड़कर महातेजस्वी, महाबलवान् और बालक होने पर भी सकल गुणों से युक्त महात्मा और्व उत्पन्न हुए। और्व के ऋचीक और ऋचीक के जमदग्नि हुए ॥ ४६-४७ ॥

महात्मा जमदग्नि के चार पुत्र हुए थे, उनमें सब से छोटे राम (परशुराम) थे, परन्तु चारों भाइयों में राम सबसे अधिक गुणवान् थे, वे सब शस्त्रों को चलाने में प्रवीण, सकल क्षत्रियों का नाश करनेवाले तथा इन्द्रियों को वश में रखनेवाले थे ॥ ४८ ॥

और्वस्यासीत् पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ॥४९॥
द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ॥५०॥
तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥५१॥
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद्देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥५२॥
प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र सञ्जातः सर्वभूतविनाशकः ॥५३॥
तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ॥५४॥

और्व के सौ पुत्र थे, उनमें सबसे बड़े जमदग्नि थे। उन सौ पुत्रों के सहस्रों पुत्र हुए, उनका पृथिवी पर बड़ा विस्तार हुआ ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा के और दो पुत्र जगत् में धाता और विधाता नाम से प्रसिद्ध हुए, पदार्थों में जड़ता और स्फुरणरूप उनका लक्षण जगत् में प्रसिद्ध है। वे दोनों मनु के (जीवात्मा के) साथ रहते हैं ॥ ५० ॥

कमलरूप हृदयभवन में निवास करनेवाली, कल्याणी, लक्ष्मी (परमात्मा को लक्ष्य करानेवाली), प्रकाशमयी ब्रह्मविद्यारूप देवी धाता विधाता के ही जैसी उनकी बहिन थी। उस विद्या देवी के मानसिक संकल्प से उत्पन्न, हृदयरूप आकाश में विचरनेवाले, घोड़ों के समान तीव्रगामी और वशवर्ती विचाररूप पुत्र हुए ॥ ५१ ॥

देवी नाम की वरुण की बड़ी स्त्री थी, उसको वरुण के द्वारा बल नामक एक पुत्र और देवलोक को आनन्द देनेवाली सुरा नाम की पुत्री हुई ॥ ५२ ॥

अन्न की इच्छा से प्रजायें जब एक दूसरे को खाने लगीं, तब उनमें से सकल प्राणियों का नाश करनेवाला अधर्म उत्पन्न हुआ ॥ ५३ ॥

उस अधर्म की निर्ऋति स्त्री थी, जिससे सदा पापपरायण उसके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, उनके नाम भय, महाभय और मृत्यु हैं। उनमें मृत्यु सब प्राणियों का

भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ॥५५॥
काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ॥५६॥
उलूकान् सुषुवे काकी श्येनी श्येनान् व्यजायत ।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥५७॥
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ॥५८॥
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी ।
कल्याणगुणसम्पन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥५९॥
नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसम्भवाः ।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ॥६०॥
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा चैव भामिनी ॥६१॥

संहार करनेवाला होने से उसके स्त्री या पुत्र कोई नहीं हुए। निर्ऋति से जो भयङ्कर राक्षस हुए वे नैर्ऋत नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ५२–५५ ॥

वरुण की छोटी भार्या ताम्रा से काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री तथा शुकी नाम की जगत्प्रसिद्ध पाँच कन्यायें हुईं। हे संजय ! काकी ने उलूकों को जन्म दिया, श्येनी ने बाज पक्षियों को उत्पन्न किया और भासी ने कुत्तों तथा गिद्ध पक्षियों को उत्पन्न किया। कल्याणी धृतराष्ट्री ने हंसों, कलहंसों और उत्तम चक्रवाकों को उत्पन्न किया। यशस्विनी, शुभलक्षणा, कल्याण गुणवाली शुकी ने शुकों (तोताओं) को जन्म दिया ॥ ५६–५९ ॥

मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि और सकल शुभ लक्षणोंवाली सुरसा यह क्रोध के वश में रहनेवाली नौ नारियाँ हैं जो क्रोध से उत्पन्न हुईं ॥ ६०–६१ ॥

अपत्यन्तु मृगाः सर्वे मृगया नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दाया सृमराश्च परन्तप ॥६२॥
ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमना सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥६३॥
हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
गोलाङ्गूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान् प्रचक्षते ॥६४॥
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान् व्याघ्रानशेषतः ।
द्वीपिनश्च महासत्त्वान् सर्वानेव न संशयः ॥६५॥
मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप ।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताजनयदाशुगम् ॥६६॥
तथा दुहितरौ राजन् सुरभिर्वै व्यजायत ।
रोहिणी चैव भद्रं ते गन्धर्वी तु यशस्विनी ॥६७॥
विमलामपि भद्रन्ते अनलामपि भारत ।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः ।
सप्त पिण्डफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत ॥६८॥

हे नरवरोत्तम ! मृगी से सब मृग उत्पन्न हुए और हे परंतप ! मृगमन्दा से सब प्रकार के रीछ और सृमर नाम के पशु उत्पन्न हुए हैं। भद्रमना ने देवताओं के महाबलवान् ऐरावत हाथी को उत्पन्न किया है ॥ ६२-६३ ॥

हरी ने चपल स्वभाव के घोड़ों, वानरों और गौ के समान पूँछवाले दूसरे पशुओं को उत्पन्न किया, ऐसा कहा जाता है ॥ ६४ ॥

शार्दूली ने अनेकों सिंह और बाघों को उत्पन्न किया है, महाबलवाले सब गैंडों को भी इसने ही उत्पन्न किया है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ६५ ॥

हे राजन् ! मातंगी ने सब प्रकार के हाथियों को उत्पन्न किया और श्वेता ने श्वेत नाम से प्रसिद्ध वेगवान् दिग्गजों को उत्पन्न किया है ॥ ६६ ॥

हे राजन् ! सुरभी ने महायशवाली, शुभ लक्षणों से युक्त रोहिणी और गन्धर्वी नाम की दो पुत्रियों को जन्म दिया ॥ ६७॥

हे राजन् ! इस सुरभी की विमला और अनला नाम की और भी दो पुत्रियाँ

अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः ।
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ॥६९॥
सम्पातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम् ।
सुरसाजनयन्नागान् कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ॥७०॥
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ ।
इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप ।
प्रभवः कीर्त्तितः सम्यङ् मया मतिमतां वर ॥७१॥
यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ् मुक्तो भवति पाप्मनः ।
सर्वज्ञताञ्च लभते गतिमग्र्याञ्च विन्दति ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यंशावतरणे
षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥



थीं, रोहिणी से गौएँ और वृषभ उत्पन्न हुए, गन्धर्वी से सब घोड़े उत्पन्न हुए और अनला ने खजूर आदि सात पिंडफल वृक्षों को उत्पन्न किया ॥ ६८ ॥

अनला की शुकी नामक बेटी भी थी। सुरसा ने कंक पक्षियों को उत्पन्न किया, अरुण की भार्या श्येना ने महाबली वीर्यवान् सम्पाती तथा जटायु को जन्म दिया। सुरसा ने नागों को उत्पन्न किया और कद्रू ने पन्नगों को उत्पन्न किया ॥ ६९–७० ॥

परमप्रसिद्ध गरुड़ और अरुण नाम के दो पुत्र विनता के गर्भ से उत्पन्न हुए। हे श्रेष्ठ राजन्! इस प्रकार बड़े बड़े सकल प्राणियों की उत्पत्ति मैंने आपसे भली प्रकार वर्णन करके कही ॥ ७१ ॥

इस वृत्तान्त को सुनने से पापी मनुष्य पापों से छूट जाता है, इतना ही नहीं, किन्तु सर्वज्ञता और अन्त में उत्तम गति को भी प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

छियासठवाँ अध्याय समाप्त ॥६६॥



सरसठवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच ।

देवानां दानवानाञ्च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सिंहव्याघ्रमृगाणाञ्च पन्नगानां पतत्रिणाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां चैव भूतानां संभवं भगवन्नहम् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम् ॥ २ ॥
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ।

वैशम्पायन उवाच ।

मानुषेषु मनुष्येन्द्र संभूता ये दिवौकसः ॥ ३ ॥
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ।
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद्दानवर्षभः ॥ ४ ॥
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ।
दितेः पुत्रस्तु यो राजन् हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ॥ ५ ॥

जनमेजय ने पूछा—हे भगवन् ! मनुष्ययोनि में उत्पन्न देव, दानव, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, मृग, सकल पक्षी तथा सकल प्राणियों की उत्पत्ति यथार्थ रीति से सुनने की मेरी इच्छा है, और महात्मा मनुष्यों के जन्म तथा कर्म भी यथार्थ रीति से मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन् ! मनुष्यों में जो देवता और दानव उत्पन्न हुए थे उन सबके जन्म और कर्म मैं कहता हूँ ॥ ३ ॥

विप्रचित्ति नामवाला जो प्रसिद्ध महादानव था वही जरासन्ध नाम से प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

हे राजन् ! दिति का पुत्र हिरण्यकशिपु मनुष्यलोक में शिशुपाल नाम का राजा होकर जन्मा था ॥ ५ ॥

संह्राद इति विख्यातः प्रह्रादस्यानुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे बाह्लीकपुङ्गवः ॥ ६ ॥
अनुह्रादस्तु तेजस्वी योऽभूत् ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः ॥ ७ ॥
यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्त्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद्भुवि पार्थिवः ॥ ८ ॥
बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
अयःशिरा अश्वशिरा अयःशङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्द्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ॥१०॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन् वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ।
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान् ॥११॥
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः ।
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥१२॥

प्रह्लाद का छोटा भाई संह्लाद बाह्लीक देश में शल्य नामवाला बड़ा राजा हुआ ॥ ६ ॥

प्रह्लाद का अनुह्लाद नामक तेजस्वी छोटा भाई था वह प्रसिद्ध राजा धृष्टकेतु जन्मा ॥ ७ ॥

हे राजन्! जो शिबि नाम के दैत्य का पुराणों में वर्णन है, वह पृथ्वी पर द्रुम नाम से प्रसिद्ध राजा होकर जन्मा ॥ ८ ॥

असुरों में बाष्कल नाम का जो महाअसुर था वह महापुरुष भगदत्त राजा होकर जन्मा था ॥ ९ ॥

हे राजन्! अयःशिरा, अश्वशिरा, अयःशङ्कु, गगनमूर्धा और वेगवान् नामवाले पाँच वीर्यवान् महाअसुर केकयदेश में महाराज होकर जन्मे थे। प्रतापवान् और प्रसिद्ध केतुमान् नामी दूसरा असुर उग्रकर्म करनेवाला अमितौजा नाम का राजा हुआ

उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ।
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः ॥१३॥
अशोको नाम राजाभून्महावीर्योऽपराजितः ।
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः ॥१४॥
दैतेयः सोऽभवद्राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ।
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥१५॥
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
अजकस्त्ववरो राजन्य आसीद् वृषपर्वणः ॥१६॥
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ।
अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान्यो महासुरः ॥१७॥
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
सूक्ष्मस्तु मतिमान् राजन् कीर्त्तिमान् यः प्रकीर्त्तितः ॥१८॥

तथा स्वर्भानु नाम का प्रसिद्ध महाअसुर उग्र कर्म करनेवाला उग्रसेन नामक राजा होकर जन्मा। जो अश्व नामक प्रसिद्ध महाअसुर था ॥ १०-१३ ॥

वह किसी से भी पराजय न पानेवाला महावीर अशोक राजा होकर जन्मा। हे राजन्! उससे छोटा जो अश्वपति नाम का असुर था ॥ १४ ॥

वह हार्दिक्य नाम का बड़ा भारी राजा उत्पन्न हुआ। वृषपर्वा नाम का जो प्रसिद्ध महाअसुर था ॥ १५ ॥

वह भूतल पर दीर्घप्रज्ञ नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। वृषपर्वा से छोटा अजक नाम का जो असुर था ॥ १६ ॥

हे राजन्! वह पृथ्वी पर शाल्व नाम से प्रसिद्ध होकर जन्मा था। महाबलवान् अश्वग्रीव नामक जो महाअसुर था ॥ १७ ॥

वह पृथ्वी पर रोचमान इस नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। बुद्धिमान् सूक्ष्म नाम का जो असुर था ॥ १८ ॥

बृहद्रथ इति खयातः क्षितावासीत्स पार्थिवः ।
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥१९॥
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः ।
इषुपो नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः ॥२०॥
नग्नजिन्नाम राजासीद्भुवि विख्यातविक्रमः ।
एकचक्र इति ख्यात आसीद्यस्तु महासुरः ॥२१॥
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ।
विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः ॥२२॥
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत्स पार्थिवः ।
हरस्त्वरिहरो वीर आसीद्यो दानवोत्तमः ॥२३॥
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ।
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयङ्करः ॥२४॥

वह पृथ्वी पर बृहद्रथ नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। तुहुंड नाम का जो प्रसिद्ध महाअसुर था ॥ १९ ॥

वह सेनाविन्दु नामक राजा हुआ। उन असुरों में जो बड़ा बलवान् इषुप नाम का असुर था ॥ २० ॥

वह पृथ्वी पर प्रसिद्ध पराक्रमवाला नग्नजित् राजा हुआ। एकचक्र इस नाम से प्रसिद्ध जो महाअसुर था ॥ २१ ॥

वह भूतल पर प्रतिविन्ध्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। दिति से उत्पन्न हुआ जो विरूपाक्ष दैत्य चित्रयुद्ध करने में चतुर था ॥ २२ ॥

वह भूतल पर चित्रधर्मा नाम से प्रसिद्ध भूपति हुआ। शत्रुओं का नाश करनेवाला हर नाम का जो श्रेष्ठ दानव था, वह भूमि पर श्रीमान् सुबाहु नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। शत्रुओं के पक्ष का क्षय करनेवाला जो महातेजस्वी अहर नाम का असुर था ॥ २३-२४ ॥

बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ।
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः ॥२५॥
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ।
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ॥२६॥
भूमौ भूमिपतिश्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः ।
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ॥२७॥
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः ।
कुपथस्तु महावीर्यः श्रीमान् राजन्महासुरः ॥२८॥
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ।
क्रथस्तु राजन् राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महासुरः ॥२९॥
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसन्निभः ।
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह ॥३०॥
प्रह्लादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः ।
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः ॥३१॥

वह पृथ्वी पर बाह्लीक नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। चन्द्रमा के समान मुखवाला निचन्द्र नामक जो श्रेष्ठ असुर था ॥ २५ ॥

वह श्रीमान् मुञ्जकेश नाम से प्रसिद्ध भूपति हुआ। युद्ध में न जीता जानेवाला महामति निकुम्भ नाम का जो असुर था ॥ २६ ॥

वह भूतल पर राजाओं में श्रेष्ठ देवाधिप कहलाया। दिति के पुत्रों में जो शरभ नामक महाअसुर था ॥ २७ ॥

वह मनुष्यों में श्रेष्ठ पौरव नामक राजर्षि हुआ। हे राजन्! कुपथ नामवाला महापराक्रमी असुर पृथ्वी पर सुपार्श्व नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। हे राजन्! क्रथ नामक महाअसुर भूलोक में राजर्षि हुआ ॥ २८-२९ ॥

वह सुवर्ण के समान कांतिवाला पार्वतेय नाम से प्रसिद्ध राजा था। उन असुरों में दूसरा शलभ नाम का जो असुर था ॥ ३० ॥

वह बाह्लीक राजा के वंश में प्रह्लाद नामक राजा हुआ। दिति के पुत्रों में नक्षत्रपति चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ चन्द्र असुर मृत्युलोक में जन्म लेकर कम्बोज देश

चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः ।
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः ॥३२॥
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ।
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥३३॥
पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम ।
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ॥३४॥
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
मयूर इति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥३५॥
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ।
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः ॥३६॥
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्त्तितः प्रवरोऽसुरः ॥३७॥
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ।
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ॥३८॥
जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः ।
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ॥३९॥

का स्वामी चन्द्रवर्मा नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ । दानवों में उत्तम जो अर्क नाम का बड़ा प्रसिद्ध असुर था ॥ ३१-३२ ॥

वह ऋषिक नामक श्रेष्ठ राजर्षि हुआ । हे महाराज ! जो मृतपा नामक महा-असुर था, उसको पश्चिम देश का अनूपक राजा जानो । जो गविष्ठ नामक महा-तेजस्वी और परम प्रसिद्ध असुर था ॥ ३३-३४ ॥

वह पृथ्वी पर प्रसिद्ध भूपति द्रुमसेन हुआ । मयूर नाम का जो प्रसिद्ध और श्रीमान् महाअसुर था वह विश्व राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उससे भी बलवान् उसका छोटा भाई सुपर्ण नामक प्रसिद्ध असुर था, वह पृथ्वी पर कालकीर्ति इस नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ । उनमें चन्द्रहन्ता नाम का जो महादैत्य मैंने आपसे कहा था, वह शुनक नाम का राजर्षि हुआ । चन्द्र का विनाश करनेवाला चन्द्रविनाशन

काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते ।
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकार्केन्दुमर्दनम् ।
स क्राथ इति विख्यातो बभूव मनुजाधिपः ॥४०॥
दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः ।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृतः ॥४१॥
द्वितीयो विक्षराद्यस्तु नराधिप महासुरः ।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः ॥४२॥
बली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः ।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं बभूव स नराधिपः ॥४३॥
वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन्महासुरः ।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥४४॥

नाम का जो महादैत्य था वह भूमि पर जानकि नामक प्रसिद्ध राजा हुआ। हे कुरुपुत्र ! दीर्घजिह्व नाम का जो महादानव मैंने कहा था ॥ ३५–३९ ॥

हे पृथ्वीपते ! वह भूमि पर काशिराज नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ। सूर्य और चन्द्रमा को पीड़ा देनेवाला जो सिंहिकापुत्र राहु था, वह क्राथ नाम का परम प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ४० ॥

दनायु के चार पुत्रों में जो प्रधान वीर और तेजस्वी दैत्य विक्षर था वह वसुमित्र नाम का राजा हुआ ॥ ४१ ॥

हे नरेन्द्र ! दूसरा विक्षराद्य नाम का जो महाअसुर था वह पाण्डय देश का प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ४२ ॥

असुरों में उत्तम जो बलि नाम का वीर महादैत्य था, वह पौंड्रमात्स्यक नाम का राजा हुआ ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! वृत्र नाम का जो महाअसुर था वह मणि नाम का राजर्षि हुआ ॥ ४४ ॥

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवावरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ॥४५॥
क्रोधवर्द्धन इत्येव यस्त्वन्यः परिकीर्त्तितः।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ॥४६॥
कालेयानान्तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥४७॥
मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत्स पार्थिवः ।
अष्टानाम्प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥४८॥
द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान् हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ॥४९॥
तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥५०॥

क्रोधहन्ता नाम का जो उसका छोटा भाई असुर था वह दण्ड राजा के नाम से भूतल पर विख्यात हुआ ॥ ४५ ॥

क्रोधवर्द्धन नाम का जो दूसरा असुर था, वह दण्डधार नाम का महाराज हुआ ॥ ४६ ॥

कालेयों के जो आठ पुत्र असुरों के राजा थे वे सिंह के समान पराक्रमी और प्रतापी राजा हुए ॥ ४७ ॥

हे राजशार्दूल ! उन में जयत्सेन मगधदेश में राजा हुआ, वह महाअसुर आठों कालेय दैत्यों में श्रेष्ठ था ॥ ४८ ॥

उनमें दूसरा जो उच्चैःश्रवा के समान पराक्रमी था, वह अपराजित नाम का राजा हुआ ॥ ४९ ॥

महातेजस्वी, महामायिक और महाअसुर जो तीसरा पुत्र था वह भयानक पराक्रमवाला निषाद देश का स्वामी हुआ ॥ ५० ॥

तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्त्तितः।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५१॥
पञ्चमस्त्वभवत्तेषां प्रवरो यो महासुरः।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परन्तपः ॥५२॥
षष्ठस्तु मतिमान्यो वै तेषामासीन्महासुरः।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५३॥
समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाभवद् गणात्।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ॥५४॥
बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप।
बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥५५॥
कुक्षिस्तु राजन् विख्यातो दानवानां महाबलः।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसन्निभः ॥५६॥
क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान् राजन्महासुरः।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ॥५७॥

उनमें चौथा असुर भूतल पर श्रेणिमान् नामक प्रसिद्ध राजर्षि हुआ। उनमें पाँचवाँ प्रवर नामक जो महाअसुर था, वह महौजा नामी शत्रुओं को तपानेवाला प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ५१–५२ ॥

उनमें छठा जो मतिमान् नामक महाअसुर था, वह अभीरु नामक महाराजर्षि होकर भूमि पर जन्मा ॥ ५३ ॥

उनमें जो सातवाँ असुर था वह धर्म और अर्थ के तत्त्व को जाननेवाला, समुद्रपर्यन्त भूमण्डल पर प्रसिद्ध समुद्रसेन नामक राजा हुआ। हे राजन्! कालेयों का आठवाँ पुत्र जो असुर था वह सकल प्राणियों के हित में प्रेम करनेवाला बृहत् नामक धर्मात्मा राजा हुआ ॥ ५४–५५ ॥

हे राजन्! दानवों में बलवान् एक कुक्षि असुर था, वह सुमेरु पर्वत की चमक के समान प्रकाशवाला पार्वतीय नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ५६ ॥

महावीर्यवान् और श्रीमान् क्रथन महाअसुरराज सूर्याक्ष नामक विख्यात राजा होकर भूतल पर जन्मा ॥ ५७ ॥

असुराणान्तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः ।
दरदो नाम बाह्लीको वरः सर्वमहीभृताम् ॥५८॥
गणः क्रोधवशो नाम यस्ते राजन् प्रकीर्त्तितः ।
ततः सञ्जज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ॥५९॥
मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ॥६०॥
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान्नीलश्च भूमिपः ।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥६१॥
दन्तवक्त्रश्च नामासीद् दुर्जयश्चैव दानवः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥६२॥
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥६३॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्त्तिस्तथैव च ।
श्रुतायुरुद्वहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥६४॥
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥६५॥

असुरों में जो सूर्य महाअसुर था, वह भूतल पर बाह्लीक वंश में दरद नाम का महाराज हुआ ॥ ५८ ॥

हे राजन्! जो क्रोधवश नाम का गण आपसे कहा था उसमें से इस भूमि पर ये शूरवीर राजा होकर जन्मे—॥ ५९ ॥

मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीकट, सुवीर, सुबाहु, महावीर, बाह्लीक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान् नीलराजा, चीरवासा, दन्तवक्त्र नामक, दुर्जय दानव-राज, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान, गोमुख, अनेकों कारूषक राजा, क्षेमधूर्त्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम उग्रतीर्थ, कलिङ्ग का राजा कुहर और परमबुद्धिमान् ईश्वर—इतने राजा क्रोधवश

गणात् क्रोधवशादेव राजपूगोऽभवत् क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागो महाकीर्त्तिर्महाबलः ॥६६॥
कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महाबलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो बली ॥६७॥
यस्त्वासीद्देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥६८॥
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद् द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥६९॥
धन्विनां नृपशार्दूल यः सर्वास्त्रविदुत्तमः ।
महाकीर्त्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वरः ॥७०॥
धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥७१॥
महादेवान्तकाभ्याञ्च कामात् क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परन्तपः ॥७२॥

नाम के दानवगणों से भूतल पर उत्पन्न हुए थे। दैत्यों में महाबलवान्, महाभाग्यवान् और महाकीर्त्तिवाला जो कालनेमि एक विख्यात असुर था, वह उग्रसेन का विख्यात पुत्र बलवान् कंस हुआ ॥ ५९–६७ ॥

गन्धर्वपति नामक जो मुख्य असुर था, वह भूतल पर इन्द्र के समान प्रकाशमान देवक राजा हुआ ॥ ६८ ॥

हे भारत ! बड़ी कीर्तिवाले देवर्षि बृहस्पति के अंश से भरद्वाज के यहाँ अयोनिज द्रोण उत्पन्न हुए ॥ ६९ ॥

हे राजसिंह ! वे सब धनुर्धारियों और अस्त्रवेत्ताओं में उत्तम थे, बड़ी कीर्त्तिवाले तथा महातेजस्वी थे ॥ ७० ॥

वेदवेत्ता पुरुष द्रोण को वेद और धनुर्वेद में प्रवीण मानते थे तथा अद्भुत काम करनेवाला, श्रेष्ठ और कुल की वृद्धि करनेवाला भी जानते थे ॥ ७१ ॥

हे भरतवंशी राजन् ! महादेव, यम, काम और क्रोध के इकट्ठे हुए अंश

अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षक्षयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिप ॥७३॥
जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शान्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद्वासवस्य च ॥७४॥
तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयङ्करः ।
मतिमान् वेदविद्वाग्मी शत्रुपक्षक्षयङ्करः ॥७५॥
जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥७६॥
यस्तु राजन्कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत्क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद्विद्धि संभूतमतिपौरुषम् ॥७७॥
शकुनिर्नाम यस्त्वासीद्राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन्संभूतमरिमर्दनम् ॥७८॥

से महावीर, शत्रुओं के पक्ष को भयंकर और कमल के समान नेत्रोंवाला वीर अश्वत्थामा उनका पुत्र होकर पृथिवी पर उत्पन्न हुआ ॥ ७२-७३ ॥

वसिष्ठ के शाप और इन्द्र की आज्ञा से आठ वसु गंगा देवी के गर्भ द्वारा शांतनु से उत्पन्न हुए ॥ ७४ ॥

उनमें सबसे छोटे भीष्म थे जो कुरुओं को अभय देनेवाले, बुद्धिमान्, वेद-वेत्ता, बोलने में चतुर और शत्रुपक्ष का क्षय करनेवाले थे ॥ ७५ ॥

सब प्रकार के अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ और महातेजस्वी भीष्म जमदग्नि के पुत्र महात्मा परशुराम के साथ लड़े थे ॥ ७६ ॥

हे राजन् ! परम पराक्रमी रुद्र के गणों में से एक गण ने परमपुरुषार्थी ब्रह्मर्षि कृप के रूप में भूतल पर अवतार लिया था ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! शकुनि नाम का महारथी राजा जूआ खेलनेवाला, द्वापर युग के अंश से उत्पन्न हुआ था, ऐसा जानो ॥ ७८ ॥

सात्यकिः सत्यसंधश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात्स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥७९॥
द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाभवद्गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥८०॥
ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजन् जनाधिपम् ।
तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥८१॥
मरुतां तु गणाद्विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥८२॥
अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥८३॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ॥८४॥
तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ॥८५॥

वृष्णिकुल का भार उठानेवाला और देवताओं के शत्रुओं का मर्दन करनेवाला सत्यवादी सात्यकि मरुत् नाम के देवगण से उत्पन्न हुआ था ॥ ७९ ॥

हे राजन्! मनुष्यलोक में उत्तम और सकल शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद, क्षत्रियों में उत्तम कर्मवाला राजा कृतवर्मा तथा शत्रुओं का नाश करनेवाला राजा विराट् वायु के गण में से उत्पन्न हुए थे ॥ ८०–८२ ॥

अरिष्टा का हंस नामक जो प्रसिद्ध पुत्र था वह कुरुवंश को बढ़ानेवाले गन्धर्वपति के रूप में महाबाहु और महातेजस्वी धृतराष्ट्र नाम से वेदव्यास द्वारा उत्पन्न हुआ था। वह माता के दोष और ऋषि के शाप के कारण अन्धा ही उत्पन्न हुआ था ॥ ८३–८४ ॥

उसका छोटा भाई महाउदार, परम बलशाली, बड़ा पराक्रमी, पवित्र मनवाला और सत्यधर्म पर प्रीति रखनेवाला प्रसिद्ध राजा पाण्डु हुआ ॥ ८५ ॥

अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥८६॥
कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥८७॥
जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ॥८८॥
उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत् ।
पौलस्त्या भ्रातरश्चास्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ॥८९॥
शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुकीर्त्तिताः ॥९०॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्त्तराष्ट्रः शताधिकः ॥९१॥

अत्रि से बुद्धिमानों में उत्तम तथा पुत्रवालों में श्रेष्ठ महाभाग्यवान् विदुर उत्पन्न हुए थे॥ ८६ ॥

कलि के अंश से कुरुकुल का अपयश करनेवाला दुर्बुद्धि दुर्योधन भूतल पर जन्मा था ॥ ८७ ॥

हे राजन्! दुर्योधन सकल जगत् से द्वेष रखनेवाला और कलियुगरूप था, हे राजन्! उसने सब पृथ्वी का नाश कराया और भूतमात्र का अन्तकारक बड़ा भारी वैर आपस में सुलगा दिया था। पौलस्त्य वंश के राक्षस इस लोक में दुर्योधन के भाई रूप से उत्पन्न हुए ॥ ८८-८९ ॥

क्रूर कर्म करनेवाला दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह तथा अन्य दूसरे उसके १०० भाई होकर जन्मे थे ॥ ९० ॥

हे राजन्! वे सब पुलस्त्यवंश के राक्षसों में से जन्मे थे और सब दुर्योधन की सहायता करनेवाले थे। इन सौ से अलग भी वैश्य स्त्री से धृतराष्ट्र का एक पुत्र हुआ, जिसका नाम युयुत्सु था ॥ ९१ ॥

जनमेजय उवाच ।

ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्त्तय ॥६२॥

वैशम्पायन उवाच ।

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथा परः ॥६३॥
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ।
विन्दानुविन्दौ दुर्द्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ॥६४॥
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुश्चित्राङ्गदश्च ह ॥६५॥
दुर्मदो दुष्प्रहर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथानन्दोपनन्दकौ ॥६६॥
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ॥६७॥

जनमेजय ने पूछा—हे प्रभो ! धृतराष्ट्र के इन सब पुत्रों में बड़े तथा छोटे पुत्रों के नाम क्रम से मुझे सुनाइये ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन् ! १ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुःशासन, ४ दुःसह, ५ दुःशल, ६ दुर्मुख, ७ विविंशति, ८ विकर्ण, ९ जलसन्ध, १० सुलोचन, ११ विन्द, १२ अनुविन्द, १३ दुर्दर्प, १४ सुबाहु, १५ दुष्प्रधर्षण, १६ दुर्मर्षण, १७ दुर्मुख, १८ दुष्कर्ण, १९ कर्ण, २० चित्र, २१ उपचित्र, २२ चित्राक्ष, २३ चारु, २४ चित्राङ्गद, २५ दुर्मद, २६ दुष्प्रहर्ष, २७ विवित्सु, २८ विकट, २९ सम, ३० ऊर्णनाभ, ३१ पद्मनाभ, ३२ नन्द, ३३ उपनन्दक, ३४ सेनापति, ३५ सुषेण, ३६ कुण्डोदर, ३७ महोदर, ३८ चित्रबाहु, ३९ चित्रवर्मा, ४० सुवर्मा, ४१ दुर्विरोचन, ४२ अयोबाहु, ४३ महाबाहु, ४४ चित्रचाप, ४५ सुकुंडल, ४६ भीमवेग, ४७ भीमबल, ४८ बलाकी, ४९ भीम, ५० विक्रम, ५१ उग्रायुध, ५२ भीमशर, ५३ कनकायु, ५४ दृढ़ायुध, ५५ दृढवर्मा, ५६ दृढक्षत्र, ५७ सोमकीर्त्ति, ५८ अनूदर, ५९ जरासन्ध,

अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसुकुण्डलौ ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमौ ॥९८॥
उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥९९॥
जरासन्धोः दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्त्तिस्तथैव च ॥१००॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधनः ॥१०१॥
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ॥१०२॥
कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ॥१०३॥
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः ।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ॥१०४॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरः कनकाङ्गदः ।
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ॥१०५॥
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्त्तराष्ट्रः शताधिकः ।
एतदेकशतं राजन्कन्या चैका प्रकीर्तिता ॥१०६॥

६० दृढसन्ध, ६१ सत्यसन्ध, ६२ सहस्रवाक्, ६३ उग्रश्रवा, ६४ उग्रसेन, ६५ क्षेममूर्त्ति, ६६ अपराजित, ६७ पंडितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधन, ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चस, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अनुयायी, ७८ कवची, ७९ निषंगी, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीर, ८६ वीरबाहु, ८७ अलोलुप, ८८ अभय, ८९ रौद्रकर्मा, ९० दृढरथ, ९१ अनाधृष्य, ९२ कुण्डभेदी, ९३ विरावी, ९४ दीर्घलोचन, ९५ दीर्घबाहु, ९६ महाबाहु, ९७ व्यूढोरु, ९८ कनकांगद, ९९ कुण्डज और १०० चित्रक—ये सौ पुत्र और दुःशला नाम की पुत्री तथा वैश्यापुत्र युयुत्सु; ये सब मिलकर एक सौ दो धृतराष्ट्र के बालक उत्पन्न हुए थे॥ ९३–१०६ ॥

नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्येष्ठतां विदुः ।
सर्वे स्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥१०७॥
सर्वे वेदविदश्चैव राजन् शास्त्रे च पारगाः ।
सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ॥१०८॥
सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
दुःशलां समये राजन् सिन्धुराजाय कौरवः ॥१०९॥
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा ।
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम् ॥११०॥
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम् ।
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ॥१११॥
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ ।
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥११२॥
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्त्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत् ।
यस्यावतरणे राजन् सुरान् सोमोऽब्रवीदिदम् ॥११३॥

इन सब का छोटा बड़ापन इनके नामों के अनुसार क्रम से विद्वान् जानते हैं। ये सब अतिरथी, शूर वीर और सब प्रकार के युद्धों में प्रवीण थे ॥ १०७ ॥

हे राजन्! ये सब वेद को जाननेवाले, शास्त्रों के पारगामी, संग्रामविद्या में प्रवीण और विद्या तथा कुल से शोभायमान थे ॥ १०८ ॥

इन सब का योग्य स्त्रियों के साथ विवाह हुआ था, हे महीपते! धृतराष्ट्र ने शकुनि की सम्मति से दुःशला का विवाह सिन्धुदेश के महाबलवान् राजा जयद्रथ के साथ किया था। हे राजन्! आपको मालूम हो कि राजा युधिष्ठिर धर्म के अंश से उत्पन्न हुए थे ॥ १०९-११० ॥

वायु के अंश से भीमसेन, देवराज इन्द्र के अंश से अर्जुन और सकल प्राणियों के मन को हरनेवाले, अनुपम सुन्दरतायुक्त नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के अंश से उत्पन्न हुए थे। जो चन्द्रमा का प्रतापी पुत्र वर्चा नाम से प्रसिद्ध था वह परम कीर्त्तिमान् अर्जुनपुत्र अभिमन्यु के नाम से जन्मा।

नाहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम् ।
समयः क्रियतामेष न शक्यमनिवर्त्तितुम् ॥११४॥
सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः ।
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ॥११५॥
ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा ।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ॥११६॥
तस्यायं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः ।
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ॥११७॥
अस्य षोडशवर्षस्य स संग्रामो भविष्यति ।
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिषूदनम् ॥११८॥
नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विना कृतः ।
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः ॥११९॥

हे राजन्! जिसके अवतार के समय चन्द्रमा ने देवताओं से इस प्रकार कहा था—॥ १११–११३ ॥

अपने प्राणों से भी प्यारे इस पुत्र को मैं नहीं दे सकता, तथा इस काम में भी मैं पीछे नहीं हट सकता, इसलिये ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये ॥ ११४ ॥

पृथ्वी पर असुरों के वधरूपी देवताओं के काम को मैं अपना काम समझता हूँ, उसके लिये यह वर्चा जायगा, परन्तु अधिक समय तक यह वहाँ नहीं रहेगा ॥ ११५ ॥

इन्द्र के अंश से जो नर अवतार होगा, नारायण उसके मित्र होंगे और वह पाण्डु का प्रतापी पुत्र अर्जुन इस नाम से प्रसिद्ध होगा। उसका यह वर्चा महारथी पुत्र होकर भूमि पर अवतार लेगा। हे श्रेष्ठ देवताओ! वह सोलह वर्ष पर्यन्त वहाँ रहेगा ॥ ११६–११७ ॥

यह बालक वहाँ जब सोलह वर्ष का होगा तब बहुत से प्राणियों का अन्त करनेवाला एक युद्ध होगा, जिसमें तुम्हारे अंशों से जन्मे हुए राजा संहाररूपी काम करेंगे ॥ ११८ ॥

हे देवताओ! एक दिन नर-नारायण के बिना भी वह युद्ध होगा, उस युद्ध के चक्रव्यूह में तुम्हारे अंशों से उत्पन्न राजा संग्राम करेंगे ॥ ११९ ॥

विमुखाञ्छात्रवान् सर्वान् कारयिष्यति मे सुतः।
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति ॥१२०॥
महारथानां वीराणां कदनञ्च करिष्यति।
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ॥१२१॥
दिनार्द्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति।
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ॥१२२॥
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति।
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ॥१२३॥
प्रनष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति।
एतत् सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः ॥१२४॥
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन्।
एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः, पितुः ॥१२५॥
अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम्।
शिखण्डिनमथो राजन् स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ॥१२६॥

उसमें मेरा पुत्र सकल शत्रुओं को रण से भगाकर उस अभेद्य चक्रव्यूह के भीतर घुसकर विचरेगा ॥ १२० ॥

व्यूह के भीतर वह युद्ध में महारथी वीरों को भस्म कर डालेगा, और आधे ही दिन में शत्रुओं के चौथाई भाग को यमराज के घर भेज देगा। फिर बहुत से शूरवीर योधाओं को साथ लेकर यह महाबाहु सायङ्काल के समय मुझ से आकर मिलेगा। यह वंश को चलानेवाले एक वीर पुत्र को भी उत्पन्न कर आयेगा ॥ १२१-१२३ ॥

वह पुत्र नष्ट हुए भरतवंश को फिर से चलायेगा। इस प्रकार चन्द्रमा के वचन को सुनकर सब देवता एक साथ बोल उठे कि—'तथास्तु'। तदनन्तर सब देवताओं ने चन्द्रमा का पूजन किया। हे राजन्! इस प्रकार आपके पितामह का जन्म पृथ्वी पर हुआ था, वह सुना दिया ॥ १२४-१२५ ॥

हे राजन्! महारथी धृष्टद्युम्न को अग्नि के अंश से उत्पन्न हुआ जानो और शिखण्डी को पूर्वजन्म में राक्षसी स्त्रीरूप समझो ॥ १२६ ॥

द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ ।
विश्वान्देवगणान् विद्धि सञ्जातान् भरतर्षभ ॥१२७॥
प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथा परः ।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ॥१२८॥
शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥१२९॥
पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्रयमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ॥१३०॥
अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया ।
अददत्कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ॥१३१॥
सा नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरद् घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥१३२॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ ! प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्त्ति, शतानीक और श्रुतसेन इन पाँचों पुत्रों के रूप में विश्वेदेवों के गण द्रौपदी को उत्पन्न हुए थे, ऐसा जानो ॥ १२७–१२८ ॥

यादवों में श्रेष्ठ शूर वसुदेवजी के पिता थे, उनकी कन्या का नाम पृथा था और वह भूमण्डल पर अनुपम रूपवती थी ॥ १२९ ॥

शूर ने अग्नि के सामने खड़े होकर प्रतिज्ञा की थी कि मेरा पहिला जो बालक होगा उसे मैं अपनी भूआ के पुत्र, सन्तानहीन कुन्तिभोज को दे दूँगा ॥ १३० ॥

उसके यहाँ पहले कन्या हुई, इस कारण शूर ने भाई के ऊपर अनुग्रह करके राजा कुन्तिभोज को वह पृथानामक पुत्री अर्पण कर दी ॥ १३१ ॥

वह कन्या जब बड़ी हुई तब उसे ब्राह्मण और अतिथियों की सेवा करने के काम पर पिता ने नियुक्त कर दिया। वह एक बार दृढ़ व्रतवाले भयङ्कर ऋषि की सेवा कर रही थी, जिनका नाम दुर्वासा था, वे ऋषि धर्म की बातों में अतिगूढ़ निश्चयवाले माने जाते थे। उन जितेन्द्रिय और उग्र क्रोधवाले दुर्वासा ऋषि को

निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमुग्रं शंसितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥१३३॥
तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि।
उवाच चैनां भगवान् प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ॥१३४॥
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रसादात्त्वं देवि पुत्रान् जनिष्यसि ॥१३५॥
एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥१३६॥
प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा।
अजीजनत्सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१३७॥
सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियान्वितम्।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥१३८॥
निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात्तदा।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ॥१३९॥

कुन्ती ने सेवा के प्रयत्नों से प्रसन्न कर लिया। तब ऋषि ने शास्त्रोक्त विधि से अभिचार की रीति के साथ उसको एक मन्त्र का उपदेश किया और कहा कि हे सुभगे! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ॥ १३२-१३४॥

हे देवि! तू इस मन्त्र से जिस देवता का आवाहन करेगी उसी देवता के प्रसाद से तू पुत्रों को उत्पन्न कर सकेगी॥ १३५॥

ऋषि के कहे हुए इन वचनों से कुतूहल को प्राप्त हुई, यशस्विनी उस सती कन्या ने एकान्त में जाकर सूर्यदेव का आवाहन किया॥ ३६॥

प्रकाशकर्ता भगवान् सूर्यनारायण ने तत्काल वहाँ आकर कुन्ती को गर्भ प्रदान किया। तब कुन्ती ने सकल शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, सूर्य के समान तेजस्वी, कवच कुण्डल धारण किये हुए, देवताओं के समान शोभावाले तथा सकल सुन्दर अंगों से शोभायमान एक बालक को उत्पन्न किया॥ १३७-१३८॥

परन्तु बन्धुकुल के भय के कारण कुन्ती ने यशस्वी कुमार को छिपाकर नदी के जल में डाल दिया॥ १३९॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्त्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ॥१४०॥
चक्रतुर्नामधेयञ्च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ॥४१॥
स वर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि जजाप जपतां वरः ॥१४२॥
यस्मिन् काले जपन्नास्ते धीमान् सत्यपराक्रमः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत्तस्मिन् काले महात्मनः ॥१४३॥
तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः ।
ययाचे कुण्डले वीरं कवचञ्च सहाङ्गजम् ॥१४४॥
उत्कृत्य कर्णो ह्यददत्कवचं कुण्डले तथा ।
शक्तिं शक्रो ददौ तस्मै विस्मितश्चेदमब्रवीत् ॥१४५॥

जल में बहाये हुए उस बालक को राधा के यशस्वी पति अधिरथ ने पाकर उसको अपना पुत्र बनाया ॥ १४० ॥

राधा तथा उसके पति ने बालक का नाम वसुषेण रखा, और वह नाम सब दिशाओं में प्रसिद्ध हो गया ॥ १४१ ॥

वह बालक धीरे धीरे बड़ा होने लगा और सकल अस्त्रविद्याओं में प्रवीण हो गया तथा सब वेदों और अंगों का पाठ करने लगा ॥ १४२ ॥

वह सत्यपराक्रमी जब वेद का पाठ करता था, उस समय किसी भी वस्तु को ब्राह्मणों को न देने योग्य नहीं समझता था ॥ १४३ ॥

एक समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके कर्ण के पास आया और अपने पुत्र (अर्जुन) के लिये उसके शरीर में चिपटे हुए कवच और कुण्डल माँगे ॥ १४४ ॥

उस समय कर्ण ने शरीर के ऊपर से उधेड़कर कवच और कुण्डल इन्द्र को दे दिये। इसके बदले में इन्द्र ने उसको एक शक्ति (बरछी) दी और इस से अचम्भे में होकर इस प्रकार कहा—॥ १४५ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मिन् क्षेप्स्यसि दुर्धर्ष स एको न भविष्यति ॥१४६॥
पुरा नाम च तस्यासीद्वसुषेण इति क्षितौ ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥१४७॥
आमुक्तकवचो वीरो यस्तु जज्ञे महायशाः ।
स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ॥१४८॥
स तु सूतकुले वीरो ववृधे राजसत्तम ।
कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१४९॥
दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् ।
दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्नंशमनुत्तमम् ॥१५०॥
यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥१५१॥
शेषस्यांशश्च नागस्य बलदेवो महाबलः ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन्महौजसम् ॥१५२॥

हे दुराधर्ष ! देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प अथवा राक्षस; चाहे जिसके ऊपर तू इस शक्ति का प्रहार करेगा तो वह एक ही नष्ट हो जायगा ॥ १४६ ॥

पहले संसार में उसका नाम वसुषेण प्रसिद्ध था, परन्तु शरीर से कवच उधेड़कर इन्द्र को देने के कारण वह वैकर्त्तन तथा कर्ण नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१४७॥

इस प्रकार शरीर पर कवच पहने हुए उत्पन्न होनेवाला कर्ण नामक वह वीर बालक कुन्ती का पहला पुत्र था ॥ १४८ ॥

हे महाराज ! वह वीर पुरुष सूतकुल में बड़ा होने लगा। वह कर्ण शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ, दुर्योधन का मन्त्री और मित्र तथा शत्रुओं का नाश करनेवाला था, हे राजन् ! उसको सूर्य के अंश से उत्पन्न हुआ जानो ॥ १४९-१५० ॥

जो नारायण, देवों के देव, सनातन भगवान् थे, वे मनुष्यों में प्रतापी वासुदेव नाम से प्रकट हुए थे ॥ १५१ ॥

शेषनाग के अंश से महाबलवान् बलभद्र जन्मे थे, तथा हे राजन् ! प्रभाव-शाली सनत्कुमार प्रद्युम्न हुए थे, ऐसा जानो ॥ १५२ ॥

एवमन्ये मनुष्येन्द्रा बहवोंऽशा दिवौकसाम् ।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ॥१५३॥
गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन् प्रकीर्त्तितः ।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद्वासवस्य ह ॥१५४॥
तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप ।
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहाः ॥१५५॥
श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले ।
भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ॥१५६॥
द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता ।
द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ॥१५७॥
नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी ।
पद्मायताक्षी सुश्रोणी स्वसिताञ्चितमूर्द्धजा ॥१५८॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णा वैदूर्यमणिसन्निभा ।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ॥१५९॥

इसी प्रकार और भी बहुत से राजा देवताओं के अंशों से वसुदेव के कुल में उत्पन्न हुए थे ॥ १५३ ॥

हे राजन् ! मैंने आपसे पहले जो अप्सराओं का गण कहा था, उनके अंशों से इन्द्र की आज्ञानुसार सोलह सहस्र स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं ॥ १५४-१५५ ॥

लक्ष्मी के अंश से भगवान् के सुख के लिये पृथ्वी पर राजा भीष्मक के कुल में सती साध्वी रुक्मिणी उत्पन्न हुई ॥ १५६ ॥

इन्द्राणी के अंश से राजा द्रुपद के कुल में निर्दोष और रूपवती द्रौपदी यज्ञ की वेदी से उत्पन्न हुई थी ॥ १५७ ॥

द्रौपदी न बहुत ठिंगनी थी न बहुत लम्बी, उसके शरीर से कमल के समान सुगन्ध आती थी, उसके नेत्र कमल जैसे विशाल थे, उसकी कटि सुन्दर और झूलते हुए माथे के केश बहुत ही श्यामवर्ण के थे ॥ १५८ ॥

वह सकल शुभलक्षणों से भरी, वैदूर्यमणि के समान कान्तिवाली और पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवों के मन को अकेली ही वश में करनेवाली थी ॥ १५९ ॥

सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानाम्मातरौ तु ते।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ॥१६०॥
इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा।
अंशावतरणं राजन् राक्षसानाञ्च कीर्त्तितम् ॥१६१॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः।
महात्मानो यदूनाञ्च ये जाता विपुले कुले ॥१६२॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम्।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ॥१६३॥
अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम्।
प्रभवाप्ययवित्प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥१६४॥
इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यंशावतरणे
सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥



सिद्धि और धृति देवियाँ क्रम से कुन्ती और माद्री के रूप में जन्मी थीं, वे पांडवों की माता हुईं। राजा सुबल के यहाँ मति गान्धारीरूप से उत्पन्न हुई थी॥ १६०॥

हे राजन्! इस प्रकार देवता, असुर, गन्धर्व, अप्सरा अपने अपने अंशों से पृथ्वी पर जन्मे थे, उन की कथा मैंने आप से कह दी॥ १६१॥

पृथ्वी पर संग्राम करने में बड़े मदोन्मत्त जो महान् राजा यदु के कुल में और दूसरे कुल में उत्पन्न हुए थे, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जिनके अंशों से उत्पन्न हुए थे, वे सब मैंने कह दिये। धन, यश, पुत्र, आयु और विजय को देनेवाली यह अंशावतरण की कथा ईर्षा न करके मनुष्य को सुननी चाहिये॥ १६२-१६३॥

देवता, गन्धर्व और राक्षसों के अंशरूप से अवतार की कथा सुनकर "उत्पत्ति और नाश इसी प्रकार हुआ करते हैं" ऐसा जाननेवाला विद्वान् पुरुष आपत्ति के समय में दुःखी नहीं होता है॥ १६४॥

सरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥

अड़सठवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच ।

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन्देवदानवरक्षसाम् ।
अंशावतरणं सम्यग्गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥
इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसन्निधौ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच ।

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥
चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः ।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिञ्जयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः ।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥

जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन ! देवता, दानव, राक्षस, गन्धर्व और अप्सराओं का यह अंशावतार मैंने आपसे भली प्रकार सुना ॥ १ ॥

किंतु हे विप्र ! आपसे ब्रह्मर्षियों के सामने कौरवों का वंश फिर मैं आरम्भ से सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन् जनमेजय ! पौरव कुल को बढ़ानेवाला एक दुष्यन्त नाम का पराक्रमी राजा था, वह समुद्र पर्यन्त सकल पृथ्वी पर राज्य करता था ॥ ३ ॥

पृथ्वी के चारों भागों पर राज्य करनेवाले और युद्धविजयी उस राजा का समुद्र पर्यन्त सब देशों पर शासन था ॥ ४ ॥

शत्रुओं का नाश करनेवाले उस राजा की प्रभुता चारों वर्णों से भरपूर, समुद्र से घिरे हुए तथा म्लेच्छ पर्यन्त सब देशों पर थी ॥ ५ ॥

न वर्णसङ्करकरो न कृष्याकरकृज्जनः ।
न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन् राजनि शासति ॥ ६ ॥
धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे ।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नासीद्व्याधिभयं चापि तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥
स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः ।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥
कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च ।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥१०॥
स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतन्तेषु विद्यते ।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ॥११॥

उस के राज्य में कोई वर्णसंकर नहीं था, हल जोते विना ही पृथ्वी से अन्न उपजने के कारण कोई खेती करनेवाला नहीं था, सब ओर रत्न बिखरे रहने से खान खोदकर रत्न निकालनेवाला भी कोई नहीं था और पाप करनेवाला भी कोई नहीं था ॥ ६ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! उस राजा के राज्यकाल में मनुष्य धर्म पर प्रेम रखने के कारण धर्म और अर्थ को सिद्ध करते थे ॥ ७ ॥

हे तात ! उसके स्वामित्व में चोर का भय नहीं था, भूख का भय भी नहीं था और व्याधि का भी भय नहीं था ॥ ८ ॥

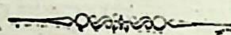
सब प्रजा वर्षा आदि के निमित्त यज्ञादि की इच्छा से रहित होकर धर्मपरायण और उस राजा का आश्रय करके सब ओर से निर्भय रहती थी ॥ ९ ॥

मेघ समय पर बरसते थे, अन्न रसवाले होते थे, पृथ्वी रत्नों की सम्पदा और पशुओं से भरी रहती थी ॥ १० ॥

ब्राह्मण कर्मानुष्ठान में लगे रहते थे, उनमें मिथ्याभाषण नहीं था। वह राजा भी वज्र के समान दृढ़ शरीरवाला, अवस्था में तरुण और अद्भुत महावीर था ॥ ११ ॥

उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत्सवनकाननम् ।
चतुष्पथे गदायुद्धं सर्वप्रहरणेषु च ॥१२॥
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः ।
बले विष्णुसमश्चासीत्तेजसा भास्करोपमः ॥१३॥
अक्षोभ्यस्त्वर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः ।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ॥१४॥
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत् ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यंशावतरणे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥



वह वन उपवनों सहित मन्दराचल को भी भुजाओं से ऊँचा उठाकर ले जा सकता था। चार (प्रक्षेप, विक्षेप, परिक्षेप और अभिक्षेप) प्रकार के गदायुद्ध में, सब प्रकार के शस्त्रों को चलाने में और हाथी घोड़े के ऊपर बैठने में वह बहुत चतुर था। वह बल में विष्णु के समान और तेज में सूर्य के समान था ॥ १२-१३ ॥

गम्भीरता में समुद्र के समान और सहनशीलता में पृथ्वी के समान वह राजा पुरुषों में संमान्य माना जाता था, उसकी राजधानी तथा देश प्रसन्न रहता था। वह अत्यन्त धार्मिक भावों से अपनी प्रेम करनेवाली प्रजा का पालन करता था ॥ १४-१५ ॥

अड़सठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥



उनहत्तरवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच।

सम्भवं भरतस्याहं चरितञ्च महामतेः।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १॥
दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम्।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर॥ २॥

वैशम्पायन उवाच।

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः॥ ३॥
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना॥ ४॥
खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः॥ ५॥
सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः॥ ६॥

जनमेजय ने पूछा—परमप्रवीण भरत के जन्म और चरित्र को तथा शकुन्तला के वृत्तान्त को मैं यथार्थ रीति से सुनना चाहता हूँ॥ १॥

हे सर्वज्ञ भगवन्! वीरवर दुष्यन्त को शकुन्तला जिस प्रकार मिली, वह सब वृत्तान्त मैं विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ॥ २॥

वैशम्पायन कहते हैं—एक समय महाबाहु दुष्यन्त अपने बड़े दल बल के सहित एक गहन वन में जा पहुँचा, उसके साथ सैंकड़ों हाथी घोड़े थे और सुन्दर चतुरंगिणी सेना भी थी॥ ३-४॥

तलवार, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास, तोमर आदि शस्त्र लिये हुए अनेकों वीर योधा उसकी सेना में थे॥ ५॥

जिस समय राजा चला, उस समय योधाओं के सिंहनाद तथा ताल ठोकने के शब्दों से, शंख, ढोल, रथ, हाथी घोड़ों और अस्त्र शस्त्रों के नाद से चारों ओर

नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा ।
हेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ॥ ७ ॥
आसीत्किलकिलाशब्दस्तस्मिन् गच्छति पार्थिवे ।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ॥ ८ ॥
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम् ।
शक्रोपममित्रघ्नं परवारणवारणम् ।
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे ॥ ९ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ।
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ॥१०॥
इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ।
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्द्धनि ॥११॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ।
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ॥१२॥
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ।
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे ॥१३॥

किलकिला शब्द हो रहा था । स्त्रियाँ खिड़कियों में खड़ी होकर अपना यश बढ़ानेवाले, शत्रुओं के नाशकर्ता, शत्रुओं के हाथियों को ढकेलने में मतंगज, इन्द्र की सी राज्य-लक्ष्मी से शोभायमान और दर्शनीय उस राजा को देखकर वज्रधारी इन्द्र मानने लगीं। वे स्त्रियाँ कहने लगीं कि यही वह पुरुषसिंह राजा है, जो युद्ध में वसु की तरह पराक्रम दिखलाता है, इसके बाहुबल ने शत्रुओं को जरा भी शेष नहीं छोड़ा है। इस प्रकार बातें करती हुईं नगर की स्त्रियाँ प्रसन्न होकर राजा की प्रशंसा करती हुईं उसके सिर पर फूलों की वर्षा करने लगीं। ब्राह्मण लोग चारों ओर से उसकी प्रशस्ति सुना रहे थे। शिकार के ऊपर बड़ा प्रेम होने के कारण राजा दुष्यन्त नगर से बाहर निकलकर वन की ओर चल दिया ॥ ९–१२ ॥ -

इन्द्र की तरह मदमत्त हाथी के ऊपर बैठकर बाहर निकले हुए राजा के

ददृशुर्वर्द्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ।
सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा ॥१४॥
न्यवर्त्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ॥१५॥
सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः ।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ॥१६॥
स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ॥१७॥
विषमं पर्वतस्रस्तैरश्मभिश्च समावृतम् ।
निर्जलं निर्मनुष्यञ्च बहुयोजनमायतम् ॥१८॥
मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ।
तद्वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ॥१९॥
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान्मृगान् ।
बाणगोचरसंप्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ॥२०॥

पीछे देश और नगर के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हो लिये और जय जयकार तथा उमंग के साथ वे लोग राजा का दर्शन करते हुए बहुत दूर तक चले गए। राजा ने उनको बड़े ही आग्रह से लौटाकर नगर में जाने की आज्ञा दी, तब वे नगर की ओर लौटे ॥ १३-१५ ॥

गरुड़ के समान वेगवान् रथ पर चढ़कर जाते हुए राजा दुष्यन्त ने रथ के शब्द से पृथ्वी और स्वर्ग को गुञ्जरित कर दिया ॥ १६ ॥

मार्ग में जाते हुए उस बुद्धिमान् राजा ने नन्दनवन के समान एक वन देखा, वह वन बेल, अर्क, खैर, कैथ और धव के वृक्षों से भरा हुआ था ॥ १७ ॥

उस वन में पर्वतों से गिरी हुई शिलाओं के कारण भूमि ऊँची नीची हो रही थी; जिसमें न जल था न कहीं मनुष्य का पता था। ऐसा वह वन अनेकों योजन लंबा था ॥ १८ ॥

वह मृग, सिंह तथा दूसरे घोर वनचरों से भरा हुआ था। परमवीर राजा दुष्यन्त अपने सेवक, सेना तथा वाहनों सहित उस वन में जा पहुँचा और बहुत

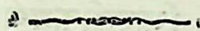
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ।
दूरस्थान् सायकैः कांश्चिदभिनत्स नराधिपः ॥२१॥
अभ्याशमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत ।
कांश्चिदेणान् समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥२२॥
गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः ।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ॥२३॥
चचार स विनिघ्नन्वै वन्यांस्तत्र मृगद्विजान् ।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ॥२४॥
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ॥२५॥
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ।
शुष्काश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्षिताः ॥२६॥
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ॥२७॥

से पशुओं का संहार करके वन को मानो मथ डाला। उसने बाण के लक्ष्य बने हुए बहुत से बाघों को भी मार डाला, तथा जो समीप में आ गये थे उनको तलवारों से मार डाला॥ १९–२२॥

इस प्रकार गदा को घुमाने में चतुर वह परमपराक्रमी राजा वन में घूमने लगा और कितने ही मृग तथा पक्षियों को तोमरों से, तलवारों से, गदा के प्रहारों से तथा मूसल की मार से उसने मार गिराया। इस प्रकार अद्भुत पराक्रमी राजा दुष्यन्त तथा युद्धप्रेमी योधाओं ने उस वन को छान डाला, इस कारण सिंह उसको छोड़कर चले गए, मृगों की टोलियाँ अपने यूथपति के मारे जाने से व्याकुल हो दिशाओं में भागकर छिपने लगीं। परिश्रम से थके हुए जंगली प्राणी जल की आशा से नदी की ओर को दौड़े, परन्तु उसे सूखी देखकर उदास हो गए। श्रम के कारण खिन्नमन जन्तु भूख तथा प्यास से घबड़ाते हुए मूर्छित से होकर भूमि पर गिरने लगे॥ २३–२७॥

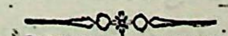
केचित्तत्र नरा व्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ॥२८॥
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत्तदा ।
तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ॥२९॥
सङ्कोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः ।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ॥३०॥
वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून् ।
तद्वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥



भूखे बाघ पशुओं तथा मनुष्यों को खाने लगे। कितने ही वनचर उन मरते हुए पशुओं को अग्नि में भूनकर या उनके मांस को विधिपूर्वक काट छाँट-कर खाने के काम में लाने लगे। दूसरी ओर शस्त्रों से बिंधे हुए, मदमत्त और बलवान् कितने ही हाथी अपनी सूँड के अग्रभाग को मोड़कर भय के कारण वेग से भागने लगे। कितने ही बड़े बड़े जंगली हाथी भय से मल मूत्र करते और शरीर के घावों से बहुत सा रुधिर टपकाते हुए इधर उधर भागकर अनेकों मनुष्यों को कुचलने लगे। इस प्रकार राजा ने सेनारूपी मेघ तथा बाण-वर्षारूप जल की धाराओं से वन को ढक दिया, उस समय मरे हुए सिंह तथा मृगों से भरा हुआ वह वन अलौकिक प्रकार से शोभायमान हो रहा था ॥ २८–३१ ॥

उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥



सत्तरवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद्विवेश ह ॥ १ ॥
एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥ २ ॥
तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥
विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥
प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—भारी सेना तथा वाहनों के साथ फिरता हुआ वह राजा सहस्रों मृगों को मारकर शिकार करने को दूसरे वन में पहुँचा ॥ १ ॥

वह बलवान् राजा भूख प्यास और परिश्रम से दुःख पाता हुआ अकेला ही उस वन के अन्त में आकर एक बड़े मैदान में आ पहुँचा ॥ २ ॥

राजा ने उसको लाँघकर मन को आनन्ददायक, दृष्टि को परम प्यारे, श्रेष्ठ आश्रमों से भरपूर तथा शीतल पवनवाले एक दूसरे बड़े भारी वन में प्रवेश किया। वह वन खिले हुए पुष्पों और वृक्षों से भरा हुआ था, हरी भरी भूमियों से सुखदायक था ॥ ३-४ ॥

वह पक्षियों के मधुर स्वरों, कोकिलों की कूजनों और झींगुरों की झंकार से गूञ्ज रहा था ॥ ५ ॥

वह वृक्षों की शाखाओं से सुखकारी, शीतल छायावाला तथा भौंरों की झंकार से गुञ्जरित और अनुपम शोभा से भरपूर था ॥ ६ ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत् ॥ ७ ॥
विहगैर्नादितं पुष्पैरलङ्कृतमतीव च ।
सर्वर्त्तुकुसुमैर्वृत्तैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥
मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशालिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रान्तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ।
दिवस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥१०॥
विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ॥११॥
रुवन्ति रावान्मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान् ॥१२॥
लतागृहपरिक्षिप्तान्मनसः प्रीतिवर्द्धनान् ।
सम्पश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥१३॥

उस वन का कोई भी वृक्ष फूलों और फलों से सूना नहीं था, किसी भी वृक्ष पर काँटे नहीं थे तथा जिस पर भौंरे न बैठे हों ऐसा भी कोई वृक्ष नहीं था ॥ ७ ॥

पक्षियों से गुञ्जरित, फूलों से भूषित तथा सब ऋतुओं में फलनेवाले तथा शीतल छायावाले वृक्षों से वह वन भरपूर था ॥ ८ ॥

महाधनुर्धर वह राजा ऐसे उत्तम वन में आ पहुँचा, उस समय पवन से हिलती हुईं शाखाओं से वृक्ष वारंवार उसके ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे थे। आकाश को छूनेवाले, पक्षियों के शब्दों से गुञ्जरित, नाना प्रकार के फूलरूपी वस्त्रों को धारण करनेवाले सब वृक्ष उस वन में शोभा पा रहे थे। वहाँ फूलों तथा फलों के बोझ से झुकी हुईं डालों पर बैठे तथा मधु पाने की इच्छावाले भौंरे मधुर गुञ्जार कर रहे थे। फूलों के समूहों से शोभायमान, लतामण्डपों से भरपूर और मन में आनन्द उत्पन्न करनेवाले ऐसे रमणीय वनप्रदेशों को देखकर महातेजस्वी राजा बड़ा ही प्रसन्न हुआ ॥ ९-१३ ॥

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः ।
अशोभत वनं तत्तु महेन्द्रध्वजसन्निभैः ॥१४॥
सिद्धचारणसङ्घैश्च गन्धर्वाप्सरसाङ्गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम् ॥१५॥
सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन्वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ॥१६॥
एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसन्निभम् ॥१७॥
प्रेक्षमाणो वनं तत्तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥१८॥
नानावृक्षसमाकीर्णं संप्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ॥१९॥

फूलों से भरी हुई शाखाओं के एक दूसरी के साथ मिल जाने के कारण वह वन महेन्द्र की ऊँची ध्वजा के समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

वह वन सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराओं के गण, वानर और किन्नरों से अत्यन्त सेवित था ॥ १५ ॥

वहाँ सुखदायक शीतल सुगन्धिवाला और फूलों की परागवाला पवन मानो क्रीड़ा करने की इच्छा से वृक्षों के पास आ रहा हो इस प्रकार चल रहा था ॥ १६ ॥

वह वन नदियों तथा अन्य जलाशयों से रमणीय मालूम होता था, ऊँचे वृक्षों के कारण ऊँची ध्वजाओं से भरपूर मालूम होता था। ऐसे गुणोंवाले वन को राजा ने देखा। वहाँ हर्षविभोर पक्षियों से परिपूर्ण उस वन को देखते हुए महाराज दुष्यन्त ने एक मनोहर और बहुत बड़ा आश्रम देखा ॥ १७-१८ ॥

वह आश्रम अनेकों प्रकार के वृक्षों से भरपूर था, उसमें अग्निहोत्र की अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही थीं। उस अनुपम आश्रम का राजा ने बड़ा ही संमान किया और उसमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥

यतिभिर्बालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ॥२०॥
महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।
मालिनीमभितो राजन्नदीं पुण्यां सुखोदकाम् ॥२१॥
नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोधनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान् सौम्यान् पश्यन् प्रीतिमवाप सः ॥२२॥
तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ॥२३॥
नदीश्चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्ठिताम् ॥२४॥
सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥२५॥

वह आश्रम यतियों, बालखिल्य ऋषियों, अन्य मुनिगणों, यज्ञशालाओं, फूलों के समूहों तथा जलाशयों से परम रमणीय मालूम होता था। पवित्र और स्वादु जल से भरी हुई, अनेकों पक्षियों की टोलियों से भरपूर और तपोवन के कारण मनोहर मालिनी नदी उस आश्रम के मध्य से बह रही थी। ऐसे आश्रम और नदी के किनारे पर परस्पर वैरभाव को त्याग कर शान्ति से रहनेवाले सिंह, मृग आदि प्राणियों को देखकर वह राजा प्रसन्न हो गया ॥ २०-२२ ॥

अनुपम शोभावाला राजा दुष्यन्त ऊपर वर्णन किये हुए, चारों ओर से मनोहर और देवलोक के समान रमणीय आश्रम के सन्मुख पहुँच गया ॥ २३ ॥

इस समय राजा ने आश्रम की बगल में बहनेवाली पवित्रसलिला मालिनी नदी का दर्शन किया। यह नदी वहाँ सब प्राणियों की माता के समान वास करती थी ॥ २४ ॥

उसके किनारे चक्रवाक उड़ रहे थे, प्रवाहों में फूलों सहित झाग बहा करते थे, किनारों पर किन्नरों के झुण्ड निवास करते थे तथा वानर और रीछ भी किनारों पर रहते थे ॥ २५ ॥

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥२६॥
तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥२७॥
नदीमाश्रमसम्बद्धां दृष्ट्वाश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥२८॥
अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गङ्गयेवोपशोभितम् ॥२९॥
मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद्वनम् ।
तत्स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ॥३०॥
अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यश्च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥३१॥

वह नदी ब्राह्मणों के स्वाध्याय से गूँज रही थी, सुन्दर तट से शोभायमान मालूम होती थी, मदमत्त हाथी, सिंह तथा बड़े बड़े सर्प उसके किनारे पर वसते थे ॥ २६ ॥

ऐसी मालिनी के किनारे भगवान् काश्यप कण्वमुनि का उत्तम आश्रम था, उस रमणीय आश्रम में बहुत से महर्षि रहते थे ॥ २७ ॥

राजा ने नदी तथा उसके सुन्दर तट पर बसे हुए पवित्र आश्रम को देखकर उस समय उसमें प्रवेश करने की इच्छा की ॥ २८ ॥

क्योंकि टापू और रमणीय तटवाली मालिनी नदी से शोभायमान वह आश्रम गङ्गानदी से शोभित नरनारायण के आश्रम की तरह दिखाई देता था ॥ २९ ॥

मदमत्त मोरों की कूक से गूँजते हुए और चैत्ररथ के समान सुन्दर उस महावन में पहुँचकर राजा दुष्यन्त परमगुणी, बड़ी भारी कीर्तिवाले, अनुपम तपस्वी कण्व महर्षि का दर्शन करने को उद्यत हुआ ॥ ३०-३१ ॥

ध्वजिनीमश्वसम्बाधां पदातिगजसङ्कुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥३२॥
मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥३३॥
तद्वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम् ॥३४॥
सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।
दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम् ॥३५॥
ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥३६॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥३७॥

घोड़े, पैदल तथा हाथियों से भरपूर सेना को आश्रम के द्वार पर खड़ी करके राजा ने सैनिकों से कहा कि कश्यपकुल में उत्पन्न, रजोगुणरहित, तपोधन कण्व मुनि से मैं मिलने जाता हूँ, जब तक मैं लौटकर आऊँ तब तक तुम सब यहाँ ही खड़े रहना ॥ ३२–३३ ॥

ऐसा कहकर नन्दनवन के समान उस वन में जाकर दुष्यन्त भूख प्यास को भूल गया और बड़े ही आनन्द में मग्न हो गया ॥ ३४ ॥

इस समय राजा सकल राजचिह्नों को दूर करके केवल अपने एक पुरोहित और मन्त्री के साथ मुनि के दर्शन की इच्छा से उस श्रेष्ठ आश्रम में गया ॥ ३५ ॥

वहाँ उसने भौंरों की झङ्कार से गुञ्जरित और अनेकों प्रकार के पक्षियों से भरपूर आश्रम को ब्रह्मलोक के समान देखा ॥ ३६ ॥

वहाँ होती हुई इष्टि, पशु, सोम आदि यज्ञों में ऋग्वेदीय ऋचाओं का पद और क्रमपूर्वक पाठ करनेवाले ऋषियों को राजा ने देखा ॥ ३७ ॥

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम् ।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥३८॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः ।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥३९॥
अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः ।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥४०॥
शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान् ब्रह्मलोक इवापरः ॥४१॥
यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसंपन्नैर्वेदपारगैः ॥४२॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥४३॥

कल्पसूत्रादि सहित पूर्ण यज्ञविद्या के ज्ञाता यजुर्वेदियों और मधुर गान करनेवाले सामवेदियों से वह आश्रम व्याप्त था ॥ ३८ ॥

यम नियमों के पालनकर्त्ता सामवेदी ऋषि भारुण्ड साम का गान कर रहे थे तथा व्रतधारी अथर्ववेदी ऋषि अथर्वशीर्ष के पारायण कर रहे थे, उनसे वह आश्रम शोभायमान हो रहा था ॥ ३९ ॥

अथर्ववेद के ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा पूगयज्ञिय साम का गान करनेवाले सामवेदी अपनी संहिताओं को पद तथा क्रम के साथ पढ़ रहे थे ॥ ४० ॥

दूसरे ब्राह्मण भी स्थान, करण तथा प्रयत्न आदि के संस्कार के साथ स्पष्ट उच्चारण से वेद को पढ़ रहे थे। उन की गर्जना से गुञ्जरित वह आश्रम मानो दूसरे ब्रह्मलोक के समान शोभा पा रहा था ॥ ४१ ॥

यज्ञवेदी की रचना जाननेवाले, क्रम तथा शिक्षा में कुशल, युक्ति, मर्यादा और अपने अनुभव में प्रवीण, विरुद्ध वाक्यों की एकवाक्यता करने में चतुर, अन्य वेद शाखाओं की गुणविधि का एक शाखा में उपसंहार करने में कुशल, उपासना के काम में चतुर, मोक्षधर्म में तत्पर, अपने सिद्धान्त की व्यवस्था करने में चतुर

स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥४४॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥४५॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥४६॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान्नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ॥४७॥
आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागतः ॥४८॥
देवतायतनानाञ्च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥४९॥

तथा उसमें शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हुए सिद्धान्त स्थापन-पूर्वक परमार्थ को जाननेवाले, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कल्प इन वेद के छः अङ्गों में परम प्रवीण, पदार्थ, कर्म और गुणों को जाननेवाले, स्वर्गादि फल तथा उसके यज्ञादि साधनों के ज्ञाता, पक्षी, वानर आदि प्राणियों की बोली की तरह मूर्खों की समझ में न आनेवाले वेदमन्त्रों के अर्थज्ञाता, शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले और ब्राह्मण भाग के पूर्णज्ञानी अनेकों ऋषि मुनियों की कण्ठ-ध्वनि वहाँ सुनाई दे रही थी। कहीं कहीं सांसारिक विषयों के समर्थक अपनी विद्याओं को पढ़ रहे थे। इन सब की ध्वनि से वह आश्रम चारों ओर से गूँज रहा था ॥ ४२–४६ ॥

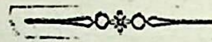
शत्रुविजयी राजा ने वहाँ स्थान स्थान पर ब्राह्मणों को उत्तम व्रत करते, यम नियम पालते और जप तथा होम में तत्पर होते हुए देखा ॥ ४७ ॥

वहाँ अनेकों ऋषि मनोहर मुख्य मुख्य आसनों को लगाये हुए थे, उनको देखकर राजा को अचम्भा हुआ ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण मन्दिरों में विराजमान देवताओं की पूजा कर रहे थे, उन्हें देखकर मानो ब्रह्मलोक में आ पहुँचा हो इस प्रकार वह राजा अपने को मानने लगा ॥ ४९ ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम्।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोबलगुणैर्युतम् ॥५०॥
स काश्यपस्यायतनं महाव्रतै-
र्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥५१॥

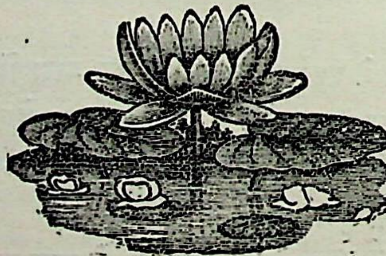
इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥



वह राजा कण्व ऋषि के तपोबल से रक्षा किये हुए और तपोवन के गुणों से भरपूर उस आश्रम को देखता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ ॥ ५० ॥

चान्द्रायण आदि महान् व्रत करनेवाले तपोधन ऋषि वहाँ चारों ओर निवास कर रहे थे। कण्व ऋषि के उस एकान्त मनोहर और अत्यन्त उत्तम आश्रम में शत्रुनाशक राजा दुष्यन्त मन्त्रियों और पुरोहित के सहित जा पहुँचा ॥ ५१ ॥

सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥



इकहत्तरवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच ।

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं शंसितव्रतम् ॥ १ ॥
सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं सन्नादयन्निव ॥ २ ॥
श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाश्रमात्तस्मात्तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥
सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतन्त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥
आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलञ्च नराधिपम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—महाबाहु दुष्यन्त अपने साथ आये हुए मन्त्रियों को आश्रम के द्वार पर छोड़कर अकेला ही भीतर गया, परन्तु उस ने उत्तम व्रत-वाले कण्व ऋषि को वहाँ नहीं देखा ॥ १ ॥

ऋषि के न मिलने से उसे आश्रम सूना मालूम हुआ, इस कारण वन को प्रतिध्वनित सा करते हुए राजा ने ऊँचे स्वर से कहा—अरे ! यहाँ कौन है ? ॥ २ ॥

राजा के शब्दों को सुनकर मूर्तिमती लक्ष्मी के समान रूपवती होकर भी तपस्वी का वेष धारण करनेवाली एक कन्या उस पर्णकुटी में से निकलकर बाहर आई ॥ ३ ॥

राजा दुष्यन्त को देखकर उस सुनयनी कन्या ने 'आपका स्वागत है' ऐसा कहकर तुरंत राजा का सत्कार किया ॥ ४ ॥

उसने राजा को अर्घ्य और पाद्य देकर बैठने को आसन दिया और राजा से आरोग्यतासहित कुशल समाचार पूछा ॥ ५ ॥

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किङ्कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥
तामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत् प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥

शकुन्तलोवाच ।

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच ।

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥१०॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ॥११॥

विधिपूर्वक सत्कार करके तथा राज्य आदि का कुशल समाचार पूछने के अनन्तर उस कन्या ने कुछ मुसकराते हुए कहा कि कहिये क्या आज्ञा है ? ॥ ६ ॥

विधिपूर्वक पूजा सत्कार पाकर राजा उस मधुरभाषिणी और सुन्दर अङ्गवाली कन्या से कहने लगा कि हे भद्रे ! महाभाग कण्व ऋषि के दर्शन और सेवा करने के लिये मैं यहाँ आया हूँ, हे कल्याणि ! वे भगवान् इस समय कहाँ गए हैं यह मुझे बता ॥ ७-८ ॥

शकुन्तला ने उत्तर दिया—मेरे पिता भगवान् कण्व फल लेने के लिये आश्रम से बाहर गए हैं, आप मुहूर्त्त भर राह देखिये और आते ही उनके दर्शन कीजियेगा ॥ ९ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—ऋषि के न मिलने पर उस कन्या की ऐसी बातचीत सुनकर तथा सुन्दर गठन, चारु हास्य, सुन्दर शरीर, तप और दम से शोभायमान उस रूपवती कन्या को देखकर राजा काम भाव से कहने लगा— ॥ १०-११ ॥

सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवं रूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥१२॥
दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥१३॥
एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥१४॥
कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥१५॥

दुष्यन्त उवाच ।

ऊर्ध्वरेता महाभागो भगवान् लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद्धर्मोऽपि न चलेच्छंसितव्रतः ॥१६॥
कथं त्वं तस्य दुहिता संमता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ॥१७॥

हे सुन्दरी ! तू कौन है ? वन में क्यों आई है, और हे शोभने ! ऐसे रूप-गुणवाली तू यहाँ किस लिये रहती है ॥ १२ ॥

हे शुभे ! तूने दर्शन से ही मेरे मन को हर लिया है, इस कारण हे शोभने ! तू कौन है यह मैं जानना चाहता हूँ, मुझे बता ॥ १३ ॥

इस प्रकार पूछने पर वह कन्या हँसती हुई मधुर वाणी में राजा से कहने लगी— ॥ १४ ॥

हे दुष्यन्त । धीर, तपस्वी, धर्मज्ञ और महात्मा भगवान् कण्व की मैं पुत्री हूँ ॥ १५ ॥

दुष्यन्त ने कहा कि हे महाभागे ! सब लोकों में पूजित भगवान् कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, आचरण में धर्म कदाचित् चलायमान हो जाय, परन्तु अखण्ड व्रतधारी महात्मा कण्व कभी चलायमान नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

हे सुरूप अङ्गवाली ! तू उनकी पुत्री किस प्रकार हुई, इस बात का मुझे बड़ा सन्देह है, वह तुझे दूर करना चाहिये ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच ।

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत्पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥१८॥
ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥१९॥

कण्व उवाच ।

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत्तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥२०॥
तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरन्दरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥२१॥
गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२२॥

शकुन्तला ने कहा—हे राजन् ! मुझे जिस प्रकार इस इतिहास का उपदेश प्राप्त हुआ, मेरा जन्म जिस प्रकार हुआ, मैं इन महात्मा की पुत्री जिस प्रकार हुई, वह सब मैं यथावत् सुनाती हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

एक समय कोई महात्मा ऋषि आश्रम में आये और उन्होंने मेरे जन्म की बात पूछी, उस समय भगवान् कण्व ने उनसे जो कुछ कहा था, वह मैं कहती हूँ, हे राजन् ! सुनो ॥ १९ ॥

कण्व ने ऋषि से कहा—एक समय विश्वामित्र ऋषि बड़ा भारी तप कर रहे थे, इन्होंने देवगणों के ईश्वर इन्द्र को अपने तप से बहुत ही सन्ताप दिया ॥ २० ॥

तब इन्द्र ने भयभीत हो यह सोचकर कि विश्वामित्र अपने तप से मुझे इन्द्रासन से भ्रष्ट कर देंगे, मेनका नाम की एक अप्सरा को अपने पास बुलाकर कहा—॥ २१ ॥

हे मेनका ! तू अप्सराओं में रहनेवाले दिव्य गुणों में सबसे बढ़कर है, हे कल्याणि ! तू मेरा कल्याण कर और मैं तुझसे जो कुछ कहता हूँ उसको सुन ॥ २२ ॥

असावादित्यसङ्काशो विश्वामित्रो महातपाः ।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥२३॥
मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे ।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्त्तते ॥२४॥
स मां न च्यावयेत् स्थानात्तं वै गत्वा प्रलोभय ।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥२५॥
रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषितैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्त्तय ॥२६॥

मेनकोवाच ।

महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥२७॥
तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥२८॥

आदित्य के समान तेजस्वी और महातपस्वी ये विश्वामित्र मुनि घोर तप करने को बैठे हैं, इस कारण मेरा मन काँपता है ॥ २३ ॥

हे मेनका ! यह तेरा ही काम है, हे सुमध्यमे ! किसी से न दबनेवाले ये विश्वामित्र मन को वश में रखकर बड़ा उग्र तप करने को बैठे हैं, ये मुझे अपने पद से चलायमान न करें, इसके लिये तू जा और उनको लुभाकर तप में विघ्न डाल दे, जिससे मैं बाधारहित हो जाऊँ ॥ २४-२५ ॥

हे सुन्दरी ! रूप, यौवन, मधुरता, हाव भाव और हास्य के वचन आदि से लोभित करके उनको तू तप से भ्रष्ट कर दे ॥ २६ ॥

मेनका ने कहा—हे भगवन् ! वे ऋषि बड़े तेजस्वी तथा तपस्वी हैं और महाक्रोधी भी हैं, यह आपको विदित है ही ॥ २७ ॥

उन महात्मा के तेज, तप और कोपसे आप भी घबड़ा रहे हैं, फिर मैं कैसे नहीं डरूँ ? ॥ २८ ॥

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात् ॥२६॥
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥३०॥
बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥३१॥
अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥३२॥
मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।
त्वञ्च सोमं भयाद्यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥३३॥
चकारान्यञ्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥३४॥

ये वही ऋषि हैं जिन्होंने महात्मा वशिष्ठजी से उनके पुत्रों का असमय में वियोग कराया था, ये वही ऋषि हैं जो पहले क्षत्रिय थे परन्तु अपने तपोबल से इस समय ब्राह्मण हो गए हैं ॥ २६ ॥

ये वही ऋषि हैं जिन्होंने अपने नहाने धोने के लिये बहुत से जलवाली एक अगाध नदी को उत्पन्न किया था, वही यह नदी है जिसको लोग आजकल कौशिकी नाम से पुकारते हैं ॥ ३० ॥

यही विश्वामित्र हैं जिनकी स्त्री का पोषण दुर्भिक्ष के समय में पिता के शाप से व्याध बने हुए मतङ्ग राजर्षि ने किया था ॥ ३१ ॥

ये वही ऋषि हैं जिन्होंने महाभयङ्कर दुष्काल पूरा होने के बाद अपने आश्रम में कौशिकी नदी का नाम पारा रखा ॥ ३२ ॥

यही विश्वामित्र हैं जो अपने प्रति किये गए उपकार के बदले में प्रसन्न होकर मतङ्ग के यज्ञ में पुरोहित हुए थे और उसी यज्ञ में आप भी उनके भय से सोम का पान करने गए थे ॥ ३३ ॥

यही विश्वामित्र हैं जिन्होंने क्रुद्ध होकर दूसरी सृष्टि और श्रवण से आदि

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे ।
यथासौ न दहेत् क्रुद्धस्तथाज्ञापय मां विभो ॥३५॥
तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद्धरणीं तथा ।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्त्तयेद्दिशः ॥३६॥
तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम् ।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ॥३७॥
हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम् ।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठं कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥३८॥
यमश्च सोमश्च महर्षयश्च साध्या विश्वे बालखिल्याश्च सर्वे ।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्तस्मात्कस्मान्मादृशी नोद्विजेत ॥३९॥

लेकर दूसरे नक्षत्रों की रचना करके अनेकों नक्षत्रलोक उत्पन्न किये थे। यही वे ऋषि हैं जिन्होंने गुरु के शाप से स्वर्ग में जाने से रुके हुए राजा त्रिशङ्कु को शरण दी थी ॥ ३४ ॥

जिनके ऐसे कर्म हैं उन मुनि के पास जाते हुए मुझे बड़ा ही डर लगता है, इस लिये हे विभो ! आप मुझे ऐसी युक्ति बताओ, जिससे मैं उनके क्रोध से भस्म होकर मर न जाऊँ ॥ ३५ ॥

ये मुनि तो अपने तेज से तीनों लोकों को भस्म कर सकते हैं, चाहें तो एक पग से पृथ्वी भर को कँपा सकते हैं, मेरु पर्वत को भी पृथ्वी से चाहे जहाँ फेंक सकते हैं और तुरन्त दसों दिशाओं में उलट फेर कर सकते हैं ॥ ३६ ॥

ऐसे तपोमग्न, अग्नि के समान जाज्वल्यमान और जितेन्द्रिय मुनि को मुझ सरीखी स्त्री स्पर्श भी कैसे कर सकती है ? ॥ ३७ ॥

उनका मुख अग्नि के समान दमकता रहता है, दोनों नेत्रों के तारे सूर्य चन्द्रमा के समान हैं और जीभ काल के समान है। हे देवेन्द्र ! बताओ कि मुझ सरीखी स्त्री उनका स्पर्श भी किस प्रकार कर सकती है ? ॥ ३८ ॥

जिनके प्रभाव के सामने यम, सोम, महर्षि साध्य और बालखिल्य ऋषियों जैसे सब सिद्ध भी काँपते रह जाते हैं, उनके प्रभाव से मुझ सरीखी स्त्री क्यों नहीं घबरायेगी ? ॥ ३९ ॥

त्वयैवमुक्ता च कथं समीपमृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र ।
रक्षान्तु मे चिन्तय देवराज यथा त्वदर्थे रक्षिताहं चरेयम् ॥४०॥
कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव ।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये सहायभूतस्तु तव प्रसादात् ॥४१॥
वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्तस्मिन् काले तमृषिं लोभयन्त्याः ।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिंस्ततो ययौ साश्रमं कौशिकस्य ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

हे सुरराज ! तो भी आपकी आज्ञा से उन ऋषि के समीप जैसे बनेगा वैसे मैं जाऊँगी । परन्तु हे देवेश ! आप कोई ऐसी युक्ति बताइये, जिससे मैं सुरक्षित होकर आपका कार्य करने को वहाँ जाऊँ ॥ ४० ॥

हे देवेश ! मैं जब उन ऋषि के सामने जाकर क्रीड़ा करूँ, उस समय पवन मेरे वस्त्रों को यथेच्छ उड़ावे और कामदेव भी आपकी आज्ञा से मेरे काम में सहायता करे ॥ ४१ ॥

जब मैं उन ऋषि को लुभाऊँ उस समय शीतल मन्द सुगन्ध पवन भी वन में भली प्रकार चले । यह सुनकर इन्द्र ने स्वीकार किया कि ऐसा ही होगा । ऐसी सब व्यवस्था हो जाने पर मेनका विश्वामित्र ऋषि के आश्रम की ओर चल दी ॥ ४२ ॥

इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥

REGISTERED No. A 158



पुस्तक मिलने का पता—
गीताधर्मकार्यालय,
मिश्रपोखरा, बनारस ।

